मूल्य : आठ रुपया

पहली बार

मार्च, १९६०

प्रकाशक : यशोधर मोदी, मैनेजिंग डायरेक्टर,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, हीराबाग, बम्बई ४.
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी (बनारस) ५३५९–१५

# प्राक्कथन

'सन्देशरासक' अपभ्रंशका बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मैंने अपने प्रिय छात्र आयुष्मान् श्री विश्वनाथ त्रिपाठी (लेक्चरर, के. एम. कॉलेज, दिल्ली) के साथ इसका नये सिरेसे सम्पादन किया है। मुद्रित प्रतिके अतिरिक्त एक पूरी और एक अत्यधिक अपूर्ण प्रतिका भी सहारा लिया गया। जयपुरके आमेर जैन ग्रन्थ भाण्डारकी प्रति बहुत महत्त्वपूर्ण है। उक्त भाण्डारके श्री कासलीवालजीने बड़ी सहृदयताके साथ उक्त प्रति हमें सुलभ की। इसके लिए हम उनके हृदयसे आभारी हैं। दूसरी प्रति वस्तुतः एक पन्नामात्र है जो मेरे स्नेही मित्र डा० रामसुरेश त्रिपाठीजीके संग्रहमें मिली। यद्यपि यह अत्यन्त अपूर्ण प्रति कही जायगी, पर एक-दो पाठोंके निर्णयमें इसने बड़ी भारी सहायता दी है। हम त्रिपाठीजीके भी अनुगृहीत हैं। पाठ-संशोधनके सम्बन्धमें मैंने नागरीप्रचारिणी पत्रिकामें एक लेख-माला निकाली थी, जिसे भूमिका-रूपमें इस संस्करणमें जोड़ दिया है। पत्रिकाके सम्पादक महोदयने इसके लिए अनुमति देकर हमें अनुगृहीत किया है। मूलका हिन्दी अनुवाद आयुष्मान् विश्वनाथ त्रिपाठीने किया है। कई स्थानोंपर वे मेरे सुझाए पाठोंका उपयोग नहीं कर सके हैं। मैं उनके स्वतन्त्र विचारोंका आदर करता हूँ। स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमीने इसे प्रकाशित करनेमें बड़ा उत्साह दिखाया था। दुर्भाग्यवश वे इसे प्रकाशित न देख सके। उनके प्रति किन शब्दोंमें आभार प्रकट करूँ। आँखोंकी बीमारीके कारण प्रूफ देखनेमें बाधा भी पड़ी और प्रकाशनमें विलम्ब भी हुआ। सहृदय पाठक क्षमा करेंगे, यही भरोसा है।

महाशिवरात्रि, २०१६ — हजारीप्रसाद द्विवेदी

जिनकी प्रेरणासे यह पुस्तक लिखी गई

किन्तु

जो इसके प्रकाशित होनेके पूर्व ही

स्वर्गलोकमें बुला लिये गये

उन्हीं देवोपम स्वर्गीय

**पंडित नाथूरामजी प्रेमी**

की पवित्र स्मृतिमें

# विषय-सूची

# प्रस्तावना

संदेश-रासक मुनि जिनविजयजी द्वारा संपादित बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मुनिजीने अनेक दुर्लभ ग्रंथरत्नोंका उद्धार किया है। निस्संदेह सदेश-रासक इन दुर्लभ ग्रंथरत्नोंमें श्रेष्ठ स्थानका अधिकारी है। यह भाषा-काव्यके सर्वप्रथम मुसलमान लेखक अब्दुलरहमानकी बहुत ही सुंदर रचना है जो नाना दृष्टियों-से महत्त्वपूर्ण है। मुनिजीने जिन तीन प्रतियोंके आधारपर इसका संपादन किया है उनमें एक तो मूल रूपमें उपलब्ध संदेश-रासककी प्रति है, लेकिन शेष दोमें संस्कृत छाया—जैसे टिप्पनक या टीकाएँ हैं। इनमें साम्य अधिक है, वैषम्य कम। परंतु जो वैषम्य है वे काफी संकेतपूर्ण हैं। मुनिजीका अनुमान है कि लक्ष्मीचन्द्र कृत टिप्पनकरूपा व्याख्याको ही आधार मानकर किसी दूसरे पाठकने कुछ हेर-फेर कर 'अवचूरिका' लिख ली होगी। यह अनुमान दोनों टिप्पणियोंके मिलानेसे ठीक ही जान पड़ता है। लक्ष्मीचंद्रने अपने टिप्पनक-के अंतमें लिखा है कि मैंने इस ग्रंथकी कोई वृत्ति या टीका आँखसे देखी नहीं, सुगुरुके पास बैठकर इसका अध्ययन भी नहीं किया और न इस दुनिया-में ग्रंथकर्ताके मुखसे इसे सुनने-समझनेका अवसर ही पा सका। लेकिन गाहड़ क्षत्रियके मुखसे जैसी-कुछ इस पुस्तककी प्रवृत्ति ज्ञात हुई उसे मुझ मूढ़मति-ने (ज्यों-का-त्यों) लिख दिया। मैंने इसमें यदि कुछ गलत कहा हो, कोई पद या अर्थ अन्यथा लिख दिया हो तो मैं उसका दोषी नहीं हूँ। मैं इन बातोंको नहीं जानता, गाहड़ ही जानते हैं—

वृत्तिर्नास्य दृशा व्यलोकि सुगुरोः पार्श्वे न चाभाणि च  
नो कर्तुं (र्तुः) मुखतस्त्विदं भुवि मया चाश्रावि शास्त्रं क्वचित्।  
किन्तु क्षत्रियगाहडस्य मुखतो या या प्रवृत्तिः श्रुता  
सा सा ह्यत्र मया विमूढमतिना वार्ता निबद्धा ननु॥  
यदन्यथा मया प्रोक्तः कश्चिदर्थस्तथा पदम्।  
तदहं नैव जानामि तज्जानात्येव गाहडः॥

दूसरी टीका (जिसे 'अवचूरिका' कहा गया है) में इस प्रकारकी कोई बात नहीं कही गई है। स्पष्ट ही लक्ष्मीचंद्रने बड़ी ईमानदारीके साथ अपनी बात कही है, उसमें कदाचित् यह ध्वनि भी है कि लक्ष्मीचंद्रको स्वयं कहीं-कहीं

पाठ और अर्थके अन्यथा होनेकी आशंका थी और अपनेको उत्तरदायित्व-से मुक्त करनेके लिये उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अगर कहीं दोष है तो उसकी जिम्मेदारी गाहड़की है, उनकी नहीं। अवचूरिकाकारने अपनी बुद्धि-से उसका शोधन कर लिया था, इसलिये उन्हें ऐसा कुछ लिखना आवश्यक नहीं जान पड़ा। जो हो, ग्रंथके पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कई जगह टीकामें अर्थ ठीक नहीं समझा गया। कुछ स्थलोंको विद्वान् पाठकोंके विचा-रार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। परंतु यह कृतज्ञताके साथ प्रारंभ-में स्वीकार कर लेना चाहिए कि लक्ष्मीचंद्रकी टीका न होती और उसके आधार पर लिखी गई अवचूरिका न होती तो इस ग्रंथको समझनेमें बड़ी कठिनाई होती। इसलिये निबंध प्रारंभ करनेके पूर्व क्षत्रिय गाहड़, लक्ष्मीचंद्र और अव-चूरिकाके अज्ञात लेखकके प्रति श्रद्धापूर्वक प्रणति निवेदन कर देना आवश्यक कर्तव्य है।

इधर जयपुरके दिगंबर-जैन भाण्डारकी कृपासे हमें संदेश रासककी एक और दुर्लभ हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें भी एक टीका है जो बहुत-कुछ अवचूरिकासे मिलती-जुलती है। अन्तर बहुत थोड़े स्थलोंपर है। इस प्रतिके पाठ और उस पर दी हुई टीकामें कहीं-कहीं विचित्र अन्तर है। जान पड़ता है लेखकने पाठ किसी और प्रतिसे लिया है और टीका किसी और प्रतिसे। इस पुस्तकके आरंभका पन्ना नहीं है। आदिके खंडित होनेसे और अन्तमें कुछ उल्लेख न होनेसे यह पता नहीं चल सका कि टीकाका नाम क्या है और लेखक कौन है। अवचूरिकासे साम्य देखकर हमने इसका नाम अवचूरी दे दिया है और इस संस्करणके परिशिष्ट रूपमें उसे भी प्रकाशित कर दिया है। नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण पाठों और अर्थों पर विचार कर रहे हैं।

### १-१ जेणऽज्ज

दोनों ही टीकाकारोंने 'जेणऽज्ज' में 'अज्ज' का अर्थ शायद 'इत्यादि' समझा था, जो बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसको यदि 'आर्याः' (श्रेष्ठजनो) संबोधन मानकर अर्थ किया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। इसे बुधजन ('बुहयण') का विशेषण माना जा सकता है।

### १-१६ मणुजणंमि

टिप्पणककारने 'मणुजणंमि' का अर्थ किया है 'मनसि किमपि ज्ञात्वा' अर्थात् मनमें कुछ जानकर। अवचूरिकामें इसका अर्थ है : 'मनुष्यलोके'। ज्ञात होता है कि अवचूरिकाकारके संमुख 'मणुयजम्मि' पाठ रहा होगा। 'जम्म'

या जन्म शब्दका अर्थ उन्होंने 'लोक' कर लिया है। हम 'मणुयजम्मि' पाठ स्वीकार करना ज्यादा उचित समझते हैं। टिप्पणकारके संमुख शायद बी प्रतिका 'मणु मुणेवि किंचिय पयासियउ' पाठ ही था। ज्ञात होता है दोनों टीकाकारोंमेंसे किसीने 'मणुयजम्मि' पाठ नहीं देखा था।

१.४-४ 'आरद्द', 'अद्दहमाण', 'पच्चाएसि', 'मिच्छदेस'

ग्रंथकारने दो छंदोंमें इष्टदेवताको अर्थात् करतारको नमस्कार करनेके बाद अपना परिचय दिया है जो महत्त्वपूर्ण है। किंतु ये दो छंद आपात-दृष्टिसे कुछ शिथिल लगते हैं और टीकारकारोंने जो व्याख्या की है उसे प्रकट करनेमें समर्थ नहीं हैं। पहला छंद है—

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥

टिप्पनक में इसका अर्थ इस प्रकार है—'प्रतीच्यां पश्चिमदिशि प्रभूतः पूर्वप्रसिद्धो म्लेच्छनामा देशोऽस्ति। तत्र विषये आरद्दो देशीत्वात् तन्तुवायो मीरसेनाख्यः सम्भूतः उत्पन्नः।'

भाव यह कि पश्चिम दिशामें म्लेच्छ नामक देश है जो पूर्वमें बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ मीरसेन नामक जुलाहा (आरद्द) उत्पन्न हुआ। यहाँ 'आरद्द' शब्द बिलकुल नया है। मुझे अन्यत्र जुलाहा शब्दके अर्थमें यह शब्द नहीं मिला। देशी नाममालामें भी यह नहीं है। 'आरद्ध' शब्द अवश्य है—'आरद्धं च पबुड्ढे सयण्ह् गेहागएसुं च' अर्थात् 'आरद्ध' शब्द तीन अर्थोंमें व्यवहृत होता है—प्रवृद्ध, सतृष्ण और गृहमें आया हुआ। केवल 'लक्ष्यीचंद्र'के टिप्पनकके आधार पर ही 'आरद्द' शब्द 'देशी होनेके कारण' (देशीत्वात्) जुलाहा अर्थ में व्यवहृत माना जा सकता है। अवचूरिकामें इसका यही अर्थ स्वीकार कर लिया गया है। अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने अन्यत्र अपनेको 'कोलिय' या 'कोरी' कहा है (१-१९) इसलिये वे तंतुवाय थे, इसमें तो कोई संदेह नहीं पर 'आरद्द' शब्दका यह अर्थ अज्ञातपूर्व अवश्य है। किसी शब्दके अन्य ग्रंथोंमें न मिलनेमात्रसे उसके अर्थके विषयमें शंका उठाना उचित नहीं है। संभव है किसी अधिक जानकारको वह शब्द अन्यत्र मिल भी जाय परंतु मुझे दूसरी कठिनाई दिख रही है। 'आरद्दो मीरसेणस्स'का अर्थ 'आरद्दो मीरसेनाख्यः' नहीं हो सकता। 'मीरसेणस्स' षष्ठ्यन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीरसेनाख्यः' प्रथमान्त पदके रूपमें नहीं होनी चाहिये। प्रो० हरिवल्लभ भायाणीजी (जिन्होंने इस ग्रंथकी अत्यंत विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है) को भी यह बात खटकी है।

उन्होंने अपनी प्रस्तावनाके 'नोट्स' (पृ० ९५) में इंगित किया है कि वाक्य 'आरद्दो' तक समाप्त हो जाता है। 'मीरसेणस्स' का अन्वय अगले छंद (सं० ४) से होगा जो इस प्रकार है—

तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
अद्दहमाण पसिद्धो संनेहयरासयं रइयं।

भायाणीजीके मतसे 'मीरसेणस्स' 'तह' (तस्य) का विशेष्य है। यह व्याख्या कामचलाऊ है। एक तो संदेशरासकका लेखक इतना शिथिल वाक्य-विन्यास नहीं करता, दूसरे टीककारोंको यह बात सूझी नहीं। फिर प्रथम छंदमें 'मीरसेणस्स'के स्थानपर इस रासकका समर्थ लेखक आसानीसे कुछ ऐसा कर सकता था जो अर्थको पूरा भी कर देता और बंधको शिथिल भी नहीं होने देता। यहाँ कुछ-न-कुछ गूढ़ अर्थ अवश्य होना चाहिए।

संदेश-रासकका कवि श्लेष करनेके लिये महाप्राण वर्णोंके स्थानपर पूर्ववर्ती अल्पप्राण वर्णको रख देनेमें नहीं हिचकता। सिद्धासनका 'सिज्जासन' (शय्यासन और सिद्धासन [सिज्झासण] दोनों अर्थोंमें), नट्ट-बरह (नाट्य-वर्ह और नष्ट-विरहके अर्थमें श्लेष करनेके लिये)—जैसे प्रयोग बहुत हैं। यहाँ भी क्या कवि आरद्ध ( = गृह आगत ) और 'आरद्द' ( = तंतुवाय ) का श्लेष तो नहीं करना चाहता ? कम-से-कम आरद्दका 'गृह आगत' अर्थ करनेमें 'मीरसेणस्स'की संगति बैठ जाती है। 'आरद्द' शब्दका अर्थ तंतुवाय' न भी होता हो तो यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। 'मीरसेनके घर आया हुआ, ( विशेषण विच्छित्ति-वश 'जुलाहा' भी ) उसीका पुत्र कुल-कमल प्रसिद्ध अद्दहमाण हुआ।' यह अर्थ ठीक जमता है।

अस्तु। इस छंदमें भी 'पच्चाएसि'में 'पश्चात्' शब्दके नियमानुसार 'पच्छा' होना चाहिए था; परंतु कविने 'पच्चा' किया है। संदेश-रासकके विद्वान संपादकने अनुक्रमणिकामें इस दोषसे बचनेके लिये 'प्रत्यग्देश' शब्दसे इसे निष्पन्न किया है। संदेश-रासकमें जहाँ कहीं कविने इस प्रकारकी स्वतंत्रता बरती है वहीं वह श्लेष करना चाहता है, इसीसे 'पच्चाएसि' देखकर संदेह होता है कि यहाँ भी 'प्रत्यादेश' जैसे किसी अन्य शब्दकी वह ध्वनि करना चाहता है। परंतु इसके संबंधमें हम आगे विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि 'आरद्ध'का 'आरद्द' बनाना सोद्देश्य होना चाहिए।

कवि अब्दुल रहमान विनयी और मानी कवि था। जहाँ कहीं उसने विनय किया है वहीं प्रच्छन्न भावसे ऐसे अर्थोंका विनिवेश किया है जो उसके मानी रूपको व्यक्त कर देते हैं। साधारणतः श्लिष्ट शब्दकी योजना ही उसका कौशल है।

'अद्दहमाण'का अर्थ अब्दुल रहमान किया गया है। दोनों ही टीकाकार इस विषयमें एकमत हैं। मंगलाचरणको देखकर लगता है कि यह अर्थ ठीक ही है। किंतु यहाँ भी कविने शब्द-गठनमें कुछ स्वतंत्रताका परिचय दिया है। 'अब्दुल रहमान'में 'रहमान' मुख्य पद है। इसमेंसे आरंभिक अक्षरको छोड़ना उचित नहीं था। परंतु जब कविने ऐसा किया है तो मानना चाहिए कि उसे कोई और अर्थ अभिप्रेत है। वस्तुतः 'पाइय कव्वेपु गीयविषएसु अद्दहमाण पसिद्धः' अर्थात् प्रकृत काव्यमें और गीत विषयमें 'अद्दहमाण'—( रूपसे, और नामसे ) प्रसिद्ध अर्थ ही अभिप्रेत है। 'अद्दह' शब्द प्राकृतमें दो अर्थोंमें प्रसिद्ध है। एक तो खौलनेके अर्थमें ( तु०—हिंदी 'अदहन' = खौलता हुआ पानी ) और दूसरा 'रक्षित' या 'आहित' अर्थमें ( तुल०—अद्दहिय = आहित, विपाक श्रुत १-६ )। 'पाइयसद्दमहण्णव'में ये अंर्थ दिये हुए हैं। इस प्रकार 'अद्दहमाण' शब्दका अर्थ 'आहितयशाः' होगा अर्थात् जिसका मान या यश प्राकृत काव्योंमें और गीत विषयोंमें सुरक्षित है। इस प्रकार यहाँ निपुण कविने विशेपणविच्छित्तिके कौशलसे यह इंगित किया है कि वह यथार्थनामा है और उसका यश या मान प्राकृत काव्यों और गीत विषयोंमें सदाके लिये सुरक्षित रहनेवाला है। या फिर इसका अर्थ होगा 'ज्वलंत मानवाला'। दोनों ही अर्थोंमें विशेषण-विच्छित्तिवश कवि अपनेको गर्वपूर्वक यथार्थनामा कहना चाहता है।

इस प्रकार यदि 'आरद्द' और 'अद्दहमाण'के संबंधमें इस प्रकारकके इंगितका अनुमान ठीक हो तो 'पच्चाएसि' और 'मिच्छदेस' भी साभिप्राय होने चाहिये। पहले ही बताया गया है कि 'पच्चाएसि' ( सप्तमी और तृतीया ) में पश्चिम देशके साथ 'प्रत्यादेश' ( = निराकरण ) अर्थ अभिप्रेत हो सकता है। इसी प्रकार 'मिच्छ देस'से भी दो अर्थ अभिप्रेत जान पड़ते हैं—म्लेच्छ देश और मिथ्या देशना ( गलत धर्म या मिथ्या धार्मिक विश्वास )।

ऐसा जान पड़ता है कि मीरसेनने ही पूर्वधर्मका परित्याग करके मुसलमानी धर्मको स्वीकार किया था। मानों कवि अपने पिताको म्लेच्छ देशका निवासी कहनेके साथ ही यह इंगित करना चाहा है कि उसके पिताने जो मिथ्या देशना (धर्म) का प्रत्यादेश या त्याग किया उसीके पुण्यप्रतापसे (पच्चाएसि = प्रत्यादेशेन) यह कुलकमल कवि उसके घरमें उत्पन्न हुआ। यह 'मिच्छदेश' या मिथ्या देशना पूर्वके प्रदेशोंमें बहुत अधिक (प्रभूत) मात्रामें विद्यमान था। मीरसेन धर्मांतरित होनेके बाद पूर्वदेशमें आ गए थे, वहीं अब्दुल रहमानका जन्म हुआ (तह विपये सम्भूओ)।

अब्दुल रहमानमें भारतीय साहित्यके संस्कार पूरी मात्रामें विद्यमान थे।

रिजलीने बहुत पहिले बताया था कि जुलाहे पंजाबसे ढाका तक एक धनुषाकृति भूखण्डमें बसे हुए हैं और जान पड़ता है कि किसी समय वे सामूहिक रूपमें मुसलमान हुए थे। मैंने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तकमें (पृ० १२-१४) विस्तार-पूर्वक दिखाया है कि किन कारणोंसे ये जुलाहे धीरे-धीरे मुसलमान हुए और पीढ़ियों तक उनमें हिन्दू संस्कार बने रहे। कबीर आदि इसी प्रकारके सद्योधर्मान्तरित जातिमें उत्पन्न हुए थे। संदेश-रासकके ये दो छन्द मेरे अनुमानको पूर्णतः पुष्ट करते हैं। इस प्रकार समासोक्तिच्छलसे सन्देश-रासकके कुशल कविने एक दूसरा ही अर्थ ध्वनति किया है जो बिलकुल साफ है। यह दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा—पूर्व देशमें जो मिथ्या धर्म-विश्वास व्यापक रूपसे फैला हुआ है (उसके) प्रत्याख्यान (के पुण्य) से मीरसेनके घरमें उसी मिथ्या धर्मके देशमें एक 'आरद्द' (१. घर आया हुआ, पुत्र और २. जुलाहा) उत्पन्न हुआ, जो उसके कुलका कमल सिद्ध हुआ। (कमल जिस प्रकार कीचड़में उत्पन्न होता है उसी प्रकार छोटी जातिमें यह कवि उत्पन्न हुआ) जिसका मान प्राकृत काव्यमें और गीत विषयोंमें सदा सुरक्षित रहेगा और इसलिए उसका 'अद्दहमाण' नाम पूर्णतः उचित है।

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेके बाद मीरसेन जीविकाके लिये या किसी अन्य कारणसे पूर्वकी ओर बढ़ आये थे। वहीं अब्दुल रहमानका जन्म हुआ। 'तह विसए संभूओ' में यही ध्वनि है।

१-१४. 'वाड'

'वाडि विलग्गा' बाड़ेपर लगी हुई (तुंबिनी लता)। यहाँ दोनों ही व्याख्याओंमें 'वृत्ति-विलग्ना' लिखा हुआ है जो वस्तुतः 'वृति विलग्ना' होना चाहिये। संस्कृतमें 'वृति' बाड़को कहते हैं, जो काँटेदार झाड़ोंसे फुलवारी आदिकी रक्षाके लिये लगाई जाती है। मेघदूतके यक्षका माधवी-मण्डप इसी प्रकारके कुरवककी 'वृति' से आवेष्टित था (कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य); संभवतः लेखन-दोषसे 'वृत्ति' लिख गया है। संस्कृतके 'वाट' (घिरा हुआ स्थान) इसी शब्दसे बना हुआ बताया जाता है। (तुल०—वेश-वाट, श्मशान-वाट, गणिका-वाट)। किंतु 'वाट' शब्द स्वयं प्राकृतका जान पड़ता है और इसे वृति से स्वार्थक अण् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'वार्त' जैसे रूपांतर शब्दसे निष्पन्न माना जा सकता है।

१-१५. गहिल्ली, नवरंगचंगिमा

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंगचंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चेइ॥

अर्थात् यदि भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट भावों और छंदोंके अनुसार नवरंग-चंगिमा ( नूतनवर्णप्रधाना ? ) तरुणी नाचती है तो क्या गामगहिल्ली ताली बजाकर न नाचे ? कविने विनयवश अपनी कविताके औचित्यको बतानेके लिये ऐसे कई छंद लिखे हैं। उन दिनों रासक काव्योंमें इस प्रकार विनय और कवित्व-विषयक औचित्य दिखानेकी प्रथा थी। समसामयिक कवि चन्दबरदाईने भी इस प्रकारके अनेक छंद पृथ्वीराज रासोमें लिखे हैं। एकाध तो संदेशरासक के छंदोंसे बहुत मिलते-से हैं। चंदकी इसी भाव की गाथा इस प्रकार है—

सत्त खनं आवासं महिलानं मद सद नूपुरया।
सतफल बज्जुन पयसा पव्वरियं नैव चालंति।

अर्थात् सतखंडे महलोंमें मद-विह्वल नूपुरध्वनिके साथ यदि अभिजात तरुणियाँ नाचती हैं तो क्या पर्वतवासिनी स्त्रियाँ पैरोंमें घुँघची बजाकर भी न चलें ?

यहाँ विचारणीय शब्द है 'गहिल्ली' और 'नवरंग-चंगिमा'। टिप्पनकमें 'गाम गहिल्ली' का अर्थ दिया है 'ग्राम वधू' और अवचूरिकामें है 'ग्राम-ग्रथिला'। 'ग्रथिला' वस्तुतः 'गहिल्ली' ( हि० 'गहेलरी' तुल०—रहु-रहु मुगुध गहेलरी पेम न लाजूं मारि'—कबीर ) प्राकृत 'गहिल', सं० ग्रहिल ? ( ग्रह-गृहीत ) का स्त्रीलिंग रूप है और इसका अर्थ होता है पागल। पाइयसद्दमहण्णवमें बताया गया है कि श्राद्धप्रतिक्रमण-सूत्रवृत्तिमें इसी अर्थमें व्यवहृत हुआ है। यहाँ इस शब्दका प्रयोग मुग्ध जनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। कबीरदासके 'मुगुध-गलेहरी' में भी यही भाव है।

'नवरंग-चगिमा' का अर्थ 'नूतनवर्णप्रधाना नायिका' दिया है। अवचूरिकामें कोई अर्थ नहीं दिया गया। देशीनाममालामें 'चंग' शब्दका अर्थ चारु या सुंदर दिया हुआ है ( दे० ३-१ ) ढोलामारूरा दूहामें चंगी शब्दका प्रयोग सुंदरी अर्थमें पाया जाता है—

ऊतर आज स वज्जियउ सीय पड़ेसो पूर
दहसी गात निरंधणां धण चंगी घर दूर ॥२८८

विद्यापतिने कीर्तिलतामें चंगिम और चारु दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है, अर्थ वहाँ भी सुंदर या चोखा जान पड़ता है—

"हय लग्गिय चंगिम चारु कला
तरवारि तमक्किय बिज्जु झला," ( ४. २३० पंक्ति )

रंग शब्दका प्रयोग प्रेम, नाट्यशाला, नृत्य आदि अनेक अर्थोंमें होता है।

यहाँ प्रेम या राग अर्थ अपेक्षित जान पड़ता है। इस प्रकार 'नवरंग-चंगिमा' का अर्थ हुआ 'नवीन अनुरागसे मनोहर बनी हुई'।

१. १७-१८ चउमुहेण, तिहुयणि

प्रथम प्रक्रमका सत्रहवाँ छंद इस प्रकार है—

जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चउमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु॥

अर्थात् जिसके पास जितनी काव्यशक्ति हो उतनी निःसंकोच होकर प्रकट करनी चाहिए। यदि चउमुहने कविता लिखी तो बाकी कवि क्या कुछ कहें ही नहीं?

यहाँ 'चउमुह' शब्दका अर्थ दोनों टीकाकारोंने चतुर्मुख अर्थात् ब्रह्मा बताया है और चतुर्मुख-भणित-काव्य चारों वेदोंको बताया है। ऐसा लगता है कि कविने यहाँ अपभ्रंशके प्रसिद्ध कवि चउम्मुह या चउमुहकी ओर संकेत किया है। स्वयंभूने चउम्मुहको छड्डणी, द्विपदी और ध्रुवसे जटित पद्धड़िया बंधका दाता कहा है—

छड्डणि दुवइ धुवएँहि जडिय
चउमुहेण सम्मप्पिय पद्धडिय।

—रिट्ठनेमिचरिउ (पउमचरिउकी प्रस्तावना, पृ० १२५)

यहाँ अपभ्रंशके इस प्रसिद्धकविकी ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता।

चउमुहकी चर्चा करनेके बाद तुरंत ही तिहुयणका भी नाम कौशलपूर्वक ले लिया गया है—

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठ
तुम्हेहिँ वि जं न सुउ, वियडबंधु सुच्छंदु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ ललियहीणु मुक्खाह फरसउ।...

तिहुयणि = त्रिभुवने। टीकाकारोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—हे कवियो, त्रिभुवनमें ऐसा कुछ नहीं है जो तुमने न जाना हो और न सुना हो। फिर तुम्हारे विकट-बंध, सुदर छंदोंसे बने सरस काव्योंको सुनकर मेरे जैसे मूर्खोंके नीरस लालित्यहीन प्राकृतकाव्यको कौन सुनेगा? परंतु इस छंदको सुनकर त्रिभुवनका और स्वयंभूके 'विकट बंध-सुछंद-सरसता' के लिये प्रसिद्ध काव्यका स्मरण नहीं हो आता?[१] विकटबंध आदिके पूर्व 'युष्माकं' या 'युष्मत्कृतं' तो टीकाकारोंका

१. पउम चरिउके S नामक हस्तलेखमें स्वयंभूके संबंधमें एक छंद है। 'बिकट बंध सुछंद' आदि शब्दोंसे उसीका उल्लेख जान पड़ता है—

जबरदस्ती जोड़ा हुआ शब्द है। मूलपक्षमें त्रिभुवनमें प्राप्त विकट बंध, सुछंद और सरसकाव्यका ही उल्लेख है।

एक बात और। 'चउमुह' के साथ ही 'सेसा' का आना भी अर्थपूर्ण है। स्वयंभूका एक कीर्तिनाम 'शेष' पड़ गया था, ऐसा जान पड़ता है। या तो इसका कारण उनके सभी ग्रंथोंका 'शेष' रह जाना और उनकेपुत्र त्रिभुवन-द्वारा पूरा किया जाना हो या जैसा कि त्रिभुवनने स्वयं इंगित किया है, 'विजय सेसिय' विरुदके कारण हो। पउमचरिउकी ८३ वीं संधिकी पुष्पिकामें यह श्लोक है—

कइरायस्स विजयसेसियस्स वित्थारिओ जसो भुवणे।
तिहुयण-सयंभुणा पोमचरियं सेसेण णिस्सेसो॥

इसमें 'बिजय-सेसिय' विरुद तो है ही 'सेस' शब्दका इतना प्रयोग है कि यह अनुमान पुष्ट होता है कि लोक में स्वयंभू 'सेस' नाम से परिचित थे। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ 'सेस' नाममें कवि इस तथ्यकी ओर इंगित करना चाहता है कि 'चउमुह' ने कविता की तो क्या 'सेस' न करें? यहाँ 'सेस' का अर्थ बाकी है और इंगितसे यह भी कहा गया है कि 'शेष' (=स्वयंभू) कोई मामूली कवि नहीं थे।

फिर एक बात और कही जा सकती है। संदेश रासकका लेखक कहता है कि 'त्रिभुवनमें ऐसा कुछ नहीं है जो तुमने न देखा हो' और फिर आगे कहता है 'तुमने न सुना हो' ऐसा 'विकट बंध सुछंद सरस' (काव्य)। मेरा अनुमान है कि विकटबंध आदि विशेषण स्वयंभूके काव्यके लिये ही व्यवहृत हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि त्रिभुवन, अब्दुल रहमानके थोड़े ही पूर्ववर्ती थे या समसामयिक थे, और स्वयंभू अधिक पूर्ववर्ती। इसीलिये उन्होंने त्रिभुवनके लिये तो 'दिट्ठ' (देखा है) का प्रयोग किया है और स्वयंभूके काव्यके लिये 'सुअ' (=सुना हुआ) कहा है। ये बातें बहुत क्षीण प्रमाणपर आधारित हैं पर मेरा विश्वास है कि ज्यादा छानबीन करनेपर इस बातपर ज्यादा विश्वासयोग्य सामग्री प्राप्त होगी और अब्दुल रहमानके काल-निर्णयकी कुंजी हाथ लगेगी। यदि त्रिभुवनका समय १० वीं शतीका उत्तरार्द्ध हो, तो अब्दुल रहमानका समय ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध होना चाहिए। वर्तमान प्रसंगमें इससे अधिक कहना संभव नहीं है।

१–१८ पत्तेहि, आसासिज्जइ, सइवत्ती, छेयरिहिं।

---

सुच्छंदवियडदाढ़ो छन्दोऽलंकारणहरदुप्पिच्छो। वाभरणकेसराड्ढो सयम्भु पञ्चाणणो जयउ। स्वयंभूका यह छंद भी स्मरणीय है—दीहरसमासणालो सद्दलं अत्थकेसराधविधं। बुधमहुवरपीयरसो सयंभुकव्वुपलं जयउ। (प० च० १।२)।

ऊपर १८ वें पद्यके तीन चरण दिये हैं। यह रड्डा छंदमें लिखा गया है। शेष दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

तो दुग्गच्चिय छेयरिहिं पत्तेहिं अलहंतेहिं।
आसासिज्जइ कह कह वि सइवत्ती-रसिएहिं॥

दोनों टीकाकारोंने इसका अर्थ इस प्रकार समझा है—'फिर भी दारिद्र्य-प्राप्त छेक (सहृदय) लोग जिस प्रकार पर्वतादि प्रदेशमें बहुमूल्य होनेके कारण पान नहीं पा-सकते, किसी-किसी प्रकार शतपत्रिकाका आस्वादन कर लेते हैं; उसी प्रकार कुछ लोग मेरा काव्य भी पढ़ लेंगे।

यहाँ विचार्य यह है कि 'आसासिज्जइ' का अर्थ 'आस्वादन' कैसे होगा। 'आश्वस्यते' हो सकता है। वस्तुतः पूरे ग्रंथमें कई स्थानपर 'आसासि' का प्रयोग आश्वस्त होनेके अर्थमें ही हुआ है (तुल०—पहिउ भणइ थिरु होहि धीरु आससि खणु, २–९८ इत्यादि)।

मुझे लगता है कि पूरे पद्यका अर्थ दूसरे ढंगसे करना होगा। टीकाकारोंका अर्थ कुछ जँचता नहीं। कितना भी दरिद्र सहृदय हो, पानके बदले शतपत्रिका चबाने लगेगा, यह बात जमती नहीं। फिर 'आसासिज्जइ' शब्द भी इस अर्थको स्वीकार करने नहीं देता। मेरा सुझाव यह है—

'दुग्गच्चिय' के स्थान पर 'ए' प्रति का 'दोग्गच्चिय' पाठ अधिक उचित है। दुर्गति शब्दसे सिद्ध करनेपर 'च्च' की संगति नहीं बैठेगी परन्तु 'दौर्गत्य' से 'दोगच्च' आसानीसे सध जाएगा। वस्तुतः प्राकृतमें 'दोगच्च' शब्दका प्रयोग दरिद्रता और निर्धनताके अर्थमें हुआ भी है (मिलाइए—सुपासनाह चरिय, २३०, पाइय सद्द महण्णवमें उद्धृत) छेअर भी प्राकृतके छेआरिय (=छेका-चार्य=शिल्पाचार्य) का घिसा रूप जान पड़ता है। 'पत्त' शब्दको 'पत्र' का रूप माननेसे ही यह गड़बड़ी हुई है। पत्रका अर्थ पत्ता तो होता है, पर पानके रूढ़ अर्थमें 'पर्ण' शब्दके प्राकृत रूप 'पण्ण' या 'पान' का ही व्यवहार होता है। संभवतः 'पत्र' शब्दसे 'पान' का अर्थ ठीक-ठीक निकलता न देखकर ही 'ए' प्रतिके लेखकने 'पत्निहि' पाठ बदल दिया है जो संभवतः गलतीसे लेखकने 'पुत्निहि' लिख दिया है। पाद टिप्पणीमें 'पुत्निहि' छपा है। 'पत्त' शब्द ही कवि-का अभिप्रेत है। किंतु 'पत्र' से बना हुआ नहीं, 'पात्र' से बना हुआ। 'पत्त' का संस्कृत रूप 'पात्र' कष्ट-कल्पित नहीं है, प्राकृत ग्रंथोंमें उपलब्ध है। 'सइवत्ती' शब्द भी संस्कृत 'शतपत्रिका' (=कमलिनी) का रूप है। इस प्रकार इस छंदका भावार्थ निम्नलिखित होगा—

"तो भी 'दारिद्रय-ग्रस्त' सहृदय जन ( जिस प्रकार ) पात्र न मिलनेसे शतपत्री ( = कमलिनी ) पत्रोंके रसिक होकर भी आश्वस्त हो लेते हैं। उसी प्रकार मेरे इस मामूली काव्यको भी कभी-कभी सहृदय लोग पढ़ लिया करेंगे, ( इसी आशासे मैं काव्य लिख रहा हूँ।" ) इसमें अपने काव्यको जड़ धातु-पात्रकी अपेक्षा कोमल और जीवंत कमल-पत्र कहकर कविने कौशलसे उसकी सप्राणता और कोमलताकी ओर इंगित भी किया है। विनयके आवरणमें इस प्रकार मान प्रकट करनेवाले कवि कम मिलेंगे।

**१-२२ मयणमणह्**

दोनों टीकाकारोंने इसका अर्थ किया है 'मदनमनस्कानां' किंतु 'सी' प्रतिमें पाठ मिलता है 'मयणमहप्पहदीवयरो' इसका अर्थ होगा 'मदनके माहात्म्यको प्रकाशित करनेवाला'। ध्यान देनेकी बात है कि 'कामियमणहरु' अर्थात् 'कामियोंके लिये मनोहर' पहले ही कह दिया गया है, अतएव फिरसे 'मदन-मनस्कानां' एक प्रकारसे पुनरावृत्ति होगी। इस दृष्टिसे 'मयणमहप्पहदीवयरो' अधिक उचित होगा।

**२-२४ पहु णिहइ, पउहर ( पयहर ? ), दीहर ( दयहर ? )**

द्वितीय प्रक्रमके प्रारंभमें काव्यकी नायिकाका वर्णन इस प्रकार शुरू होता है—

**विजयनयरहु कावि वररमणि।**
**उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्क धयरट्ठपउहर।**

टीकाकारोंका कहना है कि विजयनगर (विक्रमपुर) की कोई वर-रमणी थी जो उत्तंग-स्थिर-स्थूल-स्तना, भ्रमरी (बर्र, भिड़) के मध्यभागके समान कटिवाली और धृतराष्ट्र या हंसके समान गति (पदधरा) वाली थी। विरहिणी होनेके कारण उसका मुखमंडल दीन हो गया था, (नयनोंसे) दीर्घतर जलप्रवाह बह रहा था और प्रभु (पति) जो परदेश गया हुआ था उसे देख रही थी। [परदेश गतं प्रभुं पश्यति—अवचूरिका, परदेश गतं पतिं पश्यति—टिप्पनक]। 'पहु' = प्रभु ठीक है, 'निहइ' का अर्थ देखती है कदाचित् ठीक ही है, पर अर्थ कुछ जमा नहीं। परदेश-गत पतिको विरहिणी देखती है, यह अर्थ कुछ कमजोर है। मुझे लगता है कि यहाँ पहु = प्रभु नहीं, पहु = पथ होना चाहिए। 'निअ' का अर्थ जोहना, देखना, प्राकृतमें मिलता है (हेम० ४-१८१)। हेमचंद्रने अपभ्रंशके एक दोहेमें 'मग्गु निअन्त' (= मार्ग देखती हुई, बाट जोहती हुई) प्रयोग दिखाया है—

**पहिया दिट्ठी गोरड़ी, दिट्ठी मग्गु निअन्त।**
**अंसूसासेहिँ कंचुआ, तिंतुव्वाण करन्त॥**

[ "पथिक, गोरी दिखी ?" "दिखी; मार्ग जोहती हुई और कंचुकोंको आँसू से भिगोकर उच्छ्वासोंसे सुखाती हुई ।" ]

'निअ' का अकार ही महाप्राणमें बदलकर 'ह' हो गया है। अपभ्रंशमें ऐसा प्रायः हो जाता है। 'मग्गु नियन्त' 'पहु निहइ' एक ही मुहाविरेके दो रूप हैं। इसलिये यहाँ अर्थ करना चाहिए 'पथ निहारती हुई खड़ी थी, बाट जोह रही थी' इत्यादि।

एक बात और खटकती है। संदेश रासकका निपुण कवि 'पउहर' का तुक दीहर' से नहीं मिला सकता। यहाँ कुछ पाठकी गड़बड़ी होनी चाहिए। उपलब्ध प्रतियोंसे इस सम्बन्धमें कोई सहायता नहीं मिलती। प्रथम तो 'पदधरा' के लिये 'पउहर' शब्द व्याकरणसंमत नहीं है; 'पयहर' होना चाहिए। 'पद' का 'पअ' और उसका प्रथमांत या द्वितीयांत रूप 'पउ' बन जाएगा, पर वह समासमें नहीं आएगा (समासमें तो पूर्व पद प्रातिपदिक रूपमें ही आना चाहिए)। इसलिये 'पयहर' पाठ होना चाहिए। संपादकने पाद टिप्पणीमें इस पाठका समर्थक कोई पाठांतर नहीं दिया, यह केवल व्याकरण-सम्मत रूप है और उचित है। 'पयहर' यदि पाठ हो, तो नीचेकी पंक्तिमें 'दयहर' सुकवि-जनोचित तुक होगा। मुझे लगता है कि टीकाकारोंने अर्थ न समझनेके कारण 'दीहर' बना दिया है। परंतु यदि पाठ-निर्णयमें केवल पोथियोंके अक्षरको ही प्रमाण न मानकर साहित्यिक चारुताको भी प्रमाण माना जाय तो 'दयहर' ही उचित पाठ होगा। 'पयहर' व्याकरणसंमत होनेसे उचित है, 'दयहर' काव्य-शास्त्र-संमत होनेसे। दीहरका तुक मद्धिम है और अर्थमें भी कोई चारुता नहीं आती। लक्ष्मीचंद्रने 'दीर्घभर' अर्थ किया है जिससे अनुमान होता है कि मूल शब्द चार अक्षरोंका रहा होगा। 'दय' शब्दके दो अर्थ हेमचन्द्रने देशी नाममालामें दिए हैं (५-३३) एक पानी (अंबु), दूसरा शोक। दयहरका अर्थ होगा दयधर (दुःख-व्यंजक), शोकको धारण करने वाला। यह जलप्रवाहका विशेषण है। इस प्रकार अर्थकी संगति बैठगी और काव्यमें भी चारुता आएगी।

'दय' शब्द संदेश राशकमें 'दया' के अर्थमेंभी आया है ( तुल०—पहिय जइ दय करहि-६८ ) इसलिये 'दयहर' का अर्थ दयनीय भी हो सकता है। दय-हर = दया का आहरण करनेवाला = दयनीय।

### २-२५ छिहंतु, छिवंतु, अद्धुड्डीणउ

इस प्रकार विलाप करती हुई उस मुग्धाने रास्तेपर जाते हुए एक पथिकको देखा जो पृथ्वी 'चलणों' से छिहता या 'छिवता' जा रहा था, अद्धुड्डीण था—

इम मुद्धह विलवंतियह, महि चलणेहि छिहंतु
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु ।

टीकाकारों ने 'चलणेहि छिहंतु' ( C प्रतिके आधार पर, छिवंतु ) का अर्थ किया है 'चलणाभ्यां क्रामन्' । 'चलणाभ्यां' में द्विवचन देखकर स्पष्ट ही उन्होंने 'चलण' का अर्थ चरण किया है । चरणके अर्थमें 'चलण' शब्दका प्रयोग प्राकृतमें भी हुआ है । ( सेतुबंध, ६-३ ) । किंतु 'क्रामन्' अर्थ चिंत्य है । हेमचंद्रके शब्दानुशासनमें ( ४-१८२ ) छिह् और छिव दोनों धातुओंको स्पर्शार्थक ( छूनेके अर्थमें प्रयुक्त ) बताया गया है । वस्तुतः 'छिव्' से ही हिंदीका ' छू' धातु निष्पन्न है । इसलिये दोनों पाठोंका अर्थ एक ही होगा—'पृथ्वीको चरणोंसे छूता हुआ' । भाव यहाँ यह है कि पथिक इतनी तेजीसे जा रहा रहा था कि धरती को पैरोंसे छू-छूकर निकल जाता हुआ दिखाई दे रहा था । अद्धुड्डीणउ' में भी इसी तेज गतिको बताया गया है—आधा उड़ा हुआ-सा । टिप्पणककारने अर्थ बताया है अर्द्धोद्विग्न ( = आधा उद्विग्न ) और अवचूरिकाकारने 'अध्वोद्विग्न' (=रास्ता चलनेसे उद्विग्न या थका हुआ-सा ) किंतु दोनों ही अर्थ प्रसंगके अनुकूल नहीं हैं । संदेश रासकमें उद्विग्न अर्थमें कई जगह 'उव्बिन्न' शब्द आया है, यथा—

झिज्जन्ती णिरु दीसहि उव्बिन्नियनयण । ६८
पढ़िय इह गाह मियनयणि उव्बिन्निया । ८५ इत्यादि ।

कोई कारण नहीं कि यहाँ उद्विग्न का 'उड्डीण' हो जाय । वस्तुतः इस प्रकार रूपांतर न तो व्याकरणसंमत है, न भाषाशास्त्र द्वारा अनुमोदित । इसलिये यहाँ अर्थ 'तेज जाता हुआ' (आधा उड़ा-उड़ा हुआ सा) ही होना चाहिए । 'पवहन्तु' में भी इसी तेजीकी ओर इंगित है । नायिका जब उसे कातर भावसे पुकारती हुई कहती है कि 'ठाहि ठाहि निमिसद्धु' (क्षणभरके लिये ठहर जाओ) तो वहाँ भी तेज चलनेकी ओर ही इंगित है ।

२–२८ संझसिय

पडिउट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर संझसिय ।

नायिका स्खलित होकर गिर गई, फिर उठी, सविलक्षा, सलज्जिरा, संझसिता ! टिप्पणकारने 'संझसिय' का अर्थ किया है, संभ्रमिता और अवचूरिकाकारने 'संझसिता' । देशी नाममाला (३-६१) में 'झसिय' के दो अर्थ बताए गए हैं, पर्य्यस्त और आक्रुष्ट । पर्यस्तका अर्थ है उत्क्षिप्त और आक्रुष्टका अर्थ है जिसपर

आक्रोश किया गया हो, झुँझलाया गया हो। यहाँ प्रथम अर्थ अपेक्षित जान पड़ता है।

२–३१ पहियणिहिं (पहियणिहि ?)

कुसुम सराउह रूवणिहि विहि णिम्मविय गरिट्ठ।
तं पिक्खेविणु पहियणिहिं गाहा भणिया अट्ठ॥

अर्थात् कुसुमशरायुध-रूपा, गरिष्ठा रूपनिधि इस नायिकाको विधिने बनाया है। उसे देखकर पथिकने आठ गाथाएँ पढ़ीं (पथिकेन अष्टौ गाथा भणिताः)। दोनों टीकाओंका वही भाव है। मगर पहियके साथ जो 'णिहि' है, वह छूट जाता है। B प्रतिके लेखकने 'णिहि' के स्थानपर 'जणि' बना लिया है। संभवतः इस 'निरर्थक' शब्दसे उन्हें सार्थक 'जणि' शब्दका उपयोग अच्छा जान पड़ा। परंतु पाठ 'णिहि' ही है। 'णिह' प्राकृत और अपभ्रंशमें 'रागयुक्त' या 'स्नेही' के अर्थमें प्रयुक्त होता है। आचारांग सूत्रमें इसका ऐसे अर्थमें प्रयोग हुआ है (पा० स० म०)। आगेकी आठ गाथाओं और प्रक्षिप्त माने गये दोहोंको पढ़कर स्पष्ट लगता है कि पथिक उस सुंदरीको देखकर रागाविष्ट हो गया था। पहियणि = रागाविष्ट पथिक द्वारा। यहाँ 'हि' में अनुस्वार नहीं होता तो भी तृतीयाके रूपमें कोई अंतर नहीं आता, और प्रथम दोहेके पादमें 'रूवणिहि' के साथ तृतीय पादके 'पहियणिहि' का तुक मिल जाता तो अधिक चमत्कारजनक होता। 'गरट्ठ' पाठ भी काव्यदृष्टिसे अधिक संगत होता।

२-३० अइकुडिलमाइ, पिहुणा

नायिकाके सुंदर अलकोंके बारेमें कविका कहना है—

**अइकुडिलमाइ पिहुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला।**
**किसणत्तणंमि अलया अलिउलमालव्व रेहंति॥ ३२॥**

टीकाकारोंके अर्थका भाव यह है—अति कुटिल मात्राके कारण प्रधान (अतिकुटिलमात्रया प्रधानाः), तरंगिणियोंके सलिलकल्लोलके समान वक्र, कालिमामें अलिकुलमालाके समान अलक शोभित हो रहे हैं।

यहाँ 'माइ'का अर्थ 'मात्रया' किया गया है और 'पिहुणा' का प्रधान। 'माइ' शब्द प्राकृतमें मात्राके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। किंतु देशीनाममाला (६. १२८) में एक 'माइ' शब्द आया है जिसका 'रोमश' अर्थ दिया हुआ है। यहाँ मात्रा अर्थ ही ठीक जान पड़ता है। इस 'माइ' शब्दका 'मात्रा' शब्दमें रूपांतर जरा भ्रामक है। वस्तुतः यह भाववाचक प्रत्ययके रूपमें व्यवहृत होता है। 'अइ-

कुडिलमाइ' का संस्कृत रूपांतर होगा—'अतिकुटिलत्वे'। इसी प्रकार ३३ वें छंदमें 'अकलंकमाइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिंबं' की छाया होगी—अकलङ्कत्वे वदनं वासरनाथस्य प्रतिबिम्बम्'।

तैंतीसवें पद्यमें भी 'माइ' शब्द मात्र अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। 'पिहुण' या 'पेहुण' का अर्थ होता है मयूरपिच्छ ( देशी ना० मा० ६. ५८ ), प्रधान नहीं ( पा० स० म० )। 'पिहुण' शब्द देखकर प्रधानकी याद भी नहीं आ सकती। कदाचित् 'प्रधान' अर्थ समझनेवाले टीकाकारोंके सामने 'पिहण' पाठ रहा हो और उसीसे उन्होंने 'प्रधान' शब्दका अनुमान कर लिया हो। 'पिहण' पाठ बहुत बुरा न होता। लेकिन फिलहाल उसे छोड़कर जो पाठ मिलता है उसी पर विचार किया जाय। विविह-तरंगिणिसु सलिलकल्लोला' का अर्थ होगा 'विविध तरंगिणियोंमें सालिल-कल्लोल ( की भाँति ); परंतु यह अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं है। 'ए' प्रतिमें 'विविहतरंगंसु' पाठ है जिसका अर्थ है 'विविध तरंगोंमें'। यह कुछ उत्तम लगता है। 'ए' प्रतिमें जो 'तरंगंसु' पाठ है वह वस्तुतः 'तरंगेसु' या 'तरंगेसुं' रहा होगा। नीचेवाली पंक्ति, ऊपरवाली पंक्तिका अर्थ निर्णय करनेमें सहायक है। 'कृष्णत्वमें अलिकुल मालाके समान अलक सुशोभित हो रहे हैं।' यहाँ 'के समान सुशोभित हो रहे हैं' का अन्वय ऊपरके उपमानोंके साथ भी है। 'कृष्णत्व' सामान्य धर्म है और 'अलिकुलमाला' उपमानपद है। 'अलक' उपमेय है। स्पष्ट है कि कवि सप्तमी विभक्तिमें सामान्य धर्म कहता है और प्रथमा बहु-वचनमें उपमान पद बताता है। नीचे ऐसा ही है। ऊपर भी ऐसा ही होना चाहिए। अब इस छंदमें यदि तीन उपमान और तीन सामान्य धर्म हों तो इस प्रकार होंगे—

| सामान्य धर्म— | उपमान— |
|---|---|
| १. अइकुडिलमाइ | पिहुणा |
| २. विविहतरंगिणिसु ( विविह तरंगंसु ) | सलिल-कल्लोला |
| ३. किसणत्तणम्मि | अलिउलमाला |

अब अर्थ इस प्रकार स्पष्ट हो गया—

१. अति कुटिल मात्रामें ( अत्यंत कुटिलत्वमें )—पिहुणपिच्छ की भाँति या पिशुन कुटिल जनकी भाँति*।

२. विविध तरंगितामें—सलिल कल्लोल ( पानीकी लहरों ) ( की भाँति )

* 'पिशुन' शब्दका भी प्राकृत रूप 'पिहुण' बन सकता है और कुटिलत्वमें पिशुन व्यक्तिके साथ उपमा देना भी संगत ही होगा।

३. कृष्णत्वमें—अलिकुलमाला ( की भाँति )

२. ३१ ( के बाद का पद ) विवि, वियड्ढपरि, वियड्ढलु

पहिउ भणइ विवि दोहा तसु सु वियड्ढपरि
इकु मणि विंभउ थियउ कि रूविणि पिक्खि करि ॥
किं नु पयावयइ अंधलउ अहवि वियड्ढलु आहि ।
जिणि एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पह पाहि ॥

टिप्पनकका भावार्थ है—पथिकने उसे देखकर दो दोहे ( दोधक द्वय ) कहे। ( पथिक दो दोहे कहता है। उस स्त्रीके संबंधमें ( तस्यां ) उस विदग्ध-परिणा ( पथिक ? ) द्वारा ? ( विदग्ध परिणा ? ) मनमें एक विस्मय उत्पन्न हुआ। उस रूपवतीको देखकर मैं ऐसा मानता हूँ—क्या प्रजापति अंधा है या षण्ढ ( नपुंसक ) है जिसने इस प्रकार की स्त्री का निर्माण करके अपने ही पास नहीं रख लिया ?

ये चार पंक्तियाँ दो प्रतियोंमें मिलती हैं। A प्रतिमें नहीं हैं और इसपर अवचूरिका टीका भी नहीं है। संपादकने इसे प्रक्षिप्तप्राय ही समझा है। जान पड़ता है कि टिप्पनकमें इसका भद्दा अर्थ देखकर अवचूरिकाकारने इसे छोड़ दिया।

टिप्पनकका अर्थ भ्रामक है और स्पष्ट भी नहीं है। पथिकने दो दोहे पढ़े। मगर इसमें दोहा एक ही है। प्रथम दो पंक्तियाँ रासक छंदकी हैं, दोधक या दोहेकी नहीं। इसलिये या तो एक दोहा छूट गया है या फिर 'विवि' शब्दका अर्थ 'दो' नहीं है, कुछ और अर्थ है। 'विदग्धपरिणा' अर्थ कुछ समझमें आने लायक नहीं है। 'सु' की कोई संगति नहीं बैठाई गई और 'तस' का अर्थ 'तस्यां' भी कष्टकल्पित है। 'विवि' का अर्थ दो उचित है, इसलिये एक दोहे की कमी ही यहाँ दिखाई दे रही है। यदि यह मान लिया जाय कि दोहा एक ही था तो 'विवि' शब्दका अर्थ कुछ और होना चाहिए। यहाँ इसके अर्थको स्पष्ट करनेके लिए कुछ सुझाव देनेका प्रयास किया जा रहा है, परंतु थोड़ी कष्टकल्पना इस प्रयासमें भी है।

प्रसंग यह है कि पथिकने सोचा था कि विधिने (प्रजापतिने) कुसुम-शरायुध-रूप लावण्यनिधि स्त्रीका निर्माण किया है उसके बाद ही उसके मुखसे आठ गाथाएँ निकलीं, जो ऊपर उद्धृत पद्योंके बाद हैं। उचित तो यही था कि वे आठ गाथाएँ शुरू हो जातीं; परन्तु कुछ समझकर और रूपिणीको देखकर ( रूविणि पिक्खि करि ) पथिकके मनमें ( मणि ) उस प्रजापतिके ( तस ) वियड्ढ

( वैदग्ध्य = वेयड्ढ—बियड्ढ ) पर विस्मय हुआ, इसलिये उसने एक दोहा ( दो नहीं ) ( गाथाओंके पढ़नेके पहले ही ) पढ़ दिया।

बि + वि > बीअ + वि > द्वितीयोऽपि = दूसरा भी

'बिवि' का अर्थ दो नहीं है, यह तो स्पष्ट है। दो दोहे पथिकने नहीं कहे। इसलिये इसका अर्थ 'दूसरा भी ( एक ) दोहा' ऐसा ही उचित है। इसके पूर्ववर्ती दोहेमें प्रथम पंक्तिमें बिधि या ब्रह्माकी अपूर्व निर्माणशक्तिकी चर्चा है और दूसरी पंक्तिमें पथिकका सुंदरीको देखकर रागयुक्त होकर आठ गाथाओंके पढ़नेकी बात है। इसके बाद ही कवि कहता है कि पथिकने उस ब्रह्माके ( जिसकी अद्‌भुत निर्माणशक्तिका वह कायल हो चुका था ) वैदग्ध्यपर भी एक दूसरा दोहा ( पहलेमें तो उसकी रचनाशक्तिकी प्रशंसा कर चुका था ) कहा, क्योंकि उसके मनमें इस अपूर्व सुन्दरीको देखकर ( जिस प्रकार ब्रह्माकी निर्माण-शक्तिपर आश्चर्य हुआ था उसी प्रकार उसके वैदग्ध्यपर भी ) विस्मय हुआ। यही अर्थ संगत जान पड़ता है। यद्यपि उपलब्ध प्रतियोंमें सिर्फ दोमें यह मिलता है तथापि इसे प्रक्षित नहीं कहा जा सकता क्योंकि टिप्पनककारको ये दोहे मिले थे। जान पड़ता है कि 'बिवि' का अर्थ उन्हें स्पष्ट नहीं हुआ और उन्होंने 'दो दोहे' अर्थ लिख दिया जिससे असंगति जान पड़ी और परवर्ती प्रतियोंके लेखकों ने इसे प्रक्षित समझ लिया। 'गाहा भणिया अट्ठ' के बाद तुरंत ही गाथाएँ शुरू होनी चाहिए, यह भी प्रक्षित समझने का एक हेतु था। परंतु मैंने जो अर्थ सुझाया है उससे इसकी संगति लग जाती है। प्रथम दोहेके दो विषय हैं—(१) ब्रह्माकी निर्माणचातुरी और (२) नायिकाका रूप। दोनों के बारे में पथिकका क्रमशः कहना असंगत नहीं है। फिर दोहा उसने मन ही मन पढ़ा, गाथा जोरसे। आगे है—'गाहा तं निसुणेविणु' ( उन गाथाओंको सुनकर )। अर्थात् नायिका ने केवल गाथाएँ ही सुनीं, दोहा नहीं।

२—४४, कयवरहिँ अहिणवियअइ

इसका अर्थ दोनों टीकाकारोंमें से किसीने ने नहीं किया है। जान पड़ता है कि यह शब्द 'कृतिकर' या 'कृतकर'से बना है जिसका अर्थ 'मायावी जादूगर' और खेल तमाशा दिखानेवाला होता है।

'अहिणवियअइ' स्वीकार करने से एक मात्रा अधिक हो जाती है। 'ज' प्रतिका 'अहिणवियइ' पाठ छंद और मात्रा दोनों दृष्टियोंसे उचित है। इसका अर्थ 'अभिनीत किया जा रहा है' होना चाहिए। टीकाकारोंने इसका अर्थ 'अभिनीयते' किया है। टिप्पणकारने इसका अर्थ 'अभिनूयते' किया है जो कदाचित् स्तुत्यर्थक 'अभि' पूर्वक 'नू' धातु से बना है। 'प्राकृत शब्द महार्णवमें' 'अहिनु' का अर्थ

स्तुति करना या 'प्रशंसना' दिया हुआ है। संभवतः यही अर्थ ध्यानमें रखकर अवचूरिकाके लेखकने 'उच्चर्यते' अर्थ किया है। लेकिन 'ज' प्रतिका 'अहिणवियइ' पाठ स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ बहुत स्पष्ट हो जायगा। 'रामायण-मभिनीयते' अर्थात् रामायणका अभिनय किया जा रहा है।

चाई = त्यागी। संभवतः इसीसे ढोंगी और फिर 'चोर' अर्थ विकसित हुए हैं।

२–४५ चल्लहि चल्ल करंतिय

आयण्णहिं ( आइन्निहिं ? ) सुसमत्थ पीन-उन्नय-थणिय
चल्लहि चल्ल करंतिय कत्थ वि णट्टणिय।

इसका अर्थ टिप्पनकमें इस प्रकार है—

**'कुत्रापि आकर्णने ( र्षणे ) समर्थाः पीनोन्नतस्तन्यः नर्तक्यः चल-चलेति शब्दं कुर्वन्त्यश्चलन्ति'** अर्थात् कहीं आकर्णन ( या आकर्षण ) में समर्थ पीनोन्नतस्तनी नर्तकियाँ 'चल चल' शब्द करती हुई चलती हैं। अवचूरिकाके लेखक ने भी प्रायः यही अर्थ किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से 'आकर्षणे समर्थाः' कहा है और 'चलन्ति' के स्थान पर 'परिभ्रमणं कुर्वन्ति' कहा है।

प्रथम तो 'आयण्णहिं' शब्द ही विचार्य है। इसका अर्थ 'आकर्षणे' कैसे हो सकता है ? 'आयण्णह' को आकर्षणका रूप मानना कष्टकल्पित है। 'फिर नर्त-कियाँ चल-चल करती हुई चल रही हैं या परिभ्रमण कर रही हैं।' यह कोई चमत्कार नहीं रखता। कोई मतलब भी नहीं निकलता कि क्यों विचारी नर्तकियाँ 'चल-चल' शब्द करती हुई चल रही हैं या परिभ्रमण कर रही हैं।

'आयण्णहिं' के स्थान पर 'बी' प्रति में 'आइन्निहिं' पाठ है जो पूर्ववर्ती पंक्तिके 'के आइन्निहिं वंसवीण काहल मुरउ' के प्रयोगके अनुकूल है और वही पाठ ठीक जान पड़ता है। 'आइन्निहिं' अर्थात् सुनते हैं। 'आयण्णहिं' का भी यही अर्थ है।

चल्ल, चहल्लणग, उच्चोल ( दे० ना० म० ) आदि शब्द देशी हैं और 'कटी-वस्त्र' लहंगा और नीवीके लिये प्रयुक्त होते हैं ( पा० स० म० )। 'चल्लहि' का अर्थ हुआ कटीवस्त्र या लहंगे को। फिर 'चल्लन' शब्द चंचल या चालितके अर्थमें प्रयुक्त होता है। इस प्रकार अंतिम पंक्तिका अर्थ हुआ—नटिनियां चंचल-चारीसे चल्लण ( = कटीवस्त्र ) को 'चल्ल' करती हुई ( जघनांशुकको चालित करती हुई )। 'सुसमत्थ' या 'सुसमर्थ' 'नट्टिनिय'का विशेषण नहीं जान पड़ता। यह सुननेवाले लोगोंका बोधक है और 'आयन्निहिं' क्रियाका कर्ता

है। पहले बताया गया है कि कुछ लोग वंशी, मुरज, बीन, काहल, ढोल, मृदंग, खोल आदि सुन रहे हैं। ये साधारण लोग हैं। फिर कहा है कि कहीं प्राकृत-वर्ण-निबद्ध ( टीकाओं में यह अर्थ है जो चिंत्य जान पड़ता है, शायद पयवण्णनिबद्ध= पदवर्ण-निबद्ध ) गान सुनाई दे रहा है, यह भी साधारण लोगोंका उपभोग्य है। परंतु जो लोग सुसमर्थ हैं, कुछ खर्च कर सकते हैं, वे नर्तकियों के गान सुनते हैं और नृत्यपरायण नर्तकियोंकी चंचल चारियों का ( जिसमें कटीवस्त्र चंचल हो उठता है ) रस लेते हैं।

२–४६ परिघोलिर

भमहिं कावि मयविंभल गुरुकरिवरगमणि।
अन्न रयणताडंकिहि परिघोलिरसवणि॥

'परिघोलिर'का अर्थ दोनों टीकाकारोंने 'प्रतिघोलन्त' किया है जो वस्तुतः इसी शब्दके संस्कृतीकरणका प्रयास है। वस्तुतः इसका अर्थ घूमता हुआ, चक्करदार फिरता हुआ है। 'गउडवहो'में यह मिलता है और 'घोलिर' शब्दका प्रयोग 'गाथा सप्तशती' (३. ३८) में भी मिलता है। 'समराइच्च कहा' (५-७८) में भी यह शब्द इसी अर्थमें है।

२–४७ णिवडब्भर ( उभरे हुए ? ), नियकोयणिहिं

अवर कहव णिवडब्भर घण तुंगत्थणिहिं
भरिण मज्झु णहु तुट्टइ ता विंभिउ मणिहिं।
कावि केण सम दर हसइ निय कोअणिहि।
( ०सम हसइ नियइ-मइ-कोइणिहि। )
छित्तुच्छताभिच्छ तिरच्छियलोयणिहि।

( और कहीं निपट उभरे हुए ( ? ) घन तुंग वक्षस्थलों वाली ( सुंदरी भ्रमण कर रही है ) भार से बीच हीमें नहीं टूट गई, यह आश्चर्य है ( लोगोंके मनोंमें )। कोई किसीके साथ हँसती है थोड़ा-थोड़ा ( ! ) अपने मद कौकुचोंसे ( मदकौकुचाभ्याम् ) ( ? ) उन तिरछी आँखों से जिनमें महीन काजल की रेखा लगी हुई है। )

'णिवडब्भर' का अर्थ एक टीकाकारने 'निविड़ोत्तर' किया है दूसरेने 'निविडोद्धुर'। परंतु दोनोंमें एक भी 'णिवडब्भर'के निकट नहीं जाता। यहाँ 'निवडब्भर' परवर्ती हिंदीके 'निपट' और 'ऊभर' 'ऊभट' ( उभरे हुए ) के संयुक्त शब्दका पूर्व रूप जान पड़ता है। 'निवडब्भर' अर्थात् निपट उभरे हुए।

तीसरे चरणका पाठ कुछ गड़बड़ मालूम पड़ता है। टीकाकारोंने 'मद-

कौकुच' जैसा एक विचित्र शब्द गढ़कर समझा तो दिया है पर समझमें नहीं आ रहा है। एक बात स्पष्ट है। 'मद'का वाचक 'मअ' या 'मय' शब्द या इनसे कोई मिलता-जुलता शब्द अवश्य टीकाकारों द्वारा स्वीकृत पाठमें था, जो संपादक द्वारा स्वीकृत पाठमें तो नहीं मिलता किंतु पाद-टिप्पणियोंके पाठांतरोंमें मिलता है। इस चरणमें छंद भी त्रुटित है। एक मात्रा कम है। निश्चय ही कुछ छूट गया है। असल में B प्रति का पाठ सब दृष्टियोंसे शुद्ध है—'नियइ मइ कोइणिहि'। C प्रतिमें 'दर' नहीं है। जान पड़ता है कि किसीने पूर्ववर्ती आदर्शोंमें हाशिए पर 'दर' लिख रखा था जो बादमें टीकाकारों द्वारा व्यवहृत प्रतिके मूल पाठमें जुड़ गया है। पाठ इस प्रकारका होना चाहिए—

कावि केण सम हसइ नियइमइकोइणिहि

यह छंदकी दृष्टिसे भी शुद्ध है। 'दर' बाहरसे आ गया है। अब विचार किया जाय कि इससे अर्थ स्पष्ट होता है या नहीं। टीकाओंको देखकर निश्चित ज्ञात होता है कि 'नियअमअकोउणिहिं'—जैसा पाठ उसके सामने था, जिसका अर्थ उन्होंने 'निजक-मद-कौकुचाभ्याम्' किया था। 'कौकुच' का अर्थ स्पष्ट नहीं है, संभवतः वह किसी देशी शब्दका संस्कृतीकृत रूप हो। १२३ वें पदमें 'मयना-कोइणिहिं' ( बंककडक्खिहि तिक्खहि मयनाकोयणिहिं ) आया है। वहाँ भी लोचनोंका ही विशेषण है। टिप्पनककार ने वहाँ 'मदेन कूणिताभ्यां और अव-चूरिकाकारने 'मदनाकोचनाभ्यां' अर्थ किया है। 'निजक-मद-आकोचन' का अर्थ हो सकता है 'अपने आपके मदसे ही आकुंचित होनेवाले ( नयनोंसे कोई तरुणी किसी पुरुषके साथ हँस रही है )। यह अर्थ भी असंगत नहीं है परंतु B प्रतिवाला पाठ अधिक ठीक जान पड़ता है और प्रसंगसे अनुकूल भी है। 'निअइ' ( सं०—निकृति ) कपटके अर्थमें प्राकृतमें प्रयुक्त होता है और 'मइ' मतिके अर्थमें ( पा० स० म० )। 'कोउणि' या 'कोइणि' 'कोपिनी' ( = कोप-वती ) है। नीचे वाला पद पूरा समस्त पद है। उसका अर्थ है—'महीन काजल-की रेखा आँजी हुई आँखोंसे'। अब नीचेके प्रस्तावित पाठवाले चरणोंका अर्थ होगा—'कोई ( तरुणी ) किसी व्यक्तिके साथ, उन कजरारी तिरछी आँखोंसे, जिनमें बनावटी कोपका भाव है, हँस-हँसकर बातें कर रही है।' अर्थकी दृष्टिसे भी यही पाठ ठीक जान पड़ता है।

२-४८ णं ससिसूर णिवेसिय

इसका अर्थ टीकाकारोंने 'मन्ये शशिसूर्यौ गंडयोर्निविष्टौ' किया है। 'रेहइ' को छोड़ ही दिया है। 'रेहइ' का अर्थ है राजते अर्थात् 'शोभित होता

है'। यह एकवचनकी क्रिया है, इसलिये इसका कर्ता भी एकवचनका होना चाहिये। वस्तुतः 'ससि' अलग है और प्रथमांत है। 'सूर' अलग है और द्वितीयान्त है। अर्थ हुआ मानों चंद्रमा स्वयं सूर्यको गंडतलमें निवेशित करके शोभित है। यहाँ चंद्रमा मुखका उपमान है और सूर्य विमल हँसीसे उद्भासित आभाका।

२-५० अइ मल्हिरउ चमक्कउ

रमणभार गुरुवियडउ का कट्ठिहि धरइ,
अइ मल्हिरउ चमक्कउ तुरियउ णहु सरइ।

टिप्पनकमें इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—'काचिद् रमणभारं गुरु विकटम् अति स्थूलत्वात्, कष्टेन बिभर्ति। तस्याश्चलन्त्या उपानहोश्चमचमच्छब्दोऽतिमन्थरस्तु ( स्त्व ) रितं न सरति।' अवचूरिकामें भी लगभग यही अर्थ है, केवल 'बिभर्ति' के आगे 'धारयति' लिखकर उसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। "मल्हण" शब्द देशीनाममाला ( ६।११९ ) में लीलाके अर्थमें आया है। 'मल्हिर' शब्द उसी शब्दसे बना जान पड़ता है। इस प्रकार 'अइ मल्हिरउ' का अर्थ हुआ "अत्यन्त लीलायित"।

'चमक्कउ' का अर्थ 'उपानहोश्चमचमच्छब्दो' अर्थात् जूतोंका चमचम शब्द भी कष्टकल्पित जान पड़ता है। वस्तुतः ५३ वें छंदमें 'चिक्कणरउ चंबाइहि' अर्थात् 'मृदु शब्दवाले चर्मपाद या जूतों' का वर्णन आया है। यहाँ उसका कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ कवि केवल 'गुरु विकट रमण भार' के कारण गतिमें आई हुई मंथरताका वर्णन करना चाहता है। वस्तुतः 'अइ मल्हिरउ' और 'चमक्कउ' दोनों ही रमणभारसे संबद्ध हैं। 'चमक्कउ' 'चमत्कृत' का अपभ्रंश रूप है, जिसका अर्थ है 'विस्मित', 'आश्चर्यान्वित' या विस्मय और आश्चर्य। प्राकृतमें 'चमक्क' शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, 'विस्मय' और 'आश्चर्य' के अर्थमें और 'विस्मित करना' और 'आश्चर्यान्वित करना' के अर्थमें। प्रथम अर्थमें 'धर्मरत्नसंग्रह' और 'उपदेश टीका' में इसका प्रयोग हुआ है और दूसरे अर्थमें 'विवेकमंजरी' और 'विक्रान्त कौरव' नामक ग्रंथोंमें। 'पाइअ सद्दमहण्णव' में ये दोनों अर्थ दिए हुए हैं।

इस प्रकार ऊपर लिखी पंक्तियोंका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"कोई रमणी 'गुरु विकट रमण भार' ( नितंब ) को अत्यंत कष्टसे धारण कर रही है, जिससे उसकी गतिमें विस्मयकारक या आश्चर्यजनक लीलायित गति आ गई है। वह शीघ्रतासे चल नहीं पाती।"

२–६४ ( के बाद ) पुरउ··· ··रवि

निम्नलिखित दो पंक्तियाँ केवल 'बी' प्रतिमें प्राप्य हैंः—

पुरउ सुवित्थरउ वन्नउ अद्धउ जइवि,
करि अज्जु गमणु महु भग्गा धू अत्थवइ रवि।

इन पंक्तियोंकी कोई टीका नहीं मिलती। परंतु इसमें कई शब्द ऐसे हैं जो विचारणीय हैं। ऊपरवाली पंक्तिमें दो मात्रा कम हैं। संभवतः 'जइवि' के बाद 'नवि' शब्द और था जो किसी कारणवश छूट गया है। 'नवि' का अर्थ है, नहीं (तुलनीय—ढोला मिलसि म बीसरसि नवि आविसि ना लेसि) इस शब्दके जोड़ देनेके बाद छंद और तुक ठीक बैठ जाते हैं और अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। भाव यह है कि पुरका मैंने सविस्तर वर्णन किया यद्यपि वह (वर्णन) आधा भी नहीं हुआ। (हे पथिक! आज गमन करके भागो नहीं, रवि निश्चित रूपसे अस्तमित हो रहा है।)

२-६५ इक्कणि

मुद्रित प्रतिमें जो पाठ स्वीकार किया गया है उसकी प्रथम दो पंक्तियोंमें छंदोभंग है। किंतु 'ज' प्रतिका पाठ इस दोषसे रहित है। अंतिम दो पंक्तियाँ मुद्रित प्रतिमें इस प्रकार हैं—

तिह हुंतउ हउं इक्किण लेहउपेसियउ.
खंभाइत्तइं वच्चउं पहुआएसियउ॥

दोनों टीकाएँ इसका अर्थ इस प्रकार देती हैं—

ततोऽहं लेखवाहक एकेन प्रेषितः स्तंभतीर्थे प्रभा (भ्वा) दिष्टो व्रजामि अर्थात् वहाँ मैं किसी एक व्यक्तिके द्वारा प्रेषित हुआ हूँ और स्वामीका आदेश पाकर स्तंभतीर्थको जा रहा हूँ। इसमें कई शब्द विचारणीय हैं। 'लेहउ' का अर्थ लेख या लेखक हो सकता है 'लेखवाहक' नहीं। फिर 'इक्किण' का अर्थ किया गया है किसी एकके द्वारा और 'पेसियउ' का अर्थ किया गया है प्रेषित'। 'किसी एकके द्वारा भेजा गया हूँ' और 'प्रभुसे आदिष्ट हूँ' ये दोनों बातें संगत नहीं हैं। प्रभुका जब आदेश है तब यही कहना चाहिए था कि प्रभुसे भेजा गया हूँ। फिर 'इक्किण' शब्द अनावश्यक हो जाता है। 'इक्किण' का कुछ और अर्थ होना चाहिए। आगे काव्यमें पथिक बार बार कहता है 'मुझे जल्दी है'। इसलिये वह जिस कामसे भेजा गया है वह ऐसा होना चाहिए कि उसके सिवा कोई दूसरा उसे न कर सके और जिसका किया जाना अत्यंत आवश्यक हो। टीकाओंसे ऐसा कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। 'बी' और 'ज' प्रतिमें 'इक्कणि' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। 'देशी नाममाला' में 'इक्कण' शब्दका अर्थ

किया गया है 'चोर' ( दे० ना० मा० १।१८० ) इस प्रकार 'इक्कणि' शब्दका अर्थ हुआ 'चोरीवाला' जो लेखका विशेषण हो सकता है। 'चौर्य' शब्दका प्रयोग अंग्रेजीके 'सीक्रेट'के अर्थमें संस्कृत साहित्यमें प्रयुक्त हुआ है। ( तु० चौर्य-रत, चौर्य प्रेम ) इसलिये 'इक्कणि लेह' का अर्थ हुआ गोपनीय लेख ( सीक्रेट डाक्यूमेंट )। ऐसे गोपनीय लेख सांकेतिक भाषामें लिखे जाते थे। ऊपरसे उनका अर्थ और होता था लेकिन जानकार व्यक्ति उनका ठीक अर्थ समझता था। 'प्राकृत' में 'उवेश' शब्द 'उपदेश' के अर्थमें आता है—सरहे कियउ उवेस ( सरहपा )। 'वी' प्रति और 'ज' प्रतिके पाठसे अर्थ खुल जाता है 'इक्कणि लेह उवेसियउ' का अर्थ हुआ 'गोपनीय लेखमें उपदेशित होकर'। भाव यह हुआ कि पथिकको कोई ऐसा लेख दिया गया है जो सांकेतिक भाषामें लिखा गया है। किसी दूसरेके हाथमें अगर वह लेख पड़ भी जाए तो वह उसका अर्थ नहीं समझ सकता।

यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह है कि यद्यपि 'इक्कण' शब्द देशी ना० मा० में देशी शब्दके रूपमें आता है। किंतु वह संस्कृतके 'एकायन' शब्दसे बन सकता है। एकायन ऐसे मार्गको कहते हैं जिसमेंसे एक ही आदमी निकल सके। कदाचित् इसी शब्दसे 'एकायन लेख' का संबंध हो जिसका मतलब होगा ऐसा लेख जिसे कोई दूसरा न समझ सके बल्कि एक ही आदमी समझ सके।

२–७२ ओसहे ( आसहे ? ), तग्गन्ति

तुह विरह पहरसंचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्ज कल्ल संघडण ओसहे णाह तग्गंति॥

इस गाथाका भाव दोनों टीकाकारोंने एक ही दिया है—"हे नाथ तुम्हारे विरह-प्रहारसे संचूर्णित अंग जो विघटित नहीं हो रहे हैं उसका कारण क्या है ?—आजकलमें संघटन या मेल; इस औषधके प्रभावसे ये रह रहे हैं ( बने हुए हैं ) —"अद्यकल्ये संघटन ( म् ) मेल इत्यौषधप्रभावेन तिष्ठति"।

यहाँ 'ओसहे' का अर्थ 'औषधसे' और 'तग्गन्ति' का अर्थ 'तिष्ठन्ति' किया है। पूरी गाथाका भाव ऐसा जान पड़ता है कि अंगोंके विघटन अर्थात् अलग अलग हो जानेमें कोई वस्तु बाधक है। टीकाकारोंके मतसे आजकलमें मिलन रूपी औषध ही वह वस्तु है। किंतु मिलन तो हो नहीं रहा है, इसलिये मिलन-रूपी औषधका वर्तमान प्रसंगमें बाधक होना युक्तिसंगत नहीं है। मिलनरूप औषध जब प्राप्त हो जाएगा तो विरहप्रहारका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाएगा। यहाँ विरहावस्थामें उसका यही अर्थ किया जा सकता है कि 'विरहप्रहारसे

संचूर्णित अंगोंका विघटन जो नहीं हो रहा है वह इसलिये कि आजकलमें मिल जानेकी आशा है। मिलन नहीं, मिलनकी आशा विघटनमें बाधक है। कालिदासने भी मेघदूतमें 'आशापाश' को ही नारियोंके फूलकी तरह सुकुमार प्रेमपूर्ण हृदयके टूट कर बिखर जानेमें बाधक बताया है—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां।
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

विरहकालमें औषधका काम मिलन नहीं, मिलनकी आशा करती है, इसलिये यदि 'ओसहे' पाठ हो तो आशाका अध्याहार करना होगा।

'तग्गंति' 'तग्ग्' धातुसे बना है। अर्थ है—तागना। तागा या धागा देशी शब्द है जिसका अर्थ है सूत्र या सूता। हेमचंद्रने 'देशी नाममाला' में 'धागेके कंकण' के अर्थमें 'तग्ग' शब्दका प्रयोग बताया है ( देशी नाममाला। ५।१ ) हिंदीके 'ताग–पाट' शब्दमें यह अर्थ सुरक्षित रह गया है। हिंदीमें 'तागना' धातु भी सुरक्षित है, अर्थ है—तागेसे जोड़ना, या सीना। इसलिये 'तग्गंति' का अर्थ हुआ—'तागेसे सिए जाते हैं।' टीकाकारोंने तिष्ठन्ति अर्थ करके इस शब्दके साथ न्याय नहीं किया। संदेशरासकके विद्वान संपादकने भी 'प्राकृत-शब्द-सूची' में इस अर्थकी ओर इंगित किया है। वस्तुतः 'ओसहे' पाठ अशुद्ध जान पड़ता है। यह 'सी' प्रतिका पाठ है। 'ए' प्रतिमें 'उसहे' पाठ है तथा 'बी' प्रतिमें 'संघडहे'। स्पष्ट ही यह शब्द प्रतिलिपिकारोंके सामने कई रूपोंमें आया है। जान पड़ता है कि मूल पाठ 'आसहे' था जिसका अर्थ होता है—आशासे। इस पाठके मान लेनेसे अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है और किसी प्रकारके अध्याहारकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। अतः मेरा प्रस्ताव है कि 'ओसहे' के स्थानपर 'आसहे' पाठ स्वीकार करना चाहिए। ऐसा मान लेनेपर अर्थ इस प्रकार होगा–

हे नाथ, तुम्हारे विरहके प्रहारसे संचूर्णित अंग जो टुकड़े टुकड़े होकर बिखर नहीं जाते (वह इसलिये कि) आजकलमें मिलन होगा, इस आशासे तागे जाते रहते हैं।

२-७३ मुक्की, मुक्क

ऊसासडउ न मिल्हवउ, दुज्झण अंग भएण।
जिम हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जमेण॥

टीककारोंने इसका अर्थ इस प्रकार समझाया है—'अपने पतिकी वस्तुकी रक्षा करती हुई वह पतिके लिये आशीर्वाद कहती है—शरीर जलनेके डरसे मैं उच्छ्वास नहीं छोड़ती। इसीलिये आशिर्वाद है कि जैसे मैं वल्लभसे छोड़ी गई हूँ

वैसे वह यमराज द्वारा मुक्त किया जाय—'ततः आशीः—यथाऽहं वल्लभेन मुक्ता तथा स ज (य) मेन मुच्यात्'। इसमें 'मुक्क' शब्दका अर्थ किया गया है—मुच्यात्' परंतु मुक्क शब्दका सीधा सादा अर्थ है मुक्त, छोड़ा हुआ। यदि अर्थ इस प्रकार किया जाय तो 'मुक्क' शब्द की संगति बैठती है—

"अंग जल जानेके डरसे मैं उसास नहीं छोड़ती। जिसप्रकार मैं वल्लभसे छोड़ दी गई हूँ (मुक्की) उसीप्रकार वह (सांस, प्राण) भी यमराजके द्वारा छोड़ दिया गया है अर्थात् मेरे प्राणोंको यमराज भी नहीं ले जा रहा है।"

संपादकने इस दोहेके संबंधमें लिखा है कि "यद्यपि यह दोहा सब आदर्शोंमें मिलता है और इसकी व्याख्या भी मिलती है तथापि अग्रिम पद्यमें कहे हुए वर्णन के अनुसार यह प्रक्षिप्त जान पड़ता है।" अग्रिम पद्यमें कहा गया है कि हे पथिक ! यह गाथा कह करके प्रियको मना लेना। स्पष्ट है कि केवल गाथा कहकर मनानेकी बात है, दोहेकी नहीं। यदि मेरे द्वारा सुझाया हुआ अर्थ स्वीकारकर लिया जाए तो संपादकोंकी आशंकाका भी कोई कारण नहीं रह जाएगा क्योंकि ७२ वीं गाथा ही संदेशा है। इस दोहेमें कोई संदेशा नहीं है। गाथा पढ़नेके बाद नायिकाने पथिकसे जीवित रहनेकी सफाई भर दी है। इसमें कोई संदेशा या मनानेकी चिरौरी नहीं है और न जैसा टीकाकारोंने समझ लिया है, वैसा कोई आशीर्वाद ही है। यह तो केवल विरहिणीने पथिकसे यह बतलाया है कि मैं विरहप्रहारसे जर्जर होकर भी जो जी रही हूँ उसका कारण है कि यमराज भी मुझसे विमुख हो गया है !

२-७५ परिवाडि

पिअविरहानलसंतविअ जइ बच्चउ सुर लोइ।
तुअ छड्डिय हियअट्ठियह तं परिवाडि ण होइ॥

टीकाकारोंने परिवाडिका अर्थ 'प्रतिपन्नम्' किया है। होना चाहिए—परिपाटी अर्थात् शिष्टाचार, पद्धति, रीति। विशेषावसक्त भाष्यके १०८५ वीं गाथामें यह इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'पउम-चरिउ' (३।३।३।६।७) में यह शब्द इसी अर्थमें आया है। ३।१६।९ में 'परिवाडिए तुम्हहुँ हिण्डएउ जिमंतणउ' में 'परिवाडि' शब्द परिपाटी अर्थात् शिष्टजनकी रीतिके अर्थमें ही व्यवहृत हुआ है। यहाँ इस गाथाका भाव यह होगा कि 'यदि मैं तुम्हें अपने हृदयमें स्थित छोड़कर विरहाग्निसे संतप्त होकर सुरलोक चली जाऊँ तो यह उचित नहीं होगा क्योंकि शिष्टजनकी परिपाटी यह नहीं है कि किसीको घरमें बैठाकर स्वयं दूसरी जगह जाया जाये।'

२-७७ गरुअउ परिहवु किन सहउ पइ पोरिस निलएण

दोनों टीकाकारोंने 'पइ' का अर्थ 'त्वया' किया है और 'पोरिस निलयेण'

का अर्थ किया है 'पौरुष निलयेऽपि सति'। 'पौरुषनिलयेण' तृतीयांत पद होगा और उसे सप्तम्यन्त नहीं किया जा सकता। यदि 'पोरिस निलए' से 'न' अलग कर दिया जाए और 'पोरिस निलए' इतनेका ही अर्थ किया जाए तो ण का अर्थ अलग करना पड़ेगा 'ज' प्रतिमें 'किन सहउ' के स्थानपर 'किन सहउं; और बी प्रतिमें 'किम सहउ' पाठ है। 'परिहउ' के स्थानपर ए०, बी०, ज प्रतियोंमें 'परिहसु' पाठ है। इस दोहेका उचित पाठ इन प्रतियोंके पाठोंके अनुसार इस प्रकार होगा—

**गरुअउ परिहसु किन (किम) सहउ सहउ पइ पोरिस निलएण**
**जिहि अंगिहिं तू विलसियउ ते दद्धा विरहेण।**

अर्थ होगा, तुम्हारे जैसे पौरुष निलयके रहते हुए भी क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ, कि जिन अंगोंके साथ तुमने विलास किया वे विरहके द्वारा दग्ध किए जा रहे हैं।

ऐसा अर्थ करनेमें 'किन' या 'किम' को एक शब्द माना गया है जिसका अर्थ होता है 'क्या'। प्रथम पंक्तिके अंतका 'न' निषेधार्थक है। इस प्रकारके प्रयोगोंकी परंपरा अपभ्रंश और बिहारी आदिके दोहोंमें मिलती है—

**गड़े बड़े छबि छाक छकि छिगुनी छोर छुटै न।**
**रहे सुरँग रँग रँग उहीं नह-दी महदी नैन॥**

२-७८ छावडइ

**विरह परिग्गह छावडइ पहराविउ निरवक्खि।**
**तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि॥**

'छावड' शब्दका अर्थ झापड़ या चपेटा है। हेमचंद्रने अपने व्याकरणके १।१४६ और १।१९२ में 'चाविडा' शब्दका प्रयोग 'चपेटा' अर्थमें बताया है। 'विरह परिग्गह छावडइ' का अर्थ होना चाहिए 'विरह परिग्रहके चपेटोंसे (निरंतर प्रहार किया गया है), 'तुट्टी देह ण हउ हियउ' में 'तुट्टी देह' को टीकाकारोंने बिल्कुल ही छोड़ दिया है। 'छावड़' या 'छावड़ा' का अर्थ 'चपेटा' कर लिया जाए तो अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है—

'विरहके चपेटोंसे शरीपर निरपेक्ष प्रहार हुआ है, उससे देह तो टूट गई है पर हृदय घायल नहीं हो सका है क्योंकि वह तुम्हारे द्वारा संमानित है।'

२-७९ पाली, धण

**मह ण समत्थिम विरह सउ ता अच्छउं विलवंति**
**पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति॥**

इसका भाव टीकाकारोंने यह बताया है कि—'विरहसे मेरा सामर्थ्य नहीं चल सकता (विरहपर मेरा वश नहीं है) इसलिए रोती रहती हूँ, क्योंकि गोपालोंका पूत्कार ही प्रमाण है (अर्थात् ग्वाले रो-चिल्ला भर सकते हैं) परंतु धन अर्थात् गायें मालिकों द्वारा घुमाई जाती हैं, दूसरोंके द्वारा नहीं। 'पाली' और 'धन' दोनों ही के आगे 'गो' शब्दका अध्याहार कर लिया गया है, परंतु 'पाली' शब्दका सीधा-सादा अर्थ है पालन करनेवाली (धाय); 'धण' शब्द अपभ्रंशमें तथा उत्तर-कालीन हिंदीमें भी दुलहिनके अर्थमें बहुत प्रचलित रहा है (तुलनीय-ढोल सामला धण चंपकवण्णी, हेमचंद्र)। इसलिये मुझे लगता है कि यहाँ सीधासादा अर्थ यह है कि 'दुलहिन या बहू' को पति जहाँ चाहे ले जा सकता है, उसका पालन करनेवाली धाय केवल रो सकती है। इसी प्रकार मैं केवल रो सकती हूँ। तुम्हारा प्रेमजन्य विरह मेरे मनको जहाँ चाहे घुमाता रहता है, उसपर मेरा वश नहीं।

२-८४ अणियत्तखणं ( ० खलं ? )

दोनों टीकाकारोंने 'अणियत्तखणं'का अर्थ 'अनिवृत्तलक्षणं' किया है जो मुद्रित प्रतिमें स्वीकृत पाठके अनुसार ठीक नहीं लगता। 'ल' का लोप संभव नहीं है। जब दोनों टीकाकारोंने 'लक्षण' अर्थ दिया है तो पाठमें कहीं न कहीं 'ल' अवश्य रहा होगा। 'ज' प्रतिमें 'अणियत्तखलं' पाठ है जिसका रूपांतर होगा 'अनिवृतस्खलनं' अर्थात् जिस जलवर्षणका स्खलन कभी निवृत्त नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि टीकाकारोंके सामने 'अणियत्तखलं' न होकर 'अणियतलखं' पाठ था। उन्होंने 'लखं' का 'लक्षणं' कर लिया। परंतु अर्थकी दृष्टिसे 'अणिय-त्तखलं' पाठ ही अच्छा है।

२-८६ सिज्जासणउ

तुय समरंत समाहि मोहु विसम ट्ठियउ,
तह खणि खुवइ कवालु न वाम करट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय॥

इसमें 'समाहि मोहु', 'कवालु', 'सिजासणउ' और 'खट्टंग' शब्द श्लिष्ट हैं जो विरहिणी और कापालिक दोनोंके लिये भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं। विचा-रार्ह शब्द है—सिज्जासणउ। टीकाकारोंने 'सिज्जासण' शब्दके दो अर्थ बताए हैं। कापालिकके पक्षमें 'शय्याया अधस्तादशनम् और विरहिणीके पक्षमें 'शय्याया-मासनम्'। प्रथम अर्थ चिंत्य है। शय्याके नीचे ( या ऊपर ? ) भोजन कापा-लिकका कोई लक्षण नहीं है। वस्तुतः होना चाहिए 'सिद्धासनम्' जिसका प्राकृत

रूप होगा सिज्झासणम्' या 'सिजासनम्'। सिद्धासन योगका प्रसिद्ध आसन है। यह समाधिकालका प्रशस्त आसन माना जाता है।

२-९० विवज्जइ, धूमइण ( धू जइ ण ? )
सोसिजंत विवज्जइ सासे दीउन्हएहिँ पसयच्छी।
निवडंत बाहभर लोयणाइ धूमइण सिच्चंति ॥

टिप्पनकमें इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—'दीर्घाक्ष्याः दीर्घोष्णैः श्वासैः शोष्यमाणोऽपि विवर्द्धते विरहाग्निः। यद् धूम्रेण निपतद् बाष्पभरे लोचने स्रवतः। अर्थात् उस दीर्घाक्षीके दीर्घ उष्ण श्वासोंसे सुखाई जाकर भी विरहाग्नि बढ़ रही है। क्योंकि धूम्रसे (?) झड़ते हुए अश्रुसे पूर्ण आँखें स्रवित होती रहती हैं।' यह अर्थ ठीक नहीं जमता। यहाँ टीकाकारने 'विवजइ' का अर्थ किया है 'विवर्द्धते' और 'सिच्चन्ति' का अर्थ किया है 'स्रवतः'। दोनों ही चिंत्य हैं। 'विवज्जइ' का अर्थ 'विपद्यते' होना चाहिए। इस अर्थमें अपभ्रंशमें और प्राकृतमें इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। 'विपद्यते' अर्थात् मरती है या मर जाती है। अवचूरिकामें 'विपद्यते' अर्थ ही दिया है। 'सिच्चंति' का सींचती है अर्थ ठीक होगा। अवचूरिकाकारने यही अर्थ स्वीकार किया है। इसी तरह अवचूरिकाकारने 'धूमइण' की व्याख्यामें 'ध्रुवं निश्चयं यदि सा न ( सिच्यते )' अर्थ दिया है जो स्पष्ट ही 'ए' प्रतिके 'धू जइ ण' पाठके अनुसार है। सब मिलाकर अवचूरिकाकी व्याख्या और उसके द्वारा स्वीकृत पाठ उत्तम है। इस पाठके अनुसार अवचूरिकाकारने जो अर्थ लिखा है उसका भावार्थ यह है कि 'विरहिणी कहती है कि हे पथिक! तुम प्रियसे जाकर कहना कि वह प्रसृताक्षी ( नायिका ) दीर्घ उष्ण श्वासोंसे सुखाई जानेसे मर जाती यदि लोचनोंसे निरंतर झड़नेवाली अश्रुधारा उसे निश्चित रूपसे न सींचते रहते।'

२-९५ पिय विरह विओए·········कसु पहिय भणे।
पिय विरह विओए, संगम सोए, दिवस रयणि झूरंत मणे,
गिरु अंगु सुसंतह, वाइ फुसंतह अप्पह गिद्दय किंपि भणे।
तसु सुयण निवेसिय, भाइण पेसिय, मोहवसण बोलंत खणे,
मह साइय वक्खरु, हरि गउ तक्खरु, जाउ सरणि कसु पहिय भणे॥

इस पद्यकी अंतिम दो पंक्तियाँ 'सी' प्रति में नही हैं। दोनों टीकाएँ उपलब्ध हैं। दोनों ही टीकाकार इसका जो अर्थ देते हैं वह प्रायः एक ही है। अवचूरिकाका पाठ अधिक शुद्ध है, इसलिये उसे ही यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

प्रिय विरह वियोगाय, संगम सूचकाय रात्रिदिनं क्लिश्यन्ती नितरामङ्गं शोष-

यन्ती वाष्पानि मार्जयन्ती आत्मनो निर्दयाय प्रियाय किं भणामि। परं त्वं त्वेवं वदेः—यत्वां हृदये निवेश्य भावेनाप्रेक्ष्य मोहवशात् क्षणं, तयोक्तं मम स्वामिनो वक्खरं नाम वस्तु विरहनामा तस्करो हृत्वा गच्छति प्रत्यहम्। तद्गण प्रिय कस्य शरणं गच्छामि।

टिप्पनकने वक्खरंकी व्याख्यामें "वक्खरं रूपं नाम वस्तु" कहा है, इतना ही विशेष है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही टीकाकारोंने विरह विओए संगम सोए' को 'णिद्दय' का विशेषण माना है।

पियविरहविओए = प्रियविरह वियोगाय ( प्रियविरह वियोगे ? )
संगमसोए = संगमसूचकाय ( संगम शोके ? )
अप्पह = आत्मनः
णिद्दय = निर्दयाय ( हे निर्दय ? )
किंपि = किं ( किमपि ? )
तसु = त्वां ( तस्य ? तादृश ? )
सुयण ( पाठा०-सुयणु ) = हृदये ( सुतनु ? )
निवेसिय = निवेश्य ( निवेशित ? )
भाइण = भावेन
पेसिय = आप्रेक्ष्य ( ? ) ( पाठ०—भेसिय ) ( प्रेक्षित ? )
वोलंत = तयोक्तं ( ? ) ( निर्गमयति ? )
मह = मम
साइय = स्वामिनः
वक्खरु = रूपं। नाम वस्तु
हरि गउ = हृत्वा गच्छति ( हृत्वा गतः ? )
पहिय = पथिक ( प्रहृता, प्रहता, निर्मथिता ? )

यह पद्य भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे महुत महत्वपूर्ण समझा गया है। यदि टीकाकारोंका दिया हुआ अर्थ ठीक है तो संस्कृतकी चतुर्थी विभक्तिके स्थानपर अपभ्रंशमें सप्तमी विभक्तिके प्रयोगका यह एकमात्र उदाहण है। साथ ही 'णिद्दय' में एकवचनमें षष्ठी विभक्तिका लोप भी इस पद्यमें पाया जाता है जब कि हेमचंद्रने बहुवचनमें षष्ठी विभक्तिके लोप होनेका विधान किया है। टीकाओंमें दिए हुए कुछ अर्थ कष्टकल्पनासे ही सिद्ध हो सकते हैं। 'संगम सोए' का अर्थ 'संगमसूचकाय' चिंत्य है। यहाँ 'संगमके शोकसे' 'संगमके सोचसे' ज्यादा उपयुक्त ज्ञात होता है। 'किं पि' का 'किं' अर्थ भी चिंत्य है।' 'कुछ भी' ( किमपि ) अर्थ ज्यादा संगत होता। 'तसु' का अर्थ त्वां भी ठीक नहीं जँचता। पुस्तकमें

सर्वत्र 'तसु' षष्ठीका ही रूप माना गया है किंतु अपभ्रंशमें यह 'तादृश' के अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। सुयणका अर्थ 'हृदये' कैसे हुआ, यह भी विचारणीय है। इस प्रकार पूरे छंदका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। 'निवेसिय' और 'पेसिय' का अर्थ क्रमशः 'निवेश्य' और 'आप्रेक्ष्य' दिया हुआ है जो असंभव तो नहीं है लेकिन सारे ग्रथमें इस प्रकारके प्रयोग प्रायः निष्ठान्त प्रत्ययोंमें हुए हैं। यहाँ भी 'निवेशित' और 'प्रेक्षित' के रूपमें अर्थ किया जाता तो ग्रंथकी भाषाकी प्रकृतिके निकट होता। 'बोल्लंत' का 'तथा उक्तं' अर्थ भी जबरदस्ती ही जान पड़ता है। १३९ वें पद्यमें इस धातुका प्रयोग बितानेके अर्थमें हुआ है—'इम तवियउ बहु गिंभ कहिवि मइ बोल्लविय' अर्थात् इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु तपी और मैंने किसी प्रकार उसे बिताया। टीकाकारोंके शब्दोंमें 'कष्टं कृत्वा मया निर्गमितः', यहाँ भी, 'बोल्लंत' का अर्थ 'बिताते हुए' उचित होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है। सुयणका अर्थ 'हृदये' भी समझमें नहीं आता। बी० प्रतिमें 'सुयणु' पाठ है जो अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह 'सुतनु' ( सुंदर शरीर ) का प्राकृत रूप है। ज० प्रतिमें 'सामिय' पाठ है जो टीकाकारोंके दिए हुए अर्थका समर्थन करता है। वस्तुतः 'सामिय' पाठ ही उचित भी है।

जो हो, ९२ वें पद्यमें विरहिणीने कहा था कि मुझे संदेशा तो बहुत कहना है पर तुम उतावले हो, सो हे पथिक, उस प्रियसे एक गाथा, एक वत्थु और एक डोमिल कह देना—

"संदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थु तह डोमिलउ ॥"

स्पष्ट ही तीनों छंद संदेशके हैं। टीकाकारों द्वारा सुझाए अर्थमें प्रस्तुत छद केवल प्रियको संदेशा नहीं है बल्कि पथिकसे प्रार्थना है कि वही नायिकाकी ओरसे कुछ बात कह दे। इस प्रकार ९२ वें छंदसे ( और संदेशरासकमें अपनाई हुई सारी संदेश-पद्धतिसे ) इसका सामंजस्य नहीं है। शायद इसी असामंजस्यको देखकर 'सी' प्रतिके लेखकने इस छंद ( ९५ वें ) के अंतकी दो पंक्तियोंको छोड़ दिया है। इसमें 'पहिय' शब्द आता है जो पूरे ग्रंथमें 'पथिक' का वाचक है। परंतु 'पहय' जैसे शब्द भी ग्रंथमें आए हैं ( पद्य १०३ ) जो 'प्रहत' या 'प्रहता' के प्राकृत रूप हैं। यदि 'पहिय' को 'प्रहता' या 'प्रहृता' के अर्थमें लिया जाता तो यह असामंजस्य नहीं उत्पन्न होता।

इसके पूर्व नायिकाने अपनी कष्टकथा बताई है और कहा है 'जबसे तुम

प्रवासमें गए तबसे मुझे नींद भी नहीं आ रही है, स्वप्नसमागमका तो प्रश्न ही कहाँ उठता है।' इसके बाद वह कहती है कि 'दिन रात चिंतित रहनेसे उसके अंग सूख गए हैं परन्तु यह 'रूप' तो इस नायिकाका अपना नहीं है, यह तो प्रियका है। उसने ( प्रियने ) उस प्रकार उसे अपनाया था, दुलारा था, प्रेम-पूर्वक निहारा था और जाते समय सहेज गया था। वही रूप अब विरह नामक तस्कर चुरा ले गया। हाय भाग्यकी मारी ( पाहिय = प्रहता ) या लुटी हुई ( पहिय = प्रह्वता ) किसकी शरण जाय।

इस प्रकार समूचे पद्यका अर्थ इस प्रकार होगा—

"हे निर्दय, प्रिय-विरह-जन्य वियोगसे, संगमके सोचसे दिन रात चिंतित रहनेवाले मनसे अपने आपके बारेमें ( जिसके अंग निरंतर सूखते जा रहे हैं, जिसे आँसू पोछते रहना पड़ता है ) मैं कुछ भी क्यों न कहूँ ( उससे क्या लाभ है ! ) परंतु ( चिंता है उस प्रियके द्वारा सँभालकर रखनेको दिये हुए इस 'रूप' नामक वस्तु की ! ) उस प्रकार ( प्रियने ) जिसे अपने सुन्दर शरीरसे लगाया ( सुतनु-निवेशित ), प्रीति पूर्वक निहारा ( भावेन प्रेक्षित ) मुझे सहेजा, वह रूप नामक उसकी वस्तु ( उपस्कर ) चोर ( =विरह ) चुरा ले गया। ( कब चुराया ? ) जब मैं मोहवश ( बेहोशीकी हालतमें ) समय बिता रही थी ( मोह-वशेन निर्गमिति क्षणे ) हाय ! लुटी हुई मैं अब किसकी शरण जाऊँ !

'पहिअ' शब्दका अर्थ देशी नाममाला ( ६-६ ) में 'मथित' भी बताया गया है। यहाँ 'पहिय'का अर्थ 'निर्मथिता' भी किया जा सकता है, परंतु 'प्रहता' या 'प्रह्वता' अधिक प्रसंगानुकूल होगा। अवचूरिका में प्रत्यहं' कदाचित् इसी शब्दका अर्थ है।

२-९९ इक्कइ

'इक्कइ' का अर्थ टीकाकारोंने एक किया है। किंतु इसे या तो तृतीयांत होना चाहिए या सप्तम्यंत और इसका अर्थ भी इसी प्रकार करना चाहिए। इस-लिये इसका अर्थ होना चाहिए 'अकेले में' या 'अकेलेसे'; क्योंकि प्राकृतमें 'इक्कु' या 'एक्क' शब्द 'अकेला' के अर्थमें प्रयुक्त होता है ( पा० स० म० पृ० २३८ )

२-१०० पडिल्लो; बोलियंतो

'पडिल्लो, का अर्थ 'क्षिप्त्वा' किया गया है। पड़ाया हुआ या डाला हुआ उचित अर्थ है। 'बोल्लियंतो' का अर्थ 'म्रक्षितं कृत्वा' बताया गया है। बोरते हुए या डुबोते हुए ठीक अर्थ है। हिंदी के 'बोरना' धातुका यह पूर्वरूप है।

२–१०३ पढ़िय ( पढ़ि ); वियसेविणु

एय वयण आइन्निवि दीहर लोयणिहिं
पढ़िय अडिल्ल वियसेविणु मयणुक्कोयणिहिं ।।

दोनों टीकाकारोंने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—'एतद्वचनमाकर्ण्य दीर्घतराक्ष्या मदनोत्कौकुच्यया अडिला पठिता'। स्पष्ट ही इसमें वियसेविणु' शब्दका अर्थ छूट गया है। अर्थ है 'विकसित होकर'। चौदहवें पद्यमें 'विअसउ' शब्दका प्रयोग 'विकसतु' अर्थमें हुआ है। 'विअस' धातुसे 'एविणु' नामक पूर्वकालिक क्रियाके प्रत्ययसे 'विअसेविनु' या 'वियसेविणु' रूप बनेगा। परंतु विकसित होनेका हेतु क्या है। उसके बाद जो 'मयणुक्कोयणिहिं' है वह हेत्वर्थक तृतीया है। आकोयण और 'उक्कोयण' ( 'आकोचन' और 'उत्कोचन' ) का प्रयोग आँखोंकी विशेष प्रकारकी मदनचेष्टाके अर्थमें पुस्तकमें अन्यत्र भी हुआ है। यहाँ भी अर्थ वही है। द्वितीय पंक्तिमें एक मात्रा अधिक है। 'ए' प्रतिका 'पढ़ि' पाठ कदाचित् अधिक ठीक है।

२–१०४ ताकं तहं ( ताकं तह ? ) महकंतहं ( महकंतह ? )

जइ मइ णत्थि णेहु ताकं तहं,
पंथिय कज्जु साहि मह कंतहं।
जं विरहग्गि मज्झणक्कंतह,
हियउ हवेइ मज्झ णक्कंतह ।।

यह पद्य अडिल्ला छंदमें है। टिप्पणकमें इसका लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—

चउपइ इक्कु जमक्कु जि दीसइ
अडिल छंदु सु बुहहिं सलीसइ
अडिल्लच्छंदोलक्षणम्—चतुःपदेषु एक सदृशो यमको भवति।
स विबुधैः अडिल्लच्छन्दः कथ्यते।

अर्थात् जिसमें चारों पदोंमें एक समान यमक होता है उसे पंडित लोग अडिल्ल छंद कहते हैं। इसलिये एक समान यमककी दृष्टिसे 'ताकं तह' और 'मह कंतह' पाठ ही उचित है क्योंकि शेष दो पदोंमें 'णक्कंतह' ( नाक तक ) और णक्कंतह ( नक्तान्त तक ) पाठ है। व्याकरणकी दृष्टिसे भी ताकं तह ( तर्कयामि तथा ) और मह कंतह ( मम कांतस्य ) पाठ ही अधिक उपयुक्त है।

२–१०५ मयणाउहवहिय

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंगभंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहि॥

'मयणाउहवहिय' का अर्थ टिप्पनककारने मदनशरव्याप्तया (तृतीयांत) किया है और अवचूरिकाकारने 'मदनायुधबाधिता' (प्रथमांत) किया है। दूसरा अर्थ मूलके अधिक निकट है। 'सक्कउ' क्रिया का कर्ता प्रथमांत ही होना उचित है। परंतु मदनायुध 'वधिता' (मदन-बाण-हता) कदाचित् और भी उपयुक्त होता। 'विहलंघल' को दोनों टीकाकारोंने ज्योंका त्यों रख दिया है। फर्क इतना है कि टिप्पनककारने 'विहलंघला' को नायिकाका विशेषण माना है और 'गय' को एकदम छोड़ दिया है या यों कहना चाहिए कि 'विहलंघल गय' को नायिकाका विशेषण समझकर एक शब्दमें ही व्याख्या कर दी है और अवचूरिकाकारने इसे गति (गय) का विशेषण समझा है। शब्दकोश' में संपादकने 'विहलंघल' का अर्थ 'विह्वल' किया है। परंतु यह शब्द 'विह्वलांग' से बना जान पड़ता है। प्राकृतमें यह शब्द इसीसे बना हुआ बताया जाता है। 'पाइय सद्द महण्णव' के अनुसार भी यही अर्थ संगत है। 'सुर सुंदरी चरिअ' में (१५–२०४) लगभग इसी प्रकारके प्रसंग में 'विअड़ा बिहलंघला पडिआ' का प्रयोग है। इस प्रकार इस शब्दको 'विह्वलांगी' माना जा सकता है और वह नायिका तथा गति दोनोंका ही विशेषण हो सकता है।

२–११० 'तुरियउ' (तुरिउ)

पहिउ भणइ पसयच्छि तुरियउ किं बज्जरहि

इसमें एक मात्रा अधिक है। उचित पाठ 'तुरिउ' होना चाहिए जो 'त्वरित' का अपभ्रंश रूप है। मुद्रित प्रतिमें इसका कोई पाठांतर नहीं है। मुझे प्रसन्नता है कि 'ज' प्रतिमें 'तुरिउ' पाठ ही मिला है। इसलिये इस पाठके बारेमें कोई शंका नहीं रह गई। यह पाठ छंद और व्याकरण दोनों दृष्टियोंसे ठीक है। यह और बात है कि 'ज' प्रतिकी टीकामें इसका अर्थ 'किंतु' दिया गया है जो चिन्त्य है।

२–१११ पउक्कु ( पडिक्कु ? )

हियउ पउक्कु पडिउ दीवंतरि
णाइ पतंगु पडिउ दीवंतरि

दोनों टीकाकारोंने इसका अर्थ किया है 'मम हृदयं द्वीपांतरे पतितं शून्यं जातमित्यर्थः' । 'ज' प्रतिमें भी यही अर्थ दिया गया है । मतलब यह हुआ कि 'मेरा हृदय द्वीपांतरमें पतित है' अर्थात् शून्य है । परंतु इन सभी टीकाकारोंने 'पउक्कु' शब्दका अर्थ छोड़ दिया है ।

'सी' प्रतिमें 'पडिक्कु' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है । अर्थ है, 'फड़ककर' ( फड़का हुआ ? ) । मतलब यह हुआ कि पतंग जैसे फड़ककर दीपमें पड़ जाता है वैसे ही मेरा हृदय भी उछलकर दूसरे द्वीपमें चला गया है । 'ए' 'बी' और 'ज' प्रतियोंमें 'प्रियंगु ( या पयंगु ) णाइ पडिक्कु' पाठ है जो अन्वयकी दृष्टिसे सुन्दर होगा । पतंगकी भाँति फड़का हुआ । इसलिये 'पउक्कु' के स्थानपर 'पडिक्कु' पाठ ही ज्यादा उचित है । टीकाकारोंने कुछ अर्थ नहीं समझा और उसे छोड़ ही दिया ।

२–११२ उत्तरायणि, णिउइउ, तीयउ, होइयउ

उत्तरायणि बड्ढिहिं दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ ।
दुच्चिय वड्ढहिं जत्थ पिय,
इहु तीयउ विरहायणु होइयउ ॥

यह पाठ कई दृष्टियोंसे चिन्त्य है । प्रथम तो छंदकी दृष्टिसे ही यह अशुद्ध है । ग्रंथके हिसाब से यह 'चूडिलउ' ( २–११० ) छंद है जिसका लक्षण टिप्पनकमें इस प्रकार दिया हुआ है—

दोहा छंदु जि दु दलु पढ़ि मत्त ठविज्जिहिं पंच सु केहा ।
चूडिल्लउ तं बुह मुणहु गल्हु पयंपइ सच्चु सु एहा ॥

अर्थात् दोहा छंदके बाद पाँच मात्रा जोड़नेसे चूडिल्लअ बनता है । 'उत्तरायणि' में यदि मुद्रित प्रतिके अनुसार 'त' का द्वित्व होना स्वीकार कर लिया जाय तो दोहा छंद नहीं बनता । इसलिये 'ज' प्रतिमें आया हुआ 'उतरायणि' पाठ ही संगत है । मुद्रित प्रतिके अनुसार प्रथम पंक्तिमें १४ मात्राएँ

होती हैं, जब कि दोहेमें १३ मात्रायें ही होनी चाहिएँ। दूसरी पंक्तिमें १४ मात्राएँ 'पुव्व' शब्दपर समाप्त हो जाती हैं। इसके बाद पाँच मात्राएँ होनी चाहिए। 'णिउइउ'में चार ही मात्राएँ हैं। इसमें 'णिओइउ' (नियोजितं) पाठ उचित है। यह केवल छंदकी दृष्टिसे नहीं व्याकरणकी भी दृष्टिसे उचित होगा। क्योंकि 'नियोजित' का 'णिओइउ' पाठ ही व्याकरण-संमत है। 'ज' प्रतिमें 'णिओयउ' पाठ दिया हुआ है, जो व्याकरण और छंद दोनों दृष्टियोंसे उचित सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी मैंने 'णिओइउ' पाठ संगत समझा है। इसका कारण आगे दिया जा रहा है। छंदकी दृष्टिसे चौथी पंक्ति भी चिंत्य है। इसमें 'विरहाय' तक दोहेकी ११ मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं। उसके बाद 'णु होइयउ' में छ मात्राएँ हैं। इसलिये यहाँ भी एक मात्रा अधिक है। 'होइउ' पाठ होता तो व्याकरण, छंद और तुक तीनों दृष्टियोंसे वह अधिक ग्रहणीय होता। 'तीयउ' का अर्थ है 'तृतीय'। लेकिन 'तीअ' या 'तीय' शब्द भी तृतीयके अर्थमें अधिक प्रयुक्त होता है। आगेवाला अकार जिसका प्रथमांत रूप 'उकार' हो गया है स्वार्थक प्रत्यय है, इसलिये निरर्थकसा ही है। कवि कठिनाईमें पड़कर ही ऐसे स्वार्थक प्रत्ययोंका व्यवहार करते हैं। मुझे लगता है कि पाठ 'तीयउ' नहीं था बल्कि 'तीउ अ' था। मेरे इस अनुमानकी पुष्टिके लिये थोड़े अर्थ-विचारकी आवश्यकता है। सभी टीकाकारोंने इनका अर्थ लगभग एक ही प्रकारसे किया है जिसका भाव यह है कि उत्तरायणमें दिन बढ़ते हैं, दक्षिणायनमें रातें बढ़ती हैं (यह पूर्व नियोजित है, अर्थात् पहलेसे तय है।) टीकाकारोंने इस वाक्यका अर्थ छोड़ दिया है, इसलिये मैंने इसे कोष्ठके अंतर्गत कर दिया है। लेकिन जिसमें दोनों ही (दिन और रात) बढ़ जाते हैं, हे प्रिय, यह तीसरा 'विरहायण' उत्पन्न हो गया है। इतना लिखनेके बाद तीनों ही टीकाओंमें एक अर्थ-गर्भित वाक्य दिया हुआ है। वह इस प्रकार है—द्वयोर्हानौ तुर्यः सुखायनः चकारात्। अर्थात् दिन और रात दोनों ही जब छोटे हो जाते हैं तो चौथा 'सुखायन' होता है। वह पद्यमें आए हुए 'च' शब्दसे ध्वनित होता है। इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब दिन बढ़ता है तो उत्तरायण होता है, रात बढ़ते हैं तो दक्षिणायन होता है, दोनों ही बढ़ते हैं तो 'विरहायण' होता है और जब दोनों ही घटते हैं तो 'सुखायन' होता है। मूल पद्यमें तीनका उल्लेख है चौथेका नहीं। टीकाकार कहते हैं कि कविके मनमें यह चौथा भी था क्योंकि अगर ऐसा न होता तो 'च' शब्दका प्रयोग न करते। जब उसने कहा कि तीसरा 'विरहायण' भी (च = भी) होता है तो उसके मनमें चौथे 'सुखायन' की भी कल्पना अवश्य रही होगी। लेकिन कठिनाई यह है कि पूरे

पद्यमें 'च' शब्द ( जो अपभ्रंशमें 'अ' बन जाता है ) खोजनेपर भी नहीं मिलता। निस्संदेह टीकाकारोंको च ( अ ) कहीं-न-कहीं पद्यमें मिला था। नहीं तो तीन तीन टीकाएँ एक स्वरसे यह वाक्य न लिखतीं। 'च' शब्द तृतीयके बाद होना चाहिए या फिर 'विरहायणु' के बाद होना चाहिए। तभी ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है। मेरा अनुमान है कि 'तीयउ' में 'तीय अ' या 'तीउ अ' ऐसा पाठ था, जिसका संस्कृत रूपांतर होगा 'तृतीयं च' जिसे बादमें लिपिकारोंने ठीक न समझनेके कारण उलटकर लिख दिया। इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए मेरा अनुमान है कि मूल पद्यका पाठ इस प्रकार रहा होगा—

उतरायण वड्ढिह दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिओइउ।
दुच्चिय बुड्ढिह जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ॥

व्याकरण छंद तुक और टीकाएँ, चारों दृष्टिसे यही पाठ शुद्ध होगा।

२–११३ तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ

यह पद्य मुद्रित प्रतिमें इस प्रकार है—

गयउ दिवसु थिउ सेसु बहिय गमु मिल्हियइ,
णिसि अत्थमु बोलेवि दिवसि पुणु चल्हियइ।
बिंबाहरि दिण बिंब जुन्ह गोसिहि बलइ,
तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ,
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय! इच्छहि गमणु,
चूडिल्लउ खड्हड्उ पियह गाहाइ भणु॥

पद्यका भाव यह है कि नायिका कहती है कि हे पथिक, दिन बीत गया। थोड़ासा बाकी रह गया है। अब जानेकी बात छोड़ो। रात बिताकर फिर दिनमें चलना। इसपर पथिकने उत्तर दिया कि हे बिंबाधरे! दिनमें सूर्यके बिंबका प्रकाश प्रभात होते ही जल उठता है। मैं कार्यमें जानेको उत्सुक हूँ। इसपर नायिकाने कहा कि हे पथिक, यदि जाना ही चाहते हो, रुकना नहीं चाहते तो प्रिय से एक चूडिल्लउ, एक खड्हड्अ और एक गाहा कह देना।

इसमें चौथी पंक्ति विचारणीय है। उस पंक्तिका अर्थ टिप्पनककारने लिखा है "अतः कारणाद् रात्रावेव कार्ये उत्सुके मया गम्यते" और अवचूरिकामें इस प्रकार अर्थ दिया गया है—"मया औत्सुक्ये कार्ये गम्यते" और ज प्रतिकी

टीकामें 'मयि उत्सुक्ये अति कार्ये गम्यते' है। स्पष्ट है कि टिप्पनककारको जो शब्द मिला था उसमें कोई रात्रिवाचक शब्द था। परंतु अन्य दो टीकाकारोंने रात्रिवाचक किसी शब्दका अर्थ नहीं दिया है। या तो उन्होंने रात्रिवाचक शब्दका अर्थ करना छोड़ दिया है या उन्हें जो पाठ प्राप्त था उसमें रात्रिवाचक कोई शब्द नहीं था। हमने पहले कई पद्योंमें देखा है कि टीकाकार कई बार मूलमें आए हुए शब्दोंकी उपेक्षा कर जाते हैं। इसलिये मूलमें रात्रिवाचक शब्द हो तो भी संभावना है कि टीकाकार उसे छोड़ गये हों। इस बातकी पुष्टि 'ज' प्रतिके मूल पाठ और टीकासे होती है। 'ज' प्रतिकी मूलप्रतिमें 'रयणि' शब्द है किंतु टीकामें उसका अर्थ नहीं दिया गया है। जो हो टिप्पनककारके सामने ऐसा पाठ अवश्य था जिसमें रात्रिवाचक कोई शब्द था और 'ज' प्रतिमें तो वह है ही। मुद्रित प्रतिकी टिप्पणीमें 'सी' आदर्शका पाठ इस प्रकार दिया हुआ है "रइणि तो जाइ हउ कज्जिहिं आवलउ"। परन्तु इस पाठमें छंदोभंग है। मुद्रित प्रतिके पाठमें भी छंदोभंग है। 'ज' प्रतिका यह पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ता है। इसमें छंदोभंग नहीं है, अर्थ स्पष्ट है और 'रयणि' शब्दके आनेसे टिप्पनककार द्वारा दिए अर्थके अनुकूल भी है। पाठ इस प्रकार है—

रयणि तोइ जाइहउ कज्जि हउं आवलइ।

इसका अर्थ हुआ कि 'रात रहते ही जाऊँगा मैं कार्यके लिये अत्याकुल हूँ' यह पाठ उचित जान पड़ता है।

२–१२० पच्चिल्लइ

अणरइ छारुछित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए।
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढए।

सभी टीकाकारोंने 'पच्चिल्लइ' का अर्थ प्रेरयति' किया है। परन्तु वस्तुतः यहाँ अर्थ होना चाहिए—और भी जलना या दहकना। प्राकृतमें 'च्चिल्ल' धातुका प्रयोग इसी अर्थमें होता है। 'पाइयसद्दमहण्णव' में यह शब्द और इसके प्रयोग दिए हुए हैं। हिंदीमें 'चिलकना' और 'चिलचिलाना' इसी धातुसे आए हैं।' टीकाओंमें जो 'पुनःअरति रक्षा युक्तः' लिखा है वह वस्तुतः राखका संस्कृत बना लिया गया है। किंतु मूल पाठसे स्पष्ट है कि 'क्षार' होना चाहिए जिसका अर्थ 'राख' भी हो सकता है और कोयला भी हो सकता है। पूरे वाक्यका अर्थ यह होगा—अनरइ ( अरति ) अर्थात् बेचैनीका क्षार ( कोयला ) क्षिप्त होते रहनेसे यह ( विरहाग्नि ) और भी प्रज्वलित हो उठती है। टीकाकारोंने

'पच्चिल्लइ' का अर्थ प्रेरयति' करके 'परलोकाय' भी जोड़ दिया है जो मूल पद्यमें कहीं नहीं मिलता अतएव कष्ट-कल्पित है।

२-१२१ णेय, परिवडिउ, रंजियउ, तह पय जंपइ

मुद्रित प्रतिमें पाठ इस प्रकार है।

खंधउ दुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ
णेय पिम्म परिवडिउ पहिउ मणि रंजियउ
तह पय जंपइ मियनयणि सुणिहि धीरि खणु
किंहु पुच्छउ ससि वयणि पयासहि फुडुवयणु,

टिप्पणककारने इसकी जो व्याख्या की है उसका भाव यह है वह पथिक खंधक और दुवइ सुनकर अंगमें रोमांच-कंचुक हो गया अर्थात् उसके अंगमें इस प्रकार रोमांच हुआ मानों उसने रोमोंका कंचुक धारण कर लिया। तथा प्रेम नहीं गया। नायिकाने पथिकका मन रंजित किया। तथापि हे मृग नेत्रे! मनको धीर करके कुछ पदोंको कहो फिर वैसे ही मैं कुछ पूछता हूँ। यदि हे शशिवदने, स्फुट ( प्रकट ) बोलो।

अवचूरिका और 'ज' प्रतिकी टीकामें भी लगभग यही अर्थ है, किन्तु वहाँ 'रोमंचियउ' का सीधा अर्थ रोमांचित दिया है, रोमांचकंचुकोबभूव' इसी प्रकार 'परिवडिउ' का अर्थ परिपतित' दिया हुआ है। इतना ही अंतर है। अब यदि मुद्रित प्रतिका पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो दूसरी पंक्तिसे अंततक पथिककी अवस्थाका वर्णन है और तीसरी पंक्तिसे पथिककी उक्ति है। किंतु दोनोंमें ठीक संबंध स्थापित नहीं होता। अवचूरिकामें 'तह पय जंपइ' का अर्थ 'तां प्रति जल्पति' दिया है जो उचित जान पड़ता है। किंतु टीकाकारका 'तथापि' अर्थ बिलकुल असंगत है। 'ज' प्रतिमें 'परिवडिउ' के स्थानपर 'परिवरिउ' पाठ है जो अधिक उचित जान पड़ता है। इसी प्रकार 'बी' प्रतिका 'रंचियउ' पाठ साहित्यिक दृष्टिसे अधिक उपयुक्त है। 'प्रेम नहीं गया था' या प्रेम परिपतित नहीं हुआ' दोनों अर्थोंकी कोई संगति नहीं है। 'पहिउ मणि रंजियउ' अर्थात् 'पथिकका मन रंजित हुआ' के बदले 'पहिउ मण रंचियउ' अधिक सुन्दर पाठ है। जान पड़ता है कि टीकाकारोंने 'रंचियउ' का ठीक अर्थ न समझनेके कारण उसे 'रंजियउ' बना दिया। 'रंचियउ' का सीधा संबंध तुलसीदासके 'मन जाहि राँच्यो' मुहावरे से है। बिहारीने भी इस मुहावरेका प्रयोग इस पंक्तिमें किया है—
मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम।

'परिवरिउ' का अर्थ है 'घिरना', आवेष्टित होना—इसका प्रयोग इसी अर्थमें

'सुपासनाहचरिय'—१२५ में मिलता है। 'णेय' शब्द अपभ्रंशमें अवश्य ही 'नैव' के अर्थमें मिलता है। परंतु यह संस्कृत 'नेय' से भी बन सकता है; जिसका अर्थ होता है; 'ले आया हुआ' 'आरोपित', 'दूसरोंसे ग्रहण किया हुआ'। इस पंक्तिका पाठ 'ज' और 'बी' प्रतियोंके आधारपर इस प्रकार होगा जो साहित्यिक दृष्टिसे और भाषाकी दृष्टिसे भी उत्तम होगा क्योंकि 'मन राँच्यो' मुहावरेका प्रयोग बादतक मिलता है और 'रोमंचियउ' का तुक 'रंचियउ' अधिक उपयुक्त है—

णेय पिम्म परिवरिउ पहिउ मण रंचियउ

इसका अर्थ प्रथम पंक्तिके साथ मिलाकर इस प्रकार होगा—खंधक और द्विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हुआ और वह नेय-प्रेम अर्थात् नायिकाके प्रेमका स्वयं अनुभव करके उस प्रेमानुभूतिसे परिवेष्टित हो गया और उसका मन भी रँच गया, अनुरक्त हो गया।

ऐसा अर्थ करनेके बाद तृतीय पंक्तिका अर्थ स्पष्ट होता है। मुद्रित प्रतिमें जो पाठ है उसमें छंदोभंग है। वस्तुत 'सी' प्रतिका या 'ज' प्रतिका पाठ ज्यादा उचित है। दोनों बहुत कुछ मिलते हैं। 'सी' प्रतिका पाठ इस प्रकार है—

तह जंपइ मियनयणि सुणिहि धीरयसु खणु,

और 'ज' प्रतिका पाठ है—

तह जंपइ मियणयणि णिसुणि तुह धीरि खणु,

भाव यह होगा कि पथिक उस अवस्थामें प्राप्त होकर ( तह ) बोला 'हे मृग नयने ! सुनो क्षण भर धैर्य धारण करो, इत्यादि; इनमें 'ज' प्रतिवाला पाठ और भी अच्छा है।

३—१३७ दसणिहि, खयहि, कुसुम सरच्छयहि

मुद्रित प्रतिमें इस पद्यकी तीसरी और चौथी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

दसिउ दसणिहिं भुअंगि अंगु चंदणु खयहि
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसम सरच्छयहि

छंदकी दृष्टिसे ये दोनों पंक्तियाँ ठीक नहीं हैं। दोनोंमें एक एक मात्रा अधिक हैं। 'ज' प्रतिका पाठ छंद, काव्यसौष्ठव और अर्थ सभी दृष्टियोंसे उत्तम है। वह इस प्रकार है—

दंसिउ दुसहु भुयंगि अंगि चंदणु तवइ
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसमसरिच्छयइ।

'भुयंगि अंगि' में यमक तो है ही, इस पाठको स्वीकार कर लेनेसे अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थ है 'दुःसह भुजंगके द्वारा दंशित चंदन अंगमें तपता रहता है।' चंदनके साथ 'तवइ' क्रियाका प्रयोग कविने अन्यत्र भी किया है और ऐसे ही प्रसंग में—

हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
तं सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ

इसलिये यह पाठ कविका संमत जान पड़ता है। "खिव" धातुका प्रयोग जलनेके अर्थमें कविने अन्यत्र भी किया है—

"भयभेसिय अइरावइ गयणि खिवंतियइ" ।१४०

इसलिये ऊपर उद्धृत दूसरी पंक्तिका अर्थ यह होगा—

"क्षारसे उत्पन्न हार फूलके बाणों द्वारा उत्पन्न क्षतस्थानपर ( घावपर नमक छिड़कनेके समान ) जलन करता है।" 'कुसुम सरच्छयइ' सतम्यन्त प्रयोग है और अच्छा अर्थ देता है। इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि 'ज' प्रतिवाला पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अंतिम पंक्ति मुद्रित प्रतिमें इस प्रकार है—

'उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल पुणवि अंग परीहिंसयहिं'

छंदकी दृष्टिसे इसमें भी दो मात्रायें अधिक हैं। 'सी' और 'ज' प्रतिका 'विरहहव' पाठ अधिक उचित है। कवि ने अन्यत्र अग्निके अर्थमें 'हव' शब्दका प्रयोग किया है—

विरह हवि तविय तणु ।१३०

क्रिया रूपमें भी इसका प्रयोग है—

हिवइ हवेइ मज्झ णक्कंतह ।१०४

इसलिये यहाँ भी 'विरहहव' पाठ कवि-संमत जान पड़ता है। 'परीहिंसयहिं' की जगह 'परिहिंसियहि' पाठ व्याकरण-संमत भी है और कविके 'परि' उपसर्गके अन्यत्र प्रयोगोंके अनुकूल भी है और छंदकी दृष्टिसे तो ठीक है ही। तुलनीय—

परिघोलिर ४६, परिभमण ५४, परितवइ १३५ इत्यादि।

इस पद्यकी प्रथम दो पंक्तियोंमें ज० प्रतिका पाठ इस प्रकार है—

विवसाविय रवियरिहि तवहि अरविय तवणि
अमियमओ विहु जणइ दाह विस जम्मगुणि।

यह पाठ अर्थ और छंद दोनों दृष्टियोंसे मुद्रित प्रतिसे अधिक शुद्ध और ग्राह्य है।

३ – १३८ निभंति

मुद्रित प्रतिमें यह दोहा इस प्रकार है—

तणु घणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चच्चंति
पुणवि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति।

इसमें 'निभंति शब्द विचारणीय है। टिप्पणकमें इसका अर्थ दिया हुआ है 'भ्रमो न' अर्थात् 'इसमें भ्रम नहीं है' और अवचूरिकामें 'निर्भ्रतम्' अर्थात् एकान्त भावसे। 'ज' प्रतिमें 'अत्र श्रमण' लिखा है जो वस्तुतः 'अत्र भ्रमो न' का अशुद्ध पढ़ा हुआ रूप है। जान पड़ता है कि ठीक पाठ 'निभंति' नहीं था बल्कि 'न भंति' था जिसका सीधा अर्थ हो सकता है—'भ्रम नहीं' बाद में उसे गलत पढ़ लिया गया और उसे 'निभंति' पढ़ लिया गया। यह 'न भंति' पाठ अपभ्रंश परम्पराके अनुकूल है। हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत यह दो दोहोंमें आया है।

आयइँ लोअहों लोअणइँ जाईं सरइँ न भंति। ३६५।१

तथा—

अहरिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भंति। ४१६।१

३–१४१

मुद्रित प्रति में यह पद्य इस प्रकार है:—

गिंभ तवणि खर ताविय बहु किरणुक्करिहिं,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिं,
पयहत्थिण किय पहिय पयहि पवहंतयह,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयह॥

यह पूरा पद्य विचारणीय है। संदेशरासकके विद्वान संपादक ने अन्तिम दो पंक्तियोंको संदेहास्पद माना है (देखिए नोट्स पृ० ९७) परन्तु द्वितीय पंक्ति भी विचारणीय है। टीकाकारोंके अनुसार इस पद्यका अर्थ इस प्रकार होगा—

'ग्रीष्म तपनकी खर-उत्तप्त किरणोंके उत्कर्षसे सम्बन्धित जल पुष्कर से (अवचूरिका० पुष्करावर्तके समान) गिरता हुआ पुष्करियोंमें (अव० नदियोंमें) नहीं अँटता और मार्गमें प्रवसित पथिक जलधारासे पदत्राणहस्त (हाथमें जूता लिए) बना दिए गए हैं। आकाशमें बिजली से ही करल (पगदण्डक) दिखलाई देते हैं और तरहसे नहीं।

जान पड़ता है कि टीकाकारोंने दूसरी पंक्तिके 'पुष्कर'का अर्थ बादल किया है। 'अवचूरिका' में पुष्करावर्त' कहकर इसी तथ्यकी ओर संकेत किया गया है। मेघदूतमें कालिदासने मेघको 'पुष्करावर्त' का वंशज बताया था। तीसरी और

चौथी पंक्तिमें पाठान्तर भी अनेक हैं। 'पयहत्थिण' शब्दका अर्थ है 'हाथमें पैर वाले'। 'पवहंतयह' का अर्थ 'प्रवास करते हुए' किया गया है, किन्तु किसी पाठसे यह अर्थ समर्थित नहीं होता। यह 'पवहंतियइ' या 'पवहंतियहि' पाठ था जो अधिकांश प्रतियोंमें प्राप्त होता है। 'पेसइ' का अर्थ टीकाकारोंने 'प्रेक्षते' किया है। प्राकृत और अपभ्रंशमें इसका बहुप्रचलित अर्थ है 'भेजता है।' 'करलउ' बिलकुल अपरिचित जान पड़ता है। टीकाकारोंने इसका अर्थ 'पगदंडक' किया है जो आधुनिक हिन्दीकी 'पगडण्डी' से मिलता है। 'देशीनाम माला' में एक शब्द 'करड' है जो इससे मिलता है और जिसका अर्थ होता है 'कर्बुर रंगका' अर्थात् कबूतरसे मिलता-जुलता हुआ रग। 'गयणि' के स्थानपर 'सी' प्रतिका 'गयण' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। प्रायः सभी प्रतियोंमें 'खिवंतियह' या खिवंतियइ' पाठ है। केवल एक प्रतिमें 'खिवंतयह' पाठ है जो न प्रसंगानुकूल है और न टीकाओंमें दिये गये अर्थके अनुकूल है। वस्तुतः यह पद अब्दुल रहमानकी कवित्व-शक्तिका उत्तम निदर्शक है। इसमें उन्होंने साभिप्राय विशेषणों और क्रियाओंका प्रयोग किया है जो एक ओर अर्थको ध्वनित करते हैं। उसका एक अर्थ तो प्रायः वही है जो टीकाओंमें दिया गया है किन्तु दूसरा अर्थ रसपरक है और विरहिणीकी अवस्थाके अनुकूल है। अधिकांश पाण्डुलिपियोंकी, और सुन्दर अर्थकी दृष्टिसे, अन्तिम दो पंक्तियोंका पाठ इस प्रकार होना चाहिए। यह पाठ 'ज' प्रतिके पाठसे बहुत-कुछ मिलता-जुलता होगा—

पयहत्थिण किय पहिय पहिहिं पवहंतियह
पइ पइ पेसइ करलउ गयण खिवंतियह

पूरे पद्यका अर्थ इस प्रकार होगा—

वर्षावर्णनसे सम्बन्धित प्रथम अर्थ—

ग्रीष्मतापसे खर तप्त किरणोंके सम्पर्कके कारण बादलोंसे भरता हुआ पानी (पउपडंतु) पोखरियोंमें समा नहीं रहा है (ण मावइ-), (तुलनीय केशवदास, माई कहाँ धौ य.माएगी सूरति जो दिन द्वै यहि भाँति बढ़ैगी)। ये पोखरियाँ रास्तोंपर बढ़ती हुई पथिकोंको पैर हाथमें लेनेके लिए मजबूर कर रही हैं अर्थात् पोखरियोंका पानी रास्तेपर आ जानेके कारण पथिकोंने जूते अपने हाथमें ले लिए हैं। पद-पद पर आसमानको जलानेवाली बिजली रास्ता दिखा रही है।

समासोक्ति द्वारा व्यंजित दूसरा अर्थ—

प्रथम पंक्तिका पूर्ववत् ही होगा। दूसरी पंक्तिका प्रत्येक शब्द अर्थगर्भ है। 'पंउ पडंतु' का दूसरा अर्थ होगा 'पैर पड़ता हुआ।' 'णमावइ' का दूसरा

अर्थ होता है 'नवाती है, झुकाती है।' कवि यहाँ कहना चाहता है कि इस वर्षा कालमें प्रेमियोंकी बड़ी दारुण अवस्था है। पैर पड़ते हुए बादलोंको पोखरियाँ और भी झुका रही हैं या नहीं मान रही हैं। इसी प्रकार तीसरी पंक्तिसे भी एक दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। अर्थ यह है रास्तेमें बहती हुई (निचली श्रेणीकी स्त्रियाँ) पथिकोंको पैर हाथमें लेनेवाला बना रही हैं यानी पैर पड़वा रही हैं। चौथी पंक्तिका दूसरा ध्वनित अर्थ यह होगा—कर्बुर वर्णका आकाश दुख पाती हुई विरहिणियोंके पतिको (पइ) पैरोंके पास (पइ) भेज रहा है।

इस पद्यमें निम्नलिखित शब्दोंमें श्लेष है—

पउ पडंतु (१) गिरता हुआ पानी (२) पैर पड़ता हुआ;

पुक्खरहु (१) पुष्कर (मेघ) से (२) पुष्करको भी;

णमावइ (१) नहीं अँटता (२) झुकाती है;

पयहत्थिण ( १ ) जिन्होंने पैर हाथ में ले लिया है अर्थात् जिन्होंने पैर में पहना हुआ जूता हाथमें ले लिया है वे ( २ ) पैरपर हाथ देनेवाले।

पहिहि पवहंतियह ( १ ) पथ पर बहनेवाली ( २ ) चंचल स्वभाव स्त्रियाँ

पइ पइ ( १ ) पदे पदे ( २ ) पति पदे;

पेसइ ( १ ) दीखता है ( २ ) भेजता है।

करलउ ( १ ) पग डंडी ( टीका ) ( २ ) करड, कबूतरके रंगका कर्बुर-वर्णवाला ( हे० दे० ना० ); खिवंतियह ( १ ) विद्युत् ( २ ) विरहकी ज्वालासे जलनेवाली विरहिणी।

३ – १४८ दुद्धर धर धारोह भरु

वर्षा वर्णन के प्रसंगमें बादलोंके वर्णन 'दुद्धर धर धारोह भरु' का अर्थ टीकाकारों ने किया है 'दुर्द्धर धारौघभरं' अर्थात् 'दुर्द्धर' धारा समूह से भरा हुआ'। लेकिन ऐसा अर्थ करनेसे 'धर' शब्द व्यर्थ हो जाता है। सन्देश-रासकके विद्वान् सम्पादक को भी इस शब्दका अर्थ स्पष्ट न होनेका सन्देह हुआ था ( नोट्स पृ० ९७ ) मुझे जान पड़ता है कि यह शब्द व्यर्थ तो है ही नहीं, कवि की उत्कृष्ट निरीक्षण-शक्ति और कल्पना-नैपुण्यका निदर्शक है। इसमें बताया गया है कि मेघों का निपट निरन्तर क्रम रूई के छोटे-छोटे पहलोंके समूह सजाए हुएसे जान पड़ते हैं। देशी० ना० मा० में 'धर' शब्दका अर्थ 'रूई' और 'धार' का अर्थ छोटा दिया हुआ है। इस प्रकार 'दुद्धर' इसका विशेषण है। रूईके छोटे-छोटे पहलोंसे भरे हुएके समान निविड भाव से निरन्तर फैले हुए मेघ दुर्द्धर हो उठे हैं, यही विरहिणी नायिकाका अभिप्राय है।

इसमें एक और भी अर्थ ध्वनित है। धर = धरा रणक्षेत्र, धारा = रणोन्मुख

(दे० ना० ९–५९) ओह = उतरनेवाले, अर्थात् युद्धक्षेत्रमें उतरते हुए रणोन्मुख योद्धा। बादलोंमें दुर्द्धरताका आरोप 'धर धारोह भरु' के दूसरे अर्थ रणक्षेत्रमें उतरनेवाले भटोंकी ध्वनिसे किया गया है। मतलब यह कि शब्दोंका ऐसा प्रयोग किया गया है कि सहृदयके चित्तमें रणोन्मुख भटोंके साथ मेघोंकी तुलना स्वयमेव ध्वनित हो उठती है। समासोक्तिका यह पद्य उत्तम उदाहरण है।

३–१५२ जंच (जंचि ?)

किं जुत्तं सुकुलग्गयाण मुत्तूण जं च इह समए,
तड तडणतिव्व-घण घहण संकुले दइव वच्चंति।

इसमें 'जंच' शब्द विचारणीय है। टीकाकारोंका बताया हुआ अर्थ यह है कि हे दयित, जो लोग सुकुलोद्गत हैं अर्थात् सद्वंशजात हैं उनके लिये ऐसे समय में जब कि बिजली तड़तड़ा रही हो और जब घनघटन मेघ शब्दसंकुल हों अर्थात् मेघों की गड़गड़ाहटसे आकाश व्याप्त हो, प्रिया ( दयिता ) को छोड़कर जाना क्या उचित है ! इस अर्थ में दो बार' दयित' शब्दका प्रयोग है। एक तो हे दयित सम्बोधनमें और दूसरे दयिताको छोड़कर लेकिन मूलमें केवल एक ही बार 'दइय' शब्द आया है जो सम्बोधनार्थक उचित जान पड़ता है। फिर मुत्तूणं ( छोड़कर ) क्रियाका कर्म क्या है ? मुद्रित प्रतिमें 'जं च' जो पाठ है उससे अर्थ नहीं खुलता। किन्तु 'ज' प्रतिमें और 'बी' प्रतिमें 'जंचि' पाठ है जो उचित जान पड़ता है। दे० ना० ( ३।४० ) में 'जच्च' शब्द पुरुष या नरका वाचक बताया गया है। अपभ्रंश में द्वित्व वर्ण के पहले अनुस्वार करके सरलीकरण की प्रथा प्रचलित ही है। इसलिए 'जच्च' या 'जंच' दोनोंका अर्थ होगा पुरुष और 'जंचि'का अर्थ होगा नारी ( यहाँ स्त्री, विरहिणी ) इसलिए 'मुत्तूण जंचि'का अर्थ होगा स्त्रीको छोड़कर। ऐसा अर्थ करनेसे टीकाकारोंके अर्थकी संगति भी बैठ जाती है और 'मुत्तण'की क्रियाका कर्म भी अव्यवहित पश्चात् उपलब्ध हो जाता है। इसलिए 'जंचि' पाठ ही संगत है।

३–१६४

मरालागमि णहु तग्गमि

इस पद्यमें अन्तिम पंक्तिका अर्थ अवचूरिकामें इस प्रकार दिया हुआ है— 'मरालीगमेऽगमे च मरामि' अर्थात् मरालीके जाने और न जाने दोनों ही अवस्थाओंमें मैं मरती हूँ। टिप्पनककार ने लिखा है कि उसके ( क्रौंचके ) आगमन से कमल मृणाल भी चले गये। पता नहीं कि टिप्पनककारने यह अर्थ किस पाठ

के आधारपर किया। परन्तु जिस पांडु लिपिमें टिप्पनक प्राप्त हुआ है उसमें ( बी ) में अन्तिम पंक्तिका पाठ इस प्रकार है—

'मरिम मुरालार्गामि तग्गागमि'

कदाचित् 'तग्ग' शब्दका भाव 'तागा' समझकर उन्होने मृणालतन्तु कर लिया है। परन्तु फिर भी इस पाठ और इस अर्थका कोई सामञ्जस्य समझमें नहीं आता। अवचूरिकाकार ने जो अर्थ दिया उससे लगता है कि पाठ कुछ इस प्रकारका रहा होगा—

'मरिम मरालागमिणहु तग्गमि'

यहाँ 'हु' हिन्दीके 'भी' अव्ययके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है जिसका संस्कृतमें अवचूरिका ने 'च' अर्थ दिया है 'मरलागमणि'का अर्थ हुआ 'मरालोंके आगमन से और 'तग्गामि'का अर्थ हुआ 'उनके जानेसे'। पूरेका अर्थ हुआ मरालके आगमन और गमन दोनोंसे मैं मरती हूँ। यहाँ 'मराल' शब्द अर्थ गर्भ है। इसमें एक और अर्थ ध्वनित होता है। 'मराल' अर्थात् 'मरणवाला'! 'हु' अव्ययका 'भी' अर्थमें प्रयोग अन्यत्र भी है—

णहु कि हु कहइ। ९६

—'किहु' अर्थात् कुछ भी।

३–१८६ कोसिल्लि

मुद्रित प्रतिमें जिस पंक्तिमें यह शब्द आया है, वह इस प्रकार है—

लइ दुक्कउ कोसिल्लि हिमन्तु तुसार भरु

टिप्पनक, अवचूरिका, और 'ज' प्रति की टीकामें भी 'कोसिल्लि'का अर्थ 'कुशलेन' अर्थात् कुशलता पूर्वक दिया हुआ है। किन्तु देशी नाममाला में इस शब्द का अर्थ दिया गया है—प्राभृतम्। इस अर्थको स्वीकार कर लेनेसे इस पंक्तिका विशेष अर्थ यह होगा—हेमन्त तुषार-भारका उपहार लेकर आ पहुँचा; यह अर्थ निस्सन्देह उत्तम है।

३–१९२ सूडिय

टिप्पणककार ने इस शब्दको छोड़ दिया है लेकिन 'अवचूरिका' और 'ज' प्रतिकी टीकामें 'सूडिताः सतः' कह कर चलता कर दिया गया है; कोई अर्थ नहीं दिया गया है। हेमचन्द्र ( ४।१०६ ) ने सूड् धातुको 'भंज्' धातुका आदेश माना है। इसलिए 'सूडिय'का अर्थ होगा 'तोड़ा हुआ'।

३–१९५ **मत्त मुक्क ( मज्जमुक्क ), विवहगंधकरसु, वरच्छणि, सीमंतिणिय,**

'ए' प्रतिके सिवाय बाकी तीनों प्रतियोंमें 'मज्जुमुक्क' पाठ है। केवल 'ए' में 'मत्तमुक्क' पाठ है। लेकिन तीनों ही टीकाओंमें 'मात्रामुक्त' अधिकः अर्थ दिया हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि टीकाकारोंके सामने 'मत्त-मुक्क' पाठ ही था। लेकिन अधिकांश प्रतियों में होनेके कारण 'मज्जमुक्क' पाठ ही ज्यादा ठीक है, जिसका संस्कृत रूपान्तर 'मद्य मुक्त' होगा। इसी प्रकार 'ज' प्रतिमें आया हुआ 'विविह गन्धुक्करसु' उत्तम है। सभी टीकाकारोंने इसका संस्कृत रूपान्तर 'विविधगन्धोत्कर्ष' दिया है। इससे 'विविहगन्धक्कु रसु' रूप का बनना सहज है। नीचेकी पंक्तिमें 'इक्ल रसु' के साथ इसका तुक मिलाया गया है। इस दृष्टिसे भी ऊपरकी पंक्तिमें 'रसु' ही होना चाहिए, 'रिसु' या 'रेसु नहीं'। 'वरच्छणि' पाठ भी चिंत्य है, यद्यपि सभी टीकाकारोंके सामने यही पाठ रहा होगा क्योंकि सभीने इसका अर्थ किया है 'वरोत्सवे'। मगर 'बी' और 'ज' प्रतिमें जो 'वर-त्थणि' पाठ है वह ज्यादा उचित है, जिसका अर्थ है, 'वरार्थिनी' अर्थात् वरकी प्रार्थना करनेवाली। आगेके 'पीणुन्नयथणिय' में 'थणि' के साथ इसका यमक भी है।

३–१९९ उवाडयणि

इस शब्दका अर्थ टीकाकारोंने 'गर्दभी' किया है। प्रसंग यह है कि नायिका कह रही है कि मैंने प्रियको बुला लानेके लिए अपने मनको दूत बनाकर भेजा। प्रिय तो आया नहीं, मेरा मन भी वहीं प्रियके पास रह गया। यह उसी प्रकार हुआ जैसे गर्दभी सींगके लिए गई और उसके कान भी खो गये। 'उवाडयणिं' का अर्थ 'गर्दभी' समझनेका कोई आधार नहीं है। 'ज' प्रतिमें 'वाडव्वणि' पाठ है। यह उचित पाठ जान पड़ता है। संस्कृतमें 'बड़वा' घोड़ीको कहते हैं। उसीसे बना हुआ 'वाडव्य' शब्द खच्चरके अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'वाड्व्य' से अपभ्रंशका 'वाडब्ब' बना है और उसीमें 'णी' स्त्रीलिंग प्रत्यय जोड़कर 'वाडव्वणी', 'खच्चरी'के अर्थमें यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

३–२०८ मुद्रित प्रतिमें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

पज्जलंत बिरहग्गि - तिव्व झालाउलं
मयरद्धउवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं
सहवि दुसहु दुत्तर विचरिज्जइ सव्भयं
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं

टिप्पनककारने इसका जो अर्थ किया है उसकी हिंदी छाया यह है :—
'मकरध्वज भी घन भावसे'–भा–आकुल' भावसे प्रज्वलत् विरहाग्नि तीव्र

ज्वालाकीर्ण रूपसे गर्जन कर रहा है और मैं दुस्तर दुसह भावसे सहन करती हुई सभय बनी रहती हूँ। परतु सोचती हूँ कि मेरे स्नेह से अपीड़ित रहकर स्तंभतीर्थ नामक दुर्गमें मेरा प्रिय वाणिज्य करता है।

अवचूरिकाकारने जो अर्थ किया है उसकी छाया यह जान पड़ती है—

'प्रज्वलंत बिरहाग्नि तीव्र ज्वालाकुलमें, मकरध्वजकी भाँति गरजता हुआ ( है )। लहरी घन-निबिड-प्रभा-कान्त्याकुल दुःसहमें सहन करके सभय भावसे ही विचरण किया जाता है। मेरे स्नेहका कोई दुर्ग निर्भय भावसे वाणिज्य करता है।'

इस टीकामें सप्तम्यंत विशेषणोंका विशेष्य क्या है यह स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये सारा अर्थ अस्पष्ट लगता है। किंतु 'ज' प्रतिमें यही अर्थ दिया गया है और वहाँ सप्तम्यंत पदोंको प्रथमांत कर दिया गया है, जिससे लगता है कि ये सब विशेषण मकरध्वजके हैं। दोनों पाठोंको यदि मिलाकर अर्थ किया जाय तो अर्थ इस प्रकार बनता है—

'विरहाग्निकी तीव्र ज्वालासे आकुल मकरध्वज भी गर्ज रहा है, जो लहरी-घन-निविड-प्रभा-कांतिसे व्याकुल दुःसह और दुस्तर है, उसे सहन करके भयपूर्वक भ्रमण किया जाता है, किंतु मेरे स्नेहका कोई दुर्ग है जिसमें वह निर्भय वाणिज्य करता है।'

परंतु इतनेसे भी कविका तात्पर्य स्पष्ट समझमें नहीं आता। चौथी पंक्तिमें जो 'किवि' है 'ज' प्रतिमें इसके स्थानपर 'किं' है किंतु टीकामें अर्थ 'किमपि' ही दिया है। इसका अर्थ प्रसंगके अनुकूल होना चाहिए। इसके पूर्वके छंदोंमें नायिकाने बसंतमें रसगन्धलुब्ध भ्रमरोंकी क्षुब्धताका वर्णन किया है। वे परस्पर मिलित कंटकोंसे विद्ध हो रहे हैं तो भी तीक्ष्ण कंटकोंके दुःखकी अवहेलना करके मधुपान कर रहे हैं। रस-लोभसे रसिक गण अपने शरीरकी परवाह नहीं करते। प्रेम मोहमें कोई पापकी आशंका भी नहीं करते—

विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति
कंटग्ग तिक्ख ते णहु गणंति
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि
णहु पाउ गणिज्जइ पिम्म मोहि २६

इस मधु प्रेम व्यापारकी क्रीड़ाको देखकर ही नायिकाके मनमें विस्मय हुआ और उसने यह छंद पढ़ा—

महु पिक्खवि बिंभिउ मणिहि हूउ
सुणि पहिय कहिउ रवणिज्जरूउ। २०७

इसलिए इसमें मधु-प्रेममें कष्ट पानेकी बात होनी चाहिए और साथ ही विस्मयका ही कोई हेतु अवश्य होना चाहिए। यह विस्मय तभी हो सकता है जब ऐसी ही अवस्थामें ऐसा कुछ घटता न दिखे। नायिकाके मनकी स्थितिसे यह अनुमान किया जा सकता है कि जब सभी लोग प्रेम के लिये कटोर पीड़ाको सहकर भी प्रेम पात्रकी ओर कठिनाईके साथ अग्रसर हो रहे हैं उसी समय उसी अवस्थामें उसका प्रिय क्यों ऐसा नहीं कर रहा है। उसके मनमें यह भी बात आ सकती है कि पुष्प भ्रमरोंको रसके लोभसे अपना शरीर दे रहे हैं और वह भी इसी प्रकार रसलोभसे अपने प्रियको अपना शरीर अर्पण करना चाहते हैं। परन्तु फिर भी उसका प्रिय समस्त विघ्न-बाधाओंके भयको दूर करके क्यों नहीं आ रहा है। जब सभी लोग भय और कष्टकी परवाह किये बिना दुस्तर तरण कर रहे हैं तो उसका प्रिय ही क्यों ऐसा भय और जोखिम नहीं उठा रहा है। उसके मनमें यह भी वितर्क उठ सकता है कि कदाचित् उसके प्रेमकी ही कमजोरी है और वह प्रेम उसके प्रियतक नहीं पहुँच रहा है। वह उसके प्रेमके लिए दुर्गम है। भ्रमरों के पुष्पतक पहुँचनेमें बाधक कंटक है। उन्हींका भय या जोखिम नायिकाके प्रियके मार्गका बाधक भयंकर समुद्र है। भ्रमर अगर कंटकोंकी उपेक्षा कर सकता सकता है तो उसके प्रियको भी समुद्रकी उपेक्षा करनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है यही विस्मयका हेतु है। इस दृष्टिसे देखनेपर इस पद्यका अर्थ इस प्रकार होगा—

दुःसह दुस्तर गर्जमान मकरध्वजको, जो जलती हुई विरहाग्निकी तीव्र ज्वालासे उसी प्रकार आकुल है, जिस प्रकार बड़वाग्निकी ज्वालासे समुद्र आकुल रहता है और जो घनी तरङ्गोंके आवर्तसे उसी प्रकार भ्रमाकुल है जिस प्रकार समुद्र हुआ करता है, सहकर भी सब लोग जोखिम उठाकर विचरण कर रहे हैं, किन्तु मेरा प्रिय, मेरे स्नेहके लिए दुर्गम है बिना किसी प्रकारके भय या जोखिमको उठाए, निर्भय होकर वाणिज्य कर रहा है।

यहाँ 'दुग्ग' शब्दका प्रयोग करके कविने सामासोक्तिके द्वारा यह भी बताना चाहा है कि भयंकर मकरध्वज (समुद्र) में स्थित दुर्ग जिस प्रकार उसकी भयंकरतासे अप्रभावित रहता है उसी प्रकार मेरा प्रिय भी मकरध्वज (कामदेव) की भयंकरतासे अप्रभावित है। टिप्पणककारकी व्याख्या 'मम स्नेहेन अपीडितः' वाक्यांश इसी बातकी ओर इशारा करता है। जिस प्रकार समुद्रस्थित दुर्ग

समुद्रकी बाधाओंसे निर्भय होकर व्यापार करता है उसी प्रकार मेरा प्रिय भी कामदेवकी बाधाओंसे निर्भय होकर व्यापार कर रहा है।

यहाँ मकरध्वज, झालाउल, लहरिघण, भाउल आदि शब्दोंका प्रयोग करके कविने कामदेवके साथ ही भयंकर समुद्रकी व्यंजना की है। मकरध्वज शब्दका प्रयोग करके उसने बताना चाहा है कि सभी लोग जब मकरध्वज (समुद्र) की भयंकरता की उपेक्षा कर रहे हैं तो उसका प्रिय ही मकरध्वज (कामदेव) की क्यों न उपेक्षा करे। इसके बाद नायिकाके चित्तमें यह वितर्क उपस्थित होता है कि कदाचित् उसका प्रिय उसके प्रेमके लिए दुर्गम है। 'मह णेहह किवि दुग्ग' से तात्पर्य प्रियसे है। 'भय' शब्दका व्यवहार जोखिमके अर्थमें होता है।

३–२१९ नच्चीयइ, वसंतकाळ, हार, परिखिल्लरीहिं

'ज' प्रतिका 'णच्चियइ' पाठ छंद और व्याकरणकी दृष्टिसे उचित है। 'बी' प्रतिमें 'बसंत कालु' के स्थानपर 'बसंत यालु' (बसंत-तालः) पाठ है जिसका अर्थ होगा 'अपूर्व बसंत-ताल (बसंत रागके तालसे) नाचा जा रहा है, जो उत्तम ज्ञात होता है; 'परिखिल्लरी' का अर्थ टिप्पनककारने 'परिवेष्टिता' किया है और अवचूरिकामें 'परिखेलंती' अर्थ दिया है। दे० ना० भा० २।७० में 'खल्लिरी' का अर्थ 'संकेत' या 'अभिनय' दिया हुआ है जो यहाँ प्रसंगानुकूल जान पड़ता है। इससे 'परिखिल्लरी' का अर्थ होगा 'नाना प्रकारकी आंगिक चेष्टाओंको करती हुई' इस प्रसंगमें भी 'बी' प्रतिका 'हारि' पाठ ज्यादा उचित है, अर्थ है 'हार द्वारा'।

३–२२३ पहावरिउ, अणाइ, अनंत

'पहावरिउ' शब्दका अर्थ टीकाकारोंने 'पंथानं आवरयन्' किया है, अर्थात् 'पथको आवृत करता हुआ'। भाव यह हुआ कि ज्योंही विरहिणी पथिकको संदेश देकर दक्षिणकी ओर मुड़ी, निकट ही पथको आवृत करता हुआ उसका पति दिखाई दिया और वह तुरन्त हर्षित हुई (आसन्न पहावरिउदिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरसिय) किन्तु यह अर्थ कुछ स्पष्ट नहीं है। 'पहावरिउ' शब्दका अर्थ होगा 'पथावरित' अर्थात् मार्गसे ढका हुआ या छिपा हुआ। मतलब यह हुआ कि पति तो उसका निकट ही आ गया था किन्तु रास्तेके मोड़के कारण आवरित-सा था, दिखाई नहीं दे रहा था। 'पहावरिउ' शब्दका एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है, प्रभासे आवरित। कवि 'पहावरिउ' शब्दके प्रयोगसे दो अर्थ ध्वनित करना चाहता है। नायिकाका प्रेमी मार्गके मोड़के कारण

दिखाई नहीं दे रहा था लेकिन नायिकाको देखने मात्रसे 'प्रभावृत' भी हो गया ! रड्डाके अन्तमें जो दोहा है वह इस प्रकार है:—

जेम अचिंतउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु
तेम पठंत सुणंतयह् जयउ अणाइ अणंतु

अर्थ है जिस प्रकार उस नायिकाका अचिन्तित महान् कार्य क्षणार्द्धमें ही सिद्ध हो गया उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालोंका भी हो, अनादि अनन्त परम पुरुषकी जय हो। यही ग्रन्थका भी अन्तिम दोहा है। इसलिए कविका अनादि पुरुषका स्मरण कर लेना उचित है। किन्तु 'सी' प्रतिमें एक पाठ और भी है जो किसी टीकाकारकी दृष्टिमें नहीं पड़ा है। यह पाठ 'जयउ अणाइतु अन्तु', है अर्थात् अनागत (भावी) अन्तकी जय हो' यदि यह पाठ स्वीकार किया जाय तो अन्तिम पंक्तिका अर्थ इस प्रकार होगा—

'उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालोंके अनागत अन्तकी जय हो अर्थात् पढ़ने सुननेवालोंके मनमें जो भी इच्छा हो उसका अंत भविष्यमें जययुक्त होवे।' यह अर्थ इस दोहेको भगवान्की स्तुति न बनाकर सीधा-सादा आशीर्वादात्मक भरत-वाक्यके रूपमें कर देता है। परन्तु यह पाठ काफी महत्त्वपूर्ण है। 'अनागत अन्त'का अर्थ है क़यामतका दिन ! यह पाठ कविको निश्चित रूपसे मुस्लिम धर्मानुयायी सिद्ध करता है।

---

# भूमिका

## रासक का विकास

रास, रासक, रासो और 'रासा' शब्दोंसे अभिहित साहित्यके विकासका अध्ययन अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्यसे इनका परिचय प्राचीनकाल से है। 'हरिवंशपुराण'में 'रास'का अस्पष्ट और विष्णुपुराणमें स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है।[1] इनमें रासका उल्लेख गोपालों-के नृत्यके रूपमें मिलता है। अधिक प्राचीन बताये जानेवाले भासके 'बालचरित' नाटकमें 'रास' के सजातीय 'हल्लीसक' का नाम आता है, जिसमें गोपालों और गोपिकाओं द्वारा मिलकर क्रीड़ा करनेका वर्णन है।[2] इन

---

१. हरिवंशपुराण में विष्णुपर्वके अन्तर्गत २० वें अध्यायका निम्नांकित श्लोक इस विषयमें ध्यान देनेयोग्य है—

एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः।
शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी॥

—हरिवंशपुराण —विष्णुपर्व। ३५

इसकी टीकामें नीलकंठने हल्लीसकऔर रासका उल्लेख किया है। वे चक्रवालैःसे 'रासक्रीड़ा' का अर्थ लेते हैं:—

चक्रवालैः मण्डलैः हल्लीसक क्रीडनम् एकस्यपुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव **रासक्रीडा**।

—वही, पृ० १९९।

ततः कांचित् प्रियालापैः कांचिद्भ्रूभंगवीक्षितैः।
निन्येऽनुनयमन्यां च करस्पर्शेन माधवः॥
ताभिः प्रसन्नचित्ताभिः गोपीभिस्सह सादरम्।
ररास **रास**गोष्ठीभिरुदारचरितो हरिः॥
**रासमण्डल**बन्धोऽपि कृष्णपार्श्वमनुज्झता।
गोपीजनेन नैवाभूदेकस्थानस्थिरात्मना॥
हस्तेन गृह्य चैकैकां गोपीनां **रास**मण्डलम्।
चकार तत्करस्पर्शनिमीलितदृशं हरिः॥

—श्री विष्णुपुराण, पंचम अंश, ४७–५०।

२. संकर्षणः—दामक! सर्वे गोपदारकाः समागताः।
दामकः—आम भट्टा पव्व षण्णद्धा आअदा।

प्राचीन उल्लेखोंमें 'रास' 'हल्लीसक' के साथ गोपालों और गोपियों का नाम सर्वत्र जुड़ा दिखाई पड़ता है। इनमें 'रास' के साथ संगीतादिके योगका वर्णन नहीं मिलता जिससे ज्ञात होता है कि उस समय रास शारीरिक गतियोंपर आधारित शुद्ध लोकनृत्य था। श्री मंकडका विचार है कि रासकी व्युत्पत्ति 'रास्' धातुसे हुई है जिसका अर्थ जोर से चिल्लाना है, इसका सम्बन्ध उस कालके आदिम नृत्योंसे जोड़ा जा सकता है जब संगीतकी मात्रा और कलात्मक गति व्यवस्थित नहीं हुई थी। उस समय वन्य नृत्यके रूपमें इसका प्रचलन रहा होगा।[1] एक दूसरे विद्वानका 'हल्लीसक' के विषयमें यह अनुमान है कि इस शब्दका उद्गम यूनानी इलीशियन नृत्योंसे ईस्वी सन्‌के आसपास हुआ जान पड़ता है और कृष्ण के रास नृत्य और हल्लीसक नृत्य इन दोनोंकी परम्पराएँ किसी समय एक दूसरेसे सम्बन्धित हो गई हैं।[2] केवल शब्द-साम्यपर आधारित अन्य पुष्ट प्रमाणोंके अभावमें यद्यपि हल्लीसक और इलीशियनके सम्बन्धपर संदेह प्रकट किया जा सकता है किन्तु रासका सम्बन्ध, जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोंसे स्पष्ट है, आभीरों-जैसी किसी गोपालक जातिसे अवश्य जोड़ा जा सकता है।

वाणभट्टके हर्षचरितमें इस बातके प्रमाण मिल जाते हैं कि उस समय तक रास में नृत्यकी पूर्ण व्यवस्था आ गई थी और वह एक विशिष्ट नृत्यके रूपमें प्रचलित था। वाणभट्टने रासकमण्डलकी उपमा आवर्तसे दी है।[3] जन्मोत्सव वर्णनमें जिस धूमधामके साथ उन्होंने रासकमण्डलका उल्लेख किया है उससे प्रकट होता है कि उस समय रासक नृत्योंका सर्व साधारणमें व्यापक प्रचार था।

---

दामोदरः—घोषसुन्दरि। वनमाले। चन्द्ररेखे। मृगाक्षि।

घोषवासस्यानुरूपोऽयं हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्यताम्।

—भास नाटक चक्रम् (सी० आर० देवधर) पृष्ठ ५३९।

१. रास Is thus not to be derived from रस but from रास् a root which means to cry aloud, which may refer to be very primitive form of this dance when the proportion of music and artistic movements may not have been still realistic and when it must have been practised as wild dance.

(Types of Sanskrit Drama, p. 143. By D. R. Mankad)

२. हर्ष चरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३३, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल।

३. क्वचिन्नृपावला बलात्कारनर्त्यमाननृत्यस्यानभिज्ञान्तःपुरपालभावितभुजिष्यः सपर्वत इव कुसुमराशिभिः सधारागृह इव सीधुप्रपाभिः, सनन्दन वन इव पारिजातकामोदैः सनीहार इव कर्पूररेणुभिः साट्टहास इव पटहरवैः सामृतमंथन इव महाकलकलैः सावर्त इव रासकमण्डलैः, सरोमांचइव भूषणमणि 'किरणैः'···इत्यादि।

—हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्‌वास।

किन्तु हर्षचरितमें 'अश्लील रासक पदानि'का भी उल्लेख उसी वर्णन में आता है।[१] डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार यहाँ 'अश्लील रासक पदानि' का अभिप्राय स्त्रियों द्वारा गाए जानेवाले गीतोंसे हैं।[२] उक्त प्रसंगमें, कोमल आलाप करनेवाली स्त्रियोंके द्वारा विटोंके कानोंको अमृतकी भाँति अच्छे लगनेवाले 'अश्लील रासक पद' गाए जानेका वर्णन है। विट वस्तुतः कलाकुशल गणिकाओंकी सेवामें रहनेवाले वे नागरक होते थे जो कालान्तरमें दरिद्र हो जाते थे। जो हो, 'रासक पदानि'से इतना तो निश्चित ही हो जाता है कि बाणभट्टके समय तक 'रासक'में गेयतत्त्वका समावेश व्यापक रीतिसे हो गया था और रासकका गेय रूप उतना ही प्रचलित और लोकप्रिय था जितना कि उसका नृत्य रूप।

रास नृत्यके साथ उसकी गेयताका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें भी मिलता है। भागवतके दशम स्कन्धके तीसवें अध्यायमें एकाधिक बार 'रास' शब्द आता है।[३] रासमें संगीत और गानकी प्रधानता थी इस बातका पता श्लोकोंसे लग जाता है। एक श्लोक में गायन और एकमें तो ध्रुपदका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[४]

---

१. "पदे पदे झणझणित भूषणरवैरपि सहृदयैरिवानुवर्तमानताललयाः, कोकिला इव मदकलकाकली कोमलालापिन्यो **विटानां कर्णामृतान्यश्लील रासक पदानि गायन्त्यः।**"

वही।

२. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६७।

३. तत्रारमत गोविन्दो **रासक्रीडा**मनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥
**रासोत्सवः** सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

—भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ३३।२-३।

वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो **रास**मण्डले॥ —वही, ६।
काचिद्**रासपरिश्रान्ता** पार्श्वस्थस्यगदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका॥ —वही, ११।

४. पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कवररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो,
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रेविरेजुः॥ —वही, ८।
काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः

रास, रासकमें नृत्यतत्त्व और गेयतत्त्वका यह मिश्रण अगली कई शताब्दियों तक अस्पष्ट अनुपातमें बना रहा। इस बीचमें कर्पूरमंजरी (लगभग दसवीं शताब्दी तथा बारहवीं शताब्दीके जैन ग्रन्थोंमें) दण्डरास, लउडुरास, तालारासु आदि अनेक रासोंकी चर्चा मिलती है।[१]

लगभग इसी समयका एक चित्र ग्वालियर के बाग पेंटिंगमें मिलता है जिसे लगुड़ रासका चित्र कहा गया है।[२]

ज्ञात होता है कि इस कालमें रासक विविध रूपोंमें प्रकट होनेकी तैयारी कर रहा था। जैसा कि पहले देखा गया है कि रासक नृत्य तथा गेय पदोंके रूपोंमें वाणके समयतक लोक हृदय पर अधिकार कर चुका था। सातवीं शताब्दीसे लगभग दसवीं शताब्दीके अंततक रासक अपनेको अनेक रूपमें प्रकट करनेकी साधना कर रहा था। अप्रकाशित जैन ग्रन्थ 'खरतर-गच्छ पट्टावली'से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय जैन मन्दिरोंमें लगुडरास खेलनेकी आज्ञा नहीं मिलती थी[३] फिर भी जनतामें प्रसन्नता या विशेष अव-

---

उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव **ध्रवमुन्निन्ये** तस्यै मानं च वह्वदात्॥ —वही १०।

१. परिब्भमंतीउ विचित्तवधं हमाउ दो सोलह णच्चणीओ
खेलंत तालाणुगदप्पआओ तुहंगणे दीसदि **दंडरासो**॥ कर्पूर मंजरी, ४।१०
**लउडारसु** जहिं पुरिसुवि दिंतिउ वारियह, —चर्च्चरी छंद, १९।
**तालारासुवि** दिंति न रयणिहिं
दिवसि वि **लउडारसु** सहुं पुरिसिहिं
—उपदेश रसायन रास, छं० ३६।

२. यह चित्र ग्वालियरकी एक 'बाग गुफा' में मिला है। इसके विवरणका कुछ अंश इस प्रकार है:—

—We now come to the fourth scene plate D, consisting of a double group of female musicians. The left hand group comprises seven women standing around an eighth figure, evidently a dancer,........The next three musicians are each engaged in beating a pair of wooden sticks called danda in Hindi and tipri in Marathi." Painting by Dr. J. Ph. Vogel, p. 50.

३. स्त्रियोंका तो प्रश्न ही क्या, पुरुषोंको भी देवालयोंमें लगुडरासकी अनुमति न थी। इसके अनेक कारण थे। रास करनेवालोंकी चेष्टाएँ अधिकतर विटोंकी-सी होतीं, कभी-कभी प्रमादवश सिरमें चोट लग जाती पाठ भी भ्रष्ट होता।
—अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० १२।

सरों पर अनेक प्रकारके रासोंको खेलनेकी प्रथा थी।[१] इसी प्रकार १४ वीं शताब्दीकी बताई जानेवाली एक हस्तलिखित पुस्तक उपदेशगच्छपट्टावलीमें हल्लीसक, लगुडरासक और प्रेक्षणकका उल्लेख मिलता है।

११ वीं शताब्दी तक आते-आते 'रास' में गान तत्वकी प्रधानता होनेके प्रमाण मिलने लगते हैं। श्रीमद्भागवतमें 'रास' के साथ गाये जानेवाले ध्रुपदका उल्लेख किया जा चुका है। डा० दशरथ शर्माके अनुसार 'श्रव्य रासकी भी ११वीं शताब्दी तक उत्पत्ति हो चुकी थी। चर्चरी और रास नृत्योंके साथ लोग अनेक प्रकारकी देश्यभाषामें रचित गीतियाँ गाते। यही गीतियाँ चर्चरी और रासके नामसे प्रसिद्ध हो चलीं[२]।" शर्माजीने उदाहरणके लिए कर्पूर मंजरीके चतुर्थ जवनिकान्तरम्के अन्तर्गत विदूषक द्वारा वर्णित चर्चरीको प्रस्तुत किया है। इसमें विचित्र बन्धमें तालानुगत नाचती हुई बत्तीस नर्तकियोंको दण्डरास करते हुए वर्णित किया गया है। इसमें समबाहु समशीर्ष समाभिमुख आदि नर्तकियोंकी मुद्राओंका भी वर्णन है।[३] वर्णनके पूर्व 'ततः प्रविशति चर्चरी' आता है जिससे ज्ञात होता है कि वे नर्तकियाँ नृत्य करनेके साथ-साथ चर्चरी गा रही थीं। जनतामें चर्चरी और रास नृत्योंके समय शृंगार-परक चर्चरियाँ और रास गाये जाते रहे होंगे। गीत अपेक्षाकृत संप्रसरणशील होता ही है। धीरे-धीरे इन चर्चरियों और रासकोंमें नृत्यका तत्व कम और गानका तत्व बढ़ता गया। जनतामें इनका प्रचार देखकर जैनमतके प्रचारकोंने इन गीतियोंको अपने उपदेशोंका माध्यम बनाया। जनता रासकादिके साथ शृंगारी गीत गाती रही होगी और जैन मतावलम्बी उपदेशात्मक और धार्मिक गीत गाते रहे होंगे। डा० दशरथ शर्माके मतानुसार 'यह भी सम्भव है कि इन्हीं उपदेशबहुल रासोंके कारण गेयरास अन्ततः केवल श्रव्यमात्र रह गये। नृत्यसे उनका सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो गया[४]।

---

१. किंतु सब समय और सब तरहके रास वर्जित न थे। जैनाचार्य जब किसी नगरमें प्रवेश करते या किसी प्रतिद्वन्द्वीको शास्त्रार्थमें पराजित करते तो श्रावकगण प्रसन्न होकर अनेक रासोंकी योजना कर आनन्द मनाते।
खरतरगच्छपट्टावली—जिनपतिसूरिका जीवन।
(रासोके अर्थका क्रमिक विकास : साहित्य सन्देश, डा० दशरथ शर्मा, जुलाई १९५१, से उद्धृत)।

२. रासोके अर्थ क्रमिक विकास : साहित्य सन्देश, जुलाई १९५१।

३. समं ससीसा समबाहु हत्था रेहाविसुद्धा अवराउदेंति।
पंतीहिं दोहिं लअतालबंधं परीप्परं साहिमुही हुवन्ति॥ —कर्पूर मंजरी, ४।११

४. रासोके अर्थका क्रमिक विकास, साहित्य सन्देश जुलाई १९५१।

इस प्रकार ११ वीं शताब्दीतक रासमें नृत्य तत्वका अभाव और गेय तत्वका यथेष्ट समावेश हो गया। किन्तु लोक सम्पर्क कभी किसी वस्तुको स्थिर नहीं रहने देता। १२ वीं शताब्दी ई० के जैन आचार्य हेमचन्द्रने 'रासक'की गणना गेय उपरूपकोंमें की है।[१] उन्होंने प्रेक्ष्य काव्यके अन्तर्गत गेय उपरूपकोंके डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंग, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड़, हल्लीसक रासक, गोष्ठी आदि भेद गिनाए हैं। टीकाके अनुसार ये गेय उपरूपक तीन प्रकारके होते थे मसृण, उद्धत और मिश्र। डोम्बिका शुद्ध मसृण थी। भाणक उद्धत था। मसृणमें उद्धत मिले रहनेवाले कुछ उपरूपक होते थे। उनमेंसे कुछमें उद्धत कम रहता था कुछमें अधिक। जैसे प्रस्थानमें उद्धतकी मात्रा कम होती थी और शिंगटकमें अधिक। इसी प्रकार उद्धतमें भी मसृणका न्यूनाधिक मिश्रण रहता था। प्रेरण रामाक्रीड़, हल्लीसक आदि ऐसे ही उद्धत प्रधान गेय रूपक हैं जिनमें थोड़ा-बहुत मसृणका भी प्रवेश हो जाता है।[२] 'सो रासक इसी प्रकारका एक उद्धत प्रधान गेय उपरूपक है। इसमें (रासकमें) बहुत-सी नर्तकियाँ विचित्र ताल लयके साथ योग देती थीं'।[३]

हेमचन्द्राचार्यके अतिरिक्त लगभग १४ वीं शताब्दीके विश्वनाथ कविराजके साहित्य दर्पणमें नाट्य रासक और 'रासक' नामक दो उपरूपकोंके लक्षण मिलते हैं।[४] नाट्य रासक और रासक दोनोंके लक्षणोंमें अंक-नायक, नायिका संधि

---

१. गेयं डोम्बिका भाण प्रस्थान शिंगकभाणिका प्रेरण रामाक्रीड़ हल्लीसकरासक गोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि।

—काव्यानुशासन, ८।४

२. मसृणेति—त्रिविधो हि गेयकाव्यस्य प्रयोगः। मसृण उद्धतो मिश्रश्च। तथा हि—डोम्बिकासु नटपति चाढुक प्राधान्येन प्रवृत्तासु सुकुमारमेवशुद्धं रूपं। भाणकेषु नृसिंहादि चरितवर्णने उद्धतमेव। यत्पुनर्मसृणे प्युद्धतं प्रविशति तदुचितमेव। तत्राप्यल्पत्व बहुत्वकृतो-भेदः। पूर्वं प्रस्थान प्रबन्धः। उत्तरः शिंगटभेदः। उद्धते तु मसृणानुप्रवेशाद् भाणिकाभेदः। अन्यदपि प्रेरण रामाक्रीड़ रासक हल्लीसकादिकमल्पत्व बहुत्ववैचित्र्य-कृतमिहैव प्रविष्टं वेदितव्यम्।

—काव्यानुशासनम्. टीका पृ० ३९२।

३. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६०।

४. नाट्यरासकमेकांकं बहुताललयस्थिति।
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम्॥
हास्योऽङ्गयत्र सश्रृंगारो नारी वासकसज्जिका।
मुखनिर्वहणे संधी लास्यांगानि दशापि च॥
केचित्प्रतिमुखं संधिमिह नेच्छन्ति केवलम्।

—साहित्य दर्पण षष्ठ, परिच्छेद।

आदि गिनाये गये हैं। 'साहित्य दर्पण'में नाट्य रासकके उदाहरण स्वरूप 'नर्मवती' (दो संधियोंवाली) 'विलासवती' (चार संधियोंवाली) नामक पुस्तकें दी हुई हैं तथा रासकका उदाहरण 'मेनकाहितम्' दिया हुआ है।

'नाट्य दर्पण'में रासक, नाट्य रासक और भावप्रकाशमें नाट्यरासककी परिभाषाएँ मिलती हैं।[१]

संस्कृत नाटकोंके मर्मज्ञ विद्वान डा० कीथने नाट्यराशकको 'समूह नृत्य' और ताल नृत्य (?) कहा है।[२]

इन लक्षणोंसे यह भलीभाँति प्रकट होता है कि ईसाकी बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक 'रासक' का रूपकके रूपमें यथेष्ट प्रचार हो गया था।

ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दीके इधर इन गेय उपरूपकों और नाट्य रासकोंसे धीरे-धीरे ऐसे रासकोंका विकास हुआ जिनमें कथातत्वका भी समावेश हो चुका था। नृत्य-गान प्रधान रासकोंसे जिस प्रकार रूपक तत्व प्रधान रासकों का भी विकास हुआ। नृत्यके स्थान पर गानकी प्रधानता होनेपर उसमें कथा-तत्व निरन्तर बढ़ता गया होगा। धीरे-धीरे इनमें नृत्यगानका अंश अपेक्षाकृत

---

रासकं पंच पात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारती कैशिकीयुतम्॥
असूत्राधारमेकांकं सवीथ्येगं कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते॥

—वही।

१. षोडशद्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।
पिंडी बन्धादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्॥
पिंडनात् तु भवेत् पिंडी गुम्फनाच्छृंखला भवेत्।
भेदनाद् भेद्यको जातो लता जालापनोदतः॥
कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते।
रामान् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥

—नाट्यदर्पण, ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, पृ० २१४-२१५।

अथ रासमेकांकं सूत्रधारेण वर्जितम्। सुश्लिष्ट नांदीयुक्तं पंचपात्रं त्रिसंधिकम्। वीथ्यंगमंडितं मुख्यनायकं ख्यात नायिकम्। गर्भावमर्शशून्यं च कलापोद्देशभूषितम्। उदात्तभावविन्यास भूषितं सोत्तरोत्तरम्। एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन।

—भावप्रकाश, पृ० २६९।

2. The Natyarasaka a ballet and pentomime.

—The Sanskrit Drama, p. 351.

कम होता गया। कथा अंश प्रधान होते ही इसका उपयोग लोग अनेक रूपोंमें करने लगे। शृंगारपरक कथाएँ तो उसमें रची ही जाने लगीं जैन साधुओंने सरस कथायुक्त रासोंको अपने उपदेशोंका भी माध्यम बनाया। किस्से कहानियोंके माध्यमसे उपदेश देनेकी प्रथा तो पहलेसे थी ही, अब उन्हींको जैन उपदेशक 'रासा बन्ध'में अर्थात् कथाको विविध छन्दोंमें बाँधकर सामने लाने लगे जो प्रचारकी दृष्टिसे निश्चित रूपसे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। १२ वीं शताब्दीके बाद कथा-प्रधान रास रासक बड़ी संख्यामें मिलने लगते हैं। ये रास विविध उद्देश्योंको सामने रखकर लिखे गए हैं। मुख्य रूपसे इन्हें दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—जैन रास और अन्य रास। जैन रासोंमें उपदेशात्मक कथाएँ हैं। किन्तु अन्य रासोंमें शृङ्गारपरक और व्यक्तिपरक रचनाएँ हैं। शृंगारपरक रासकोंमें प्रेम और संयोग-वियोगकी कथाएँ होती थीं और व्यक्तियोंके नामसे लिखे जानेवाले रासकोंमें प्रायः आश्रयदाता शासकोंकी वीरताका गुणगान होता था।

इन रासकोंके काव्यरूपके विषयमें हमें थोड़ी-सी जानकारी विरहांक और स्वयम्भू दो अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियोंसे मिलती है। विरहांकने 'वृत्तजातिसमुच्चय में और स्वयम्भू ने 'स्वयंभू छन्दस्' में इस प्रकार विचार किया है।[१] 'वृत्तजाति समुच्चय' के चौथे अध्यायमें २७ से ३८ वें छन्द तक विरहांकने अपभ्रंश छंदोंके लक्षण दिये हैं। इसमें दोहा, मागधिका, मात्रा, रड्डा, अडिल्ला और ढोसापर विचार करनेके उपरान्त ३७ वें और ३८ वें छंदोंमें रासककी परिभाषा दी गई है। इनसे पता चलता है कि विरहांकको दो प्रकारके रासकोंकी जानकारी थी। ३७ वें छंदके अनुसार रासकमें विस्तारितक और द्विपदी होते हैं तथा उसका समापन विदारीसे होता है। किंतु ३८ वें छंदमें कहा गया है कि रासक अनेक अडिलों, दुवहओं, मात्राओं, रड्डाओं और ढोसाओंसे मिलकर बनता है। 'स्वयंभू छंदस्' के ८ वें अध्यायके ४९ वें छंदसे विदित होता है कि रासाबन्ध अपने घत्ताओं, छड्डणिआओं, पद्धड़िआओं तथा अन्य सुंदर छंदोंके साथ मिलकर अत्यन्त जनप्रिय होता है। किंतु इसके तुरन्त बाद वे २१ मात्राओंवाले 'रासा' नामक एक छन्दकी परिभाषा देने लगते हैं। श्री हरिवल्लभ भायाणीका अनुमान है कि 'रासाबन्ध' में रासा छन्दोंकी प्रमुखता रहती थी।

किन्तु यह रासा छन्द क्या है? ज्ञात होता है कि रासमें गानका तत्व निरन्तर बढ़ते रहनेसे उस विशिष्ट गानको ही लोग 'रासा' कहने लगे और उस गानका छंद 'रासा छंद' हो गया।

१. श्री हरिवल्लभ भायाणी द्वारा संपादित संदेशरासक पृ० ७६ के आधारपर।

रासग्रन्थोंमें सचमुच इस छन्दकी प्रमुखता दिखलाई पड़ती है। पुस्तकके शीर्षकमें ही किसी छन्दका नाम देखकर यह समझ लेना चाहिए कि इस पुस्तक में इसी छन्दकी विशेषता है। वस्तुतः इन सभी काव्योंमें कथानक आदि बिल्कुल एक ही कोटिके हैं। इन सभीमें वर्णन-प्रणाली और आदि-अन्त बहुत कुछ समान हैं। ज्ञात होता है कि इस कोटिकी पुस्तकोंके नामकरणमें छंद ही निर्णायक होते थे। बात यह थी कि ये ग्रन्थ जनतामें प्रचलित होते थे, जनता इन्हें गाती थी। ऐसी परिस्थितिमें पुस्तकोंके साथ छंदोंका नाम जुट जाना स्वाभाविक था।

इतना व्यापक हो जानेपर रास-रासक ग्रन्थोंमें विषयोंकी सीमाका बन्धन नहीं रह गया। जनता अपने दुख सुख, मनोरंजन, धार्मिकता, वीरपूजा आदि सभी कुछका प्रकटीकरण अपनी प्रिय और परिचित प्रणालीमें ही करती है। इसे आल्हाके उदाहरणसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। आल्हा नायकका नाम है, ग्रन्थका नाम है और छंद विशेष तो वह है ही। आल्हामें मूलतः आल्हा ऊदलके पराक्रमका वर्णन था। किंतु रामकथा कृष्णकथा ही नहीं आधुनिक कालमें स्वतन्त्रता आन्दोलनकी अनेक घटनाओंको भी आल्हा छंदमें बाँधकर उन्हें आल्हा कर दिया गया है। इसी प्रकार अहीरोंके बिरहामें केवल शृंगार धर्म, उपदेश और जनकथाएँ ही नहीं गाई जातीं अपितु नित्यप्रति ऐसे बिरहे बनते रहते हैं जिनमें आधुनिक जीवनका स्पंदन मिलता है। इसी प्रकार प्रेम धर्म उपदेश और वीरता आदिको उद्देश्य बनाकर रचे हुए अनेक रास-रासक-रासो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जैन रासोंकी चर्चा पहले हो चुकी है। लौकिक रासकोंका कालान्तरमें प्रमुखतः दो दिशाओंमें विकास हुआ। वीरतापरक रास, रासोके रूपमें तथा लौकिक प्रेमगाथात्मक रास, रासकमें। प्रथमके प्रमुख उदाहरण पृथ्वीराज रासो तथा परमालरासो हैं और दूसरेका सन्देशरासक।

बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके पश्चात् रास ग्रन्थोंकी भरमार हो जाती है। ज्ञात होता है कि १४ वीं शताब्दीतक रासक काव्य रूप प्रायः समस्त उत्तरभारतमें लोकप्रिय हो गया था। १४ वीं शताब्दीकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वर्णरत्नाकर' में[२]

---

१. वही पृष्ठ ७७।

1. "The importanee of the V. R. as being one of a comparatively small number of authentic works in a modern Indo-Aryan language which goes back to the 14th century, may well be realised in discussing the development of Modern Indo Aryan"—S. K. Chatterji : Varnratnakar, Introduction, p. XXXVI.

'रासय' का उल्लेख 'नृत्य वर्णन' के अन्तर्गत आता है।[१] इससे प्रकट होता है कि उस समयतक मिथिलामें भी रास पहुँच गया था। फिर भी यह आश्चर्यकी बात है कि अब तक प्राप्त होनेवाले सभी रास ग्रन्थ पश्चिमी भारतसे ही प्राप्त हुए हैं। किन्तु पश्चिमी भारत केवल इस विषयमें ही नहीं कई अन्य प्रकारकी साहित्यिक निधियोंको सुरक्षित रखनेमें सौभाग्यशाली रहा है। जैन मतावलम्बियोंके धर्म-प्रेम ने अतुल जैन साहित्यकी सुरक्षा की है। इस सुरक्षित साहित्य का ही फल है कि इतिहाकारोंको उच्छ्वसित भावसे हिन्दीके लिए जैन साहित्यका इतना महत्व स्वीकार करना पड़ा है।[२]

प्राप्त रास ग्रन्थों, जिनकी संख्या एक सहस्रके लगभग बताई जाती है,[३] का डा० दशरथ ओझाने कथानकके आधारपर निम्नलिखित विभाजन किया है[४]।

१—धार्मिक

२—ऐतिहासिक, जैसे विजय तिलक सूरि रास

३—पौराणिक, जैसे नल दमयन्ती रास

४—आध्यात्मिक, जैसे कर्म विपाक रास

५—नैतिक, जैसे उपदेश रसायन रास

६—लौकिक प्रेम तथा व्यवहार सम्बन्धी, जैसे रोहिणीया चोर रास, ताला रास, लगुड रास।

ओझाजीने धार्मिक रासका उदाहरण देनेकी आवश्यकता कदाचित् इसलिए नहीं समझी है कि जैन साधुओं द्वारा लिखे गये सभी रास धार्मिक ही हैं जैसे जम्बू स्वामी चरिउ, गयसुकुमारास, नेमिरास आदि। लौकिक रस परक रासोंके विपरीत ऐसे जैन मन्दिरोंमें खेले जा सकते थे। इन्हें प्रदर्शित करनेवाले भी जिन सेवक हुआ करते थे।[५]

ओझाजीने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास'में यह प्रतिपादित

---

१. राज्य द्विधह नृत्यक कुशल, पृष्ठ कल्लोल नृत्य वर्णन, वही।

२. अतएव भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे ही नहीं वरन् हिन्दीके प्रारंभिक रूपका सूत्रपात करनेमें भी जैन साहित्यका महत्व है।

डा० रामकुमार वर्मा : हिंदी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास पृ० ७४।

३. इस प्रकार सम्पूर्ण रास ग्रन्थोंकी गणना करना तो दुष्कर कार्य है। हाँ उपलब्ध रास ग्रन्थोंकी संख्या न्यूनाधिक एक सहस्र तक पहुँच जाती है।

—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृ० ९१, डा० दशरथ ओझा।

४. वही पृ० ५३९।

५. वही पृ० ५३८।

किया है कि रास ग्रन्थ दृश्य हुआ करते थे।[१] सन्देश रासकमें सामोर नगर वर्णनके अन्तर्गत एक छन्दमें रासका वर्णन इस प्रकार आता है—

कह्व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ।
कह बहुरुविणिवद्धउ रासउ भासियइ।।[२]

टिप्पनकमें 'भासियइ' की टीका 'भाष्यते' दी हुई है[३] और श्री भायणीजीने उसका सीधे 'रंगमंचपर खेला जाता था' अर्थ कर दिया है।[४]

इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्राचीन 'रासों' में रूपकके कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य थे। हेमचन्द्रने भी उनकी गणना उपरूपकोंमें की है।[५] किन्तु उन्हें उपरूपक ही समझना चाहिए, रूपक नहीं। रूपक नाट्यके भेद माने जाते हैं और उपरूपक नृत्यके। किसी भी रास, रासक ग्रन्थमें जवनिका आदिका उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त संदेशरासकके कविने प्रारम्भमें ग्रन्थके पढ़ने-वालोंकी योग्यता बताते और अन्तमें आशीर्वाद देते समय पढ़ने और सुनने-वालोंकी ही चर्चा की है।[६] डा० ओझाने सुझाया है कि रास 'अभिनय कलाकी सहायतासे दृश्यकाव्यमें परिणत श्रव्यकाव्य रहे होंगे।'[७] ओझाजीने कुमारपाल रास और 'शत्रुंजय रास' को पाठ्यरासो बताया है।[८] इन पाठ्यरासोंमें निश्चित ही कथाका अंश और कोटिके रासोंसे अधिक रहता होगा क्योंकि उनमें नृत्यगानका आकर्षण न रहनेके कारण केवल मनोरंजक कथाओंका ही आकर्षण पाठकके लिए बच रहता था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके अनुसार "धीरे-धीरे इन शब्दोंका प्रयोग कुछ विसे अर्थोंमें होने लगा। जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, 'रूपक' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गये।[९]" कालान्तरमें रास, रासो नाम देकर चरितकाव्य ही लिखे जाने लगे और इनका पूर्वरूप (अभिनेय, गेय) धीरे-धीरे

१. वही पृ० ८८।
२. सन्देश रासक २।४३।
३. वही पृ० १९।
४. वही पृ० ८०।
५. काव्यानुशासन, ८।४।
६. सदेशरासक : २१, २२, २२३।
७. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ९१।
८. वही पृ० ५३९।
९. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पृ०

बिल्कुल भुला दिया गया। यही कारण है कि प्राप्त रास, रासक, या रासो ग्रन्थोंमेंसे अधिकांश चरितकाव्य ही हैं परवर्ती कालसे रास, रासक शब्द भी क्रमशः कम होते गये और 'रासो' नामसे ही चरितकाव्योंका नामकरणकी परिपाटी चल पड़ी। इसी कारण बहुत दिनों तक लोगोंको यह विश्वास था कि वीरचरितात्मक काव्य रासोके नामसे जाने जाते थे जैसे पृथ्वीराजरासो, खुमान-रासो, रायमलरासो, राणारासो, संगतसिंहरासो, रतनरासो इत्यादि और रास रासक नामान्त ग्रन्थ शृङ्गारपरक या धार्मिक होते थे जैसे बीसलदेव रास (जो चरितकाव्य होनेपर भी शृङ्गारपरक है) सन्देशरासक, उपदेश रसायनरास, कर्मविपाकरास आदि। किन्तु बादमें इस धारणाका निराकरण हो गया क्योंकि 'रास' नामसे भी वीरता प्रधान चरितकाव्य मिलते हैं जैसे 'दशार्णभद्ररास,' 'शत्रुंजयरास' और 'भरतेश्वरबाहुबलिरास'। इससे प्रकट हो गया कि वस्तुतः रास, रासक रासोमें काव्यरूपकी दृष्टिसे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। रासमें स्वार्थक 'क' प्रत्यय जुट जानेसे 'रासक' और रासकसे रासअ रासउ या रासय फिर रासउ से रासो का शब्दविकास स्वाभाविक रूपसे हो गया। रासय, रासा, रासउ सभी शब्द इस काव्यरूपके लिए प्रयुक्त मिलते हैं। किन्तु जैसा कि हमने पिछले अध्यायके अन्तर्गत रासके क्रमिक विकास पर विचार करते हुए देखा है, समयके साथ-साथ रास, रासकके अभिधेयमें अन्तर पड़ता गया है। अतएव कालका ध्यान रखकर, रास, रासक, रासा, रासो शब्दोंके अर्थोंमें अन्तर समझा जाय तो अनुचित नहीं होगा।

इस बातका संकेत पहले किया जा चुका है कि रास, दूहा, चउपइ, चर्चरी आदि नामोंसे मिलनेवाले तत्कालीन रचनाओंमें छंद प्रधानताके अतिरिक्त कोई तात्विक अन्तर नहीं है। इस प्रकारकी रचनाओंमें साधारणतः ग्रन्थ प्रारम्भ करने तथा अन्त करनेकी पद्धति समान पाई जाती है। उदाहरणके लिए नीचे कुछ रचनाओंके प्रारम्भिक और अन्तिम छंद दिये जा रहे हैं।

रेवतंगिरि रासु[१]

प्रारंभ—परमेसर तित्थेसरह पथ पंकय पणमेवि।
भणिसु रासु रेवतंगिरे अंबिकदिवि सुमरेवि॥
अंत—रंगिहि ए रमइ जो रासु सिरि विजय सेणिसूरि निम्मविउए
नेमिजिणु तूसइ तासु अंबिक पूरइ मणि रलीये।

---

१. रेवतंगिरि और शेष पुस्तकें प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज वाल्यूम १३, में संकलित है।

समरा रासु—

प्रारंभ—पहिलउ पणमिउ देव आदीसर सेतुज सिहरे,
अनुअरिहंति सव्वेवि आराहउं बहुभत्ति परे।
अंत—एहु रासु जो पढ़इ गुणइ नाचिउ जिण हरि देइ
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ जाय फल लेई॥

चर्चरिका—

आरंभ—जिण चउबीस नमेविणु सरसइ पद पणमेवि।
आराहउं गुरु अप्पणउ अविचलु भाजु धरेवि। आदि

जहाँ तक इन रचनाओंमें कथा तत्व का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि वीरता प्रधान चरित काव्यों में तो कथातत्वकी प्रधानता रहती ही थी किंतु श्रृंगारपरक अथवा उपदेशात्मक रचनाओंमें मुख्य ध्यान श्रृंगार वर्णन तथा उपदेश या धार्मिकतापर ही रहता था कथा अंश पर नहीं। जैन साधु अपनी रचनाओंके लिए प्रायः धर्म ग्रन्थोंका आश्रय लेते थे। कभी-कभी वे लोक प्रचलित कथाओंको भी धार्मिकतामें रंग कर उपस्थित करते थे किन्तु श्रृंगारात्मक रास प्रायः लोक जीवनमें प्रचलित कहानियोंके आधारपर रखे जाते थे। पश्चिमोत्तरीय भारत अपनी प्रेमात्मक निजंधरी कथाओंके लिए प्रसिद्ध है। पंजाबी लोकगीत प्रेम गाथाओंकी दृष्टिसे अत्यन्त समृद्ध है। हीर-रांझाकी प्रसिद्ध निजंधरी कथाकी मूलभूमि मुल्तानके आस-पासका ही प्रदेश है। तात्पर्य यह कि वह प्रदेश निश्छल प्रेम कथात्मक रचनाओंके लिए अत्यन्त उर्वर है।

संदेशरासक इसी प्रकारकी प्रचलित प्रेमगाथाके आधारपर रचित है इस पुस्तकका भी आदि अंत बिल्कुल उसी प्रकारका है जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आए हैं। संदेशरासक इस प्रकार प्रारंभ होता है—

रयणायर धर गिरितरुवराइं गयणं गणंमि रिक्खाहँ।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो बुहयण वो सिवं देउ॥[1]

और अंत भी पाठकोंकी शुभकामनाके साथ परिचित प्रणालीपर हुआ है—

जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धुखणद्धि महंतु।
तेम पढत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु॥[2]

हम आगे संदेशरासकके काव्य रूप पर विचार करते समय देखेंगे कि संदेश-रासकमें कथाका तत्व अत्यल्प है। कविने लोक जीवनसे उद्भूत स्वच्छंद और अकृत्रिम कथाके आधारपर अपने काव्यकी रचना की है।

---

१. संदेश रासक १।१
२. वही ३।२२३

## संदेशरासक—कृति, कवि और रचनाकाल

संदेशरासकको प्रकाशमें लानेका श्रेय अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंके उद्धारकर्ता और अपभ्रंश भाषाके प्रसिद्ध पंडित श्री मुनि जिनविजयजीको है। सन् १९१२ ई० में उन्होंने पाटन स्थित जैन-भण्डारोंमें हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थोंकी खोज प्रारम्भ की और उसी समय इस पुस्तककी एक प्रति उन्हें प्राप्त हुई। मुनिजीकी कुशल दृष्टिने इस पुस्तकका महत्त्व तुरन्त आँक लिया। किन्तु प्राप्त प्रतिमें मूल पाठकी अवचूरिका अथवा संस्कृत छाया जैसी कोई वस्तु नहीं थी। अतएव अन्य स्थानोंसे संदेश-रासककी और प्रतियाँ पानेकी आशामें मुनिजीने इसके प्रकाशनको कुछ देरके लिए स्थगित रखना ही उचित समझा। सन् १९१८ ई० में पूना स्थित भण्डारकर रिसर्च इन्सटीट्यूटके अन्तर्गत राजकीय हस्तलेख संग्रहके जैन-विभागकी जाँच करते समय उन्हें संदेशरासककी दूसरी प्रति मिली। सौभाग्यवश इस प्रतिमें मूलपाठकी संस्कृत छाया 'अवचूरिका' नामसे दी हुई थी। इस बीच मुनिजीने 'संदेश-रासक' की प्राप्तिकी सूचना यशस्वी जर्मन विद्वान याकोबीको दे दी थी। जर्मनी जानेके पूर्व मुनिजीने संदेशरासककी नकल अपने हाथों कर ली और उसे याकोबीको दिखाया भी। याकोबीने उसपर अपनी विस्तृत सम्मति भेजनेको कहा परन्तु अधिक आवश्यक कार्योंमें व्यस्तत रहनेके कारण याकोबी अपना समय इसके लिए न दे सके। सन् १९३८ ई० के आसपास मुनिजी दोनों प्रतियोंके आधारपर संदेशरासकका सम्पादन करनेके लिए सन्नद्ध हो चुके थे और हिन्दी गुजरातीमें निकलनेवाली 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिकामें इसका सम्पादित रूप क्रमशः प्रकाशित करनेवाले थे। किन्तु इसी समय उन्हें मारवाड़ स्थित लोहावतके आचार्य श्री जिनहरि सागरजीके भण्डारसे 'संदेशरासक' की तीसरी प्रति प्राप्त हुई। इसमें मूलपाठके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्तिकी लिखी टिप्पण रूपमें संस्कृत टीका भी दी हुई थी। इस प्रकार इन तीनों हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर मुनिजीसे इसका संपादन प्रारम्भ किया और अपभ्रंश भाषाके एक अन्य विद्वान श्री हरिवल्लभ भायाणीकी विशद विवेचना सहित संदेश-रासक सिंघी जैनग्रन्थमालाके अन्तर्गत सन् १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ।

मुनिजीने संदेशरासककी भूमिकामें तीनों हस्तलिखित प्रतियोंका जो ब्यौरा दिया है वह संक्षेपमें इस प्रकार है—

### पूनेवाली प्रति—

इसमें कुल बारह पत्र हैं। प्रतिलिपिकी तिथि नहीं दी हुई है। मुनिजीका अनुमान है कि यह लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व लिखी गई होगी। इसकी लिपि

जैन देवनागरी है। मूलपाठ अपेक्षाकृत बड़े अक्षरोंमें लिखा गया है और प्रत्येक पंक्तिके ऊपर दो लघु अक्षरोंमें संस्कृत अनुवाद 'अवचूरिका' के नामसे दिया गया है। मुनिजीका कहना है कि 'अवचूरिका' का लेखक अनुमानतः मूलपाठके लिखनेवालेसे भिन्न व्यक्ति है। उसने संभवतः अपने सुविधाके अनुसार 'अवचूरिका' लिखी है। इस प्रतिके अन्तमें 'इत्यवचूरिः संदेशरासकं समातं। पं० नयसमुद्रेण लिखितं लिखा है। किन्तु मुनिजीका कथन है कि कई जैनसाधुओंका नाम नयसमुद्र था। यही नहीं उनके नामसे लिखे गए प्राचीन गुजरातीमें कई ग्रन्थ भी मिलते हैं।

विद्वान् संपादकने लक्षित किया है कि लिपिकारने प्रमादवश एकाध ऐसे छन्दोंको भी मूलपाठके अन्तर्गत गिन लिया है जो केवल किसी विशेष छन्दकी परिभाषा देनेके लिए मूलपाठके इधर-उधर किसीने लिख दिए होंगे। उन्होंने अपने तर्कके प्रमाणमें बताया है कि एक परिभाषात्मक छंदमें तो 'नंदड्ढ' नामक कविका नाम भी आया है जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यह छंद 'नंदड्ढ' नामक व्यक्ति द्वारा लिखित किसी छंदःशास्त्रीय ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है। लिपिकारने छंदोंकी क्रमसंख्या देनेमें भी त्रुटि कर दी है और अंतिम छंदकी संख्या २२३ के स्थानपर २१६ दी है।

जहाँतक क्रमसंख्याका प्रश्न है, लिपिकारका प्रमाद स्पष्ट है, किन्तु परिभाषात्मक छंदोंकी समस्यापर एक और दृष्टिसे विचार किया जा सकता है। अपभ्रंश साहित्यमें बीच-बीचमें छंदोंके लक्षण देते रहनेके उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। 'पृथ्वीराजरासो'में भी कवि कभी-कभी किसी छंदको प्रयोगमें लानेके पूर्व उसका लक्षण दे देता है।[1] केवल 'नंदड्ढ' नाम आनेसे बलपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह छंद संदेशरासककारका न होकर 'नंदड्ढ' का ही है। ऐसा भी तो हो सकता है कि कवि वहाँ 'नंदड्ढ'की केवल साक्षी दे रहा हो अर्थात् वह अपनी कवितामें इस छंदविशेषका लक्षण प्रस्तुत करते समय 'नंदड्ढ' नामक किसी आचार्यका केवल मत बता रहा हो।

## लोहावतकी प्रति—

इस प्रतिमें कुल २८ पन्ने हैं। लिपिकारका नाम नहीं दिया हुआ है।

१. कविचंद सुबरनं करै सुकरनं सूरह लरनं भर भिरनं।
तिरभंगी छंदं नाग नरिंदं कथ्थ करिंदं दुषहरनं॥
पठमं दह मत्ता, पुनि अठमत्ता, असु वसु मत्ता रस मत्ता॥
घन घाइ सघत्ता सूर सरत्ता मैगल मत्ता करि धत्ता॥
—पृथ्वीराजरासो—शशिव्रता विवाह प्रस्ताव

किन्तु उसने यह बता दिया है कि इसका लेखनकार्य हिसार दुर्गमें बुधवार, शुक्ल पक्ष, अष्टमीको समाप्त हुआ था।

इस प्रतिमें मूल पाठके अतिरिक्त छोटी-सी संस्कृत टिप्पणी भी दी हुई है। फिर भी इस टिप्पणीमें पूनेवाली प्रतिकी 'अवचूरिका'से थोड़ी अधिक व्याख्या दी गई है। मुनिजीने लिखा है कि इसके लिपिकारका संस्कृत-ज्ञान अत्यन्त सीमित प्रतीत होता है, क्योंकि टिप्पणीको लिपिबद्ध करनेमें व्याकरण सम्बन्धी, और लिखावटमें कई त्रुटियाँ रह गई हैं।[1] केवल अतिम दो छंदोंसे टिप्पणीकारके विषयमें कुछ संकेत मिलता है। लक्ष्मीचन्द्र नामक, प्राग्वाट् वंशोद्भूत जैन साधुने यह टिप्पणी वैक्रम संवत् १४६५ में लिखी। वे रुद्रपल्लीयगच्छ देवेन्द्र सूरिके शिष्य थे। उनके पिताका नाम हलिग और माताका नाम तिलखु था। अंतिम छंदमें टिप्पणीकारने स्वीकार किया है कि उसने न तो संदेशरासककी कोई टिप्पणी या अनुवाद ही देखा है, न किसी अध्यापकसे इसका अध्ययन किया है और न सीधे रचयिताके ही मुखसे इसे सुना है। जो कुछ गाहड़ नामक क्षत्रियके मुखसे इस काव्यकी व्याख्या सुनी उसे ही वर्तिकाके रूपमें उसने प्रस्तुत कर दिया।[2] मुनिजीका अनुमान है कि पूनेवाली प्रतिकी अवचूरिका संभवतः इसी टिप्पणीके आधारपर लिखी गई है।[3] लक्ष्मीचन्द्रने लिखा भी है कि संदेशरासककी कोई टिप्पणी अथवा अनुवाद उन्हें देखनेको नहीं मिला था। फिर भी यह पूर्ण विश्वासके साथ कहना कठिन है कि संदेशरासककी सर्वप्रथम व्याख्या अथवा टिप्पणी लक्ष्मीचन्द्रने ही लिखी क्योंकि किसी वस्तुका न प्राप्त होना ही उस वस्तुके न होनेका निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता।

इस प्रतिके मूल पाठ और टिप्पणीको देखनेसे ज्ञात होता है कि टिप्पणी करते समय इस प्रतिके ही पाठका सर्वत्र अनुसरण नहीं किया गया है। इस तथ्यको दृष्टिमें रखकर मुनिजीने अनुमान किया है कि टिप्पणी कदाचित् दूसरे पाठको आधार बनाकर लिखी गई है। किन्तु इस विषयमें यह भी सम्भव है कि लक्ष्मीचन्द्रने भ्रमवश कुछकी कुछ टिप्पणी कर दी हो, क्योंकि यह तो कहा ही जा चुका है कि टिप्पणीकारको संस्कृत भाषाका सम्यक् ज्ञान नहीं था। फिर गाहड़से सुनने और लिपिबद्ध करनेमें थोड़ा-सा अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है।

---

१. संदेशरासक, प्रिफेस, पृ० ७।

२. किन्तु क्षत्रिय गाहडस्य मुखतो, या या प्र (च ?) वृत्ति ( : ) श्रुता।
मा (सा) साह्यत्र विमूढ़मतिना, वार्ता निबद्धा ननु ॥
—संदेश० पृ० ९० टिप्पनक।

३. संदेशरासक, प्रिफेस, पृ० ८।

## पाटन भण्डारवाली प्रति—

मुनिजीको सर्वप्रथम यही प्रति प्राप्त हुई थी जिसका उपयोग उस समय वे किसी टीका या छायाके अभावमें नहीं कर सके थे। इसमें कुल १७ पत्र हैं। लिपि जैन देवनागरी है। इसके लिपिकारका नाम मुनि मानसागर था। मुनि मानसागरके गुरुका नाम भी दिया हुआ है किन्तु उसका कुछ अंश किसीने मिटा दिया है। केवल उपाध्याय 'देवसागर' 'भट्टारक' मात्र पढ़ा जा सका है। लिपिकालकी कोई सूचना नहीं दी गई है। मुनिजीका कथन है कि इस प्रतिकी अवस्था देखते हुए इसका लिपिकाल वैक्रम सं० १७०० और १७५० के मध्यमें कभी होना चाहिए। इस प्रतिमें केवल मूल पाठ दिया हुआ है।

## बीकानेरकी प्रति—

जिस समय सन्देशरासकका मुद्रण-कार्य लगभग समाप्त हो गया था उस समय श्री अगरचन्द नाहटाने इसकी एक और प्रति मुनिजीके पास भेजी। यह प्रति अपूर्ण थी। इस प्रतिमें केवल ७ पन्ने मिलते हैं। इसमें वार्तिका दी हुई है जो पूनेवाली प्रतिकी अवचूरिकासे बहुत मिलती-जुलती है। इसका प्रथम छन्द लक्ष्मीचन्द्रकी टिप्पणीके प्रथम छन्दसे ज्योंका त्यों मिलता है। केवल चतुर्थपादके अन्तमें 'कुरुते मुनि पुंगवः के स्थानपर 'कुरुते लब्धिसुन्दरः' पाठ मिलता है। इससे प्रकट होता है कि इस वर्तिकाकी रचना लब्धिसुन्दर नामक व्यक्तिने की थी।

## जयपुरकी प्रति—

मुनि जिनविजयजी और भायाणीजीको सम्पादन करते समय इन्हीं चार प्रतियोंका पता लग सका था। इधर जयपुरके लूणकर्ण पाण्ड्याके श्री दिगम्बर जैन मन्दिरसे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीको सन्देशरासककी एक प्रति प्राप्त हुई है। इसमें ३१ पत्र हैं किन्तु प्रारम्भके २ पत्र इसमें नहीं है। यह प्रति अत्यन्त सुस्पष्ट लिपिमें सुरक्षित है। पत्रोंका आकार ११″ × ४½″ है। इसका लिपिकाल संवत् १६०८ है। मूल पाठ और उसकी संस्कृत छाया, दोनोंकी लिखावटमें कोई अन्तर नहीं है। संस्कृत छाया अत्यन्त अशुद्ध है। किन्तु वह पूनेकी प्रतिमें प्राप्त अवचूरिकासे प्रायः ज्योंकी त्यों मिलती है। किन्तु प्रतिमें संस्कृत छायाको समाप्त करते समय "इत्यवचूरिः" या इति श्री सन्देशरासक टिप्पनकं समाप्तम्" जैसा कुछ नहीं लिखा है। केवल इति श्री संदेसरासकं समाप्तं" लिखा है। हमने इस प्रतिकी संस्कृत छायाको "अवचूरी"नाम अपनी ओरसे दिया है। ज्ञात होता है कि पूनेवाली प्रतिमें प्राप्त 'अवचूरिका' बीकानेरकी खण्डित प्रतिका 'वार्तिक'

और इस प्रतिकी संस्कृत छाया (अवचूरी) एक ही व्यक्ति अर्थात् लब्धिसुन्दर द्वारा लिखी गई है। इस बातको बलपूर्वक इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दुर्भाग्यवश पूनेकी प्रतिके आरम्भमें ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता और जयपुरकी प्रतिके आरम्भिक दो पत्र प्राप्त नहीं है। किन्तु चूँकि इन तीनों प्रतियोंकी संस्कृत छायाएँ प्रायः समान हैं इसलिए उन्हें एक ही व्यक्ति द्वारा लिखित समझा जाय तो अनुचित नहीं होगा। जो थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता भी है इसका मुख्य कारण लिपिकारोंका प्रमाद और उनके भाषा-विषयक ज्ञानकी अपरिपक्वता ज्ञात होती है।

इस प्रतिकी परिसमाप्तिसे ज्ञात होता है कि इसका लेखन संवत् १६०८ में वैशाख सुदी १४ को इतवारके दिन समाप्त हुआ था। यह प्रतिलिपि संयमराज सूरिके शिष्य श्री माणिक्य राजमिश्रने अपने पढ़नेके लिए की। श्री इसिलेम साहि बादशाहके विजयराज्यमें सरस्वतीपत्तन नामक स्थानपर की थी। अन्त में हरषकीरति नामक व्यक्तिने अलगसे कुछ लिख दिया है, इसके बाद भी कुछ अंश काटकर किसी अन्य व्यक्तिने "पत्र ३१ अंके इकतीस पत्र इह पोथीका छै" लिखा है।

यह प्रति कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। पाठशोध करते समय कई गुत्थियोंको सुलझाते समय इससे अपूर्व सहायता मिली है।

इसके अतिरिक्त अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें संस्कृत विभागके रीडर डॉ० रामसुरेश त्रिपाठीके संग्रहमेंसे संदेशरासककी किसी लुप्त प्रतिका एक पत्र (११वाँ) प्राप्त हुआ है। इसकी लिपि अत्यन्त सुस्पष्ट और स्वच्छ है। त्रिपाठीजीके अनुसार यह प्रति लगभग ३०० वर्ष पुरानी ज्ञात होती है।

यद्यपि इस प्रतिका एक ही पत्र प्राप्त हुआ है, फिर भी सौभाग्यवश प्राप्त पत्रसे एक विवादास्पद छन्द (सं० ९५) के पाठशोधके कार्यमें बड़ी सहायता मिली है।

**कवि—**

प्रथम प्रक्रमके आरम्भिक अंशमें ही संदेशरासकके कविने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स॥
तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेहत रासयं रइयं[1]॥

---

1. संदेशराशक, प्रथम प्रक्रम, ३, ४।

इन गाहाओंसे कविके विषयमें हमें इन बातोंका पता चलता है—

(१) कविका स्थान मिच्छदेस है जो पश्चिम और पूर्व दोनोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध है।

(२) उसी प्रदेशमें 'मीरसेण आरद्द'का पुत्र अद्दहमाण उत्पन्न हुआ जो प्राकृत काव्य-रचनामें अत्यन्त निपुण था। और

(३) संदेशरासककी रचना की।

'मिच्छदेसोत्थि'की संस्कृत छाया पूने और लोहावत, दोनों स्थानोंसे प्राप्त प्रतियोंमें 'म्लेच्छनामादेशोस्ति' दी हुई है[1]। प्राकृत शब्द महार्णवमें भी 'मिच्छ'का अर्थ 'म्लेच्छ' दिया है। फिर भी इस म्लेच्छ देशकी ठीक-ठीक स्थिति हमें नहीं ज्ञात है। मनुस्मृतिमें म्लेच्छ देशको यज्ञीय देशके परे बताया गया है। इस यज्ञीय देशका लक्षण मनुने यह बताया है कि वहाँ कृष्णसार मृग स्वाभाविक रूपसे विचरते हैं।[2] किन्तु इतनेसे म्लेच्छ देशका ठौर-ठिकाना अच्छी तरह नहीं लग सकता।

इस म्लेच्छ शब्दका इतिहास भी थोड़ा विचित्र है। द्विवेदीजीसे मुझे ज्ञात हुआ है कि 'म्लेच्छ' शब्द मूलतः असीरियन धातु 'म्लच्'से निकला है। इसी 'म्लच्'से जहाँ एक ओर 'म्लेच्छ' जैसा शब्द विकसित हुआ जो कालन्तरमें भारतीयोंमें निंदार्थक और घृणास्पद अर्थमें चलने लगा, वहाँ इसीसे निकला हुआ 'मलिक' शब्द जातिविशेषका सूचक है।

जो हो, यह अनुमान किया जा सकता है 'मिच्छ' या 'म्लेच्छ' देशसे अद्दहमाणका आशय आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान या उसीके आसपास कोई प्रदेश रहा होगा। संदेशरासकमें आए हुए सभी नगर उसी प्रदेशमें पड़ते हैं।[3] इससे यह प्रकट होता है कि कवि उस प्रदेशके निकटवर्ती किसी स्थानका निवासी रहा होगा। कालान्तरमें म्लेच्छकी संज्ञा पानेवाली आर्येतर जातियोंका आगमन भी भारतमें उसी ओरसे हुआ। अतएव इस बातकी पूरी संभावना प्रकट की जा सकती है कि उस भूखण्डको म्लेच्छ देश कहनेकी परम्परा कभी रही होगी।

इसी म्लेच्छ देशमें मीरसेन नामक 'आरद्द' था। 'आरद्द' का भी अर्थ उक्त

१. वही, पृ० २, टिप्पनक व्याख्या और अवचूरिका।

२. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः॥
—मनुस्मृति—अध्याय ३।२३।

३. मुलतान, खंभात, विजयनगर (मुनिजीके अनुसार विजयनगर आजकल जैसलमेरमें पड़ेगा) संदेशरासक, प्रिफेस, पृ० १२।

दोनों टीकाओंमें तंतुवाय मिलता है[१]। सौभाग्यवश आगे चलकर १९वें छंदसे इस बातकी पुष्टि भी हो जाती है। स्वयं अद्दहमाणने अपनी रचनाको 'कोलिय पयासिउ' अर्थात् कौलिक द्वारा रचित कहा है[२]। पूनेवाली प्रतिकी टीकामें स्पष्टतः 'कौलिकेन तन्तुवायुना[३] मिलता है।

इसके अतिरिक्त 'मीरसेन' नाम भी ध्यान देने योग्य है। इसमें 'मीर' जहाँ मुसलिम जातिका शब्द लगता है वहाँ 'सेन' हिन्दू उपाधि है[४]। टिप्पनक तथा अवचूरिका, दोनोंमें 'अद्दहमाण'का रूप 'अब्दल रहमान' दिया है[५]। कविने आत्मनिवेदनमें जो कुछ कहा है उससे पता चलता है कि वे 'प्राकृत काव्य'में निष्णात थे[६]। यही नहीं, संदेशरासकके पाठकको पदे-पदे यह विश्वास होता चलेगा कि कविको भारतीय साहित्यकी परम्पराका सम्यक् ज्ञान है। कविकी सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंमें अभारतीयताका कहीं लेश नहीं मिलता।

फिर भी हमें यह जाननेका प्रयत्न करते चलना चाहिए कि अद्दहमाण किस जातिके थे अथवा उनका अपना कौन मत था ?

वयन-जीवी जातियोंमें जुलाहा प्रमुख है। आज साधारणतः सभी वयनजीवी जातियोंको 'जुलाहा' ही जाना जाता है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण'के अन्तर्गत ब्रह्मखंड-के दसवें अध्यायमें यह बताया गया है कि म्लेच्छ पिता और कुविन्द मातासे जुलाहोंकी उत्पत्ति हुई है[७]। रिजलीके अनुसार यह जुलाहा जाति किसी निम्न-स्तरकी भारतीय जातिका मुसलमानी रूप है। 'कबीर'में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा है कि 'जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा जातिको अलंकृत कर रहे थे उन दिनों ऐसा जान पड़ता है कि इस जातिने अभी एकाध पुश्तसे ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।'[८] यदि अद्दहमाण कबीरसे पहले उत्पन्न हुए थे—जो प्रायः निश्चित है—तो यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि

---

१. संदेशरासक, प्रथम प्रक्रम, पृ० २, टिप्पनक और अवचूरिका।

२. संदेशरासक, प्रथम प्रक्रम।१९।

३. संदेशरासक, पृ० ८, अवचूरिका।

४. मीरसेनकी ही भाँति मुसलमान कहे जानेवाले प्रसिद्ध गायक तानसेनके नाममें भी सेन मिलता है। किन्तु साधारणतः 'सेन' मुसलमानी नामके पीछे नहीं लगता। 'ऋतम्भरा'में सुनीति बाबूका 'तानसेन' निबन्ध इस विषयमें द्रष्टव्य है।

५. संदेशरासक, पृ० ३, टिप्पनक और अवचूरिका।

६. संदेशरासक।४

७. म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह।

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्माखण्ड, अध्याय १०।

८. कबीर, प्रस्तावना, पृ० ४।

यह हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियोंके बीचमें रही होगी। कविके पिताका द्विधर्मसूचक नाम भी इस अनुमानकी पुष्टि करता है।

उक्त पुस्तकमें द्विवेदीजीने कबीरदासके वंशकी विवेचना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस जातिमें कबीर उत्पन्न हुए थे उसमें 'निराकार भावनाकी उपासना प्रचलित थी।'[१] यद्यपि संदेशरासकमें मतमतान्तरोंकी चर्चाके लिए कोई अवकाश नहीं है फिर भी प्रथम 'गाहा'में कविने जिस ढंगसे ईश्वरकी वन्दना की है वह संकेतपूर्ण प्रतीत होता है।

मनुष्यों, देवों विद्याधरों, नभ-मार्गमें सूर्य चन्द्रबिम्बों आदिकसे ही नमस्कृत होता आया है, हे नागरिको उस कर्तारको नमन कहो[२]।

ध्यान देनेकी बात है कि जायसीने भी 'पद्मावत' प्रारम्भ करते समय 'आदि कर्तार'को सुमिरा है[३]। क्या अद्दहमाण और जायसीको इस 'आदिकर्तार' के सूत्रसे जोड़ा जा सकता है?

ग्रन्थके प्रारम्भकी भाँति अन्तसे भी इसके विषयमें संकेत मिलता है। यदि सी प्रति (पाटन भाण्डार) के पाठको स्वीकार किया जाय तो अन्तिम पंक्ति इस प्रकार होगी।

तेम पठंत सुणंत यह जयउ अणायतु अंतु।

और इसका अर्थ होगा "उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालों के अनागत अन्तकी जय हो अर्थात् वे अनागत अन्तके दिन (कयामतके दिन) विजयी हों।" इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह निश्चित हो जाता है कि अद्दहमाण मुसलमान थे और अपने मजहबके प्रति उनकी आस्थामें कोई कमी नहीं थी।

विद्वानोंने इस बातको लक्षित किया है कि 'योगियों और नाथपंथियोंके मध्ययुगीन आचार-विचारपर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी पोथियाँ अबतक उपलब्ध हुई हैं, उनमेंकी अधिकांश मुसलमान कवियोंकी लिखी हुई हैं[४]। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर, दादू, रजब, कुतुबन और जायसी आदि

१. कबीर-प्रस्तावना, पृ० १४।

२. माणुस्स दिव्व विज्जाहरेहि णह मग्गि सूर-ससि बिंबे।
आयहिं जो णमिज्जइ तं णयेरे णमह कतारं ॥२

—संदेशरासक, प्रथम प्रक्रम।१

३. सुमिरौं आदि एक करतारू।

—पद्मावत—स्तुतिखण्ड।

४. कबीर-प्रस्तावना, पृ० १३।

निर्गुण कवियोंका सम्बन्ध इन्हीं निराकारवादी कवियोंसे जोड़ना चाहते हैं[१]। क्या 'संदेशरासक' जैसे आमुष्मिकता-रहित काव्य के रचयिता अद्दहमाण भी इनकी विरादरीमें बैठाये जा सकते हैं? जातिगत एकता और निर्गुण-वंदना इन दो आधारोंपर यह साहस किया जा सकता है।

## रचनाकाल—

संदेशरासक अथवा अद्दहमाणका कोई उल्लेख अबतक अन्यत्र नहीं प्राप्त हो सका है। अतएव इसके रचनाकालका निर्धारण किसी बाहरी सहायतासे नहीं किया जा सकता।

लक्ष्मीचन्द्रकी टीकाका समय वैक्रम संवत् १४६५ दिया हुआ है। अतएव यह तो निश्चित ही है कि संदेशरासककी रचना १५वीं विक्रमी शतीतक हो चुकी थी। संदेशरासककी भाषा और उसके द्वारा प्राप्त सूचनाओंके आधारपर श्री मुनि जिनविजयजी अद्दहमाणको मुहम्मद गोरीके आक्रमणसे किंचित् पूर्वकालका ईसाकी १२वीं शताब्दीका कवि मानते हैं।[२]

संदेशरासकको देखनेसे ज्ञात होता है कि उस समय मुलतान पश्चिमोत्तर भारतमें प्रमुख हिन्दू तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध था। वह अपने सूर्य-कुण्डके कारण पश्चिमोत्तर भारतका प्रमुख धार्मिक स्थान समझा जाता था। इससे अनुमान लगाया गया है कि संदेशरासककी रचनाके समयतक मुहम्मद गोरीका आक्रमण मुलतानपर नहीं हुआ था। क्योंकि मुहम्मद गोरी द्वारा एक बार नष्ट कर दिएजानेके पश्चात् फिर मुलतान अपनी पूर्वप्रसिद्धिको कभी न पा सका।

इसके अतिरिक्त रासकमें विजयनगर अथवा विक्रमपुर तथा स्तम्भतीर्थ (आधुनिक खम्भात) का उल्लेख हुआ है[३]। विजयनगर आधुनिक जैसलमेर राज्यके अन्तर्गत पड़ता है[४]। नायिकाका पति धनोपार्जनके निमित्त स्तम्भतीर्थ गया था। पथिक भी मुलतानसे अपने स्वामीका लेख खम्भात ही ले जा रहा था। इससे प्रकट होता है कि उस समय खंभात भी अत्यन्त समृद्ध रहा होगा, जहाँ देशके विभिन्न भागोंसे लोग धनोपार्जनके निमित्त आया करते थे। इतिहास बताता है कि खंभात चालुक्यवंशी शासक सिद्धराज और कुमारपालके शासन-

१. वही, पृ० १३।
२. संदेशरासक, प्रिफेस, पृ० १२।
३. संदेशरासक, द्वितीय प्रक्रम।२४
४. संदेशरासक, पृ० १२।

कालमें अत्यन्त समृद्ध रहा है। कुमारपालकी मृत्युके पश्चात् ही खंभातकी नगर-श्री विलुप्त होने लगी।

इन ऐतिहासिक तथ्योंके आधारपर मुनि जिनविजयजीने निष्कर्ष निकाला है कि संदेशरासक मुहम्मद गोरीके आक्रमण (११९२ ई०) के पूर्व अथवा कुमार-पालकी मृत्युके पूर्व कभी लिखा गया होगा।

महापंडित राहुल सांकृत्यायनने भी अपनी "काव्यधारा" में अद्दहमाणको ११वीं शताब्दीका कवि माना है[1]।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे १२वीं-१३वीं शताब्दीकी रचना मानते हैं[2]।

किन्तु श्री अगरचंद नाहटा संदेशरासकको इतनी पुरानी रचना माननेके पक्षमें नहीं हैं। उनके अनुसार लक्ष्मीचंद्रकी टीकासे, जो संवत् १४६५ में लिखी गई थी, यह स्पष्ट होता है कि संदेशरासककी रचना लक्ष्मीचंद्रके बहुत पूर्व नहीं हुई थी। क्योंकि टिप्पनकके अन्तमें लिखा है कि उन्होंने न तो संदेशरासककी कहीं वृत्ति देखी है, न किसी गुरुके पास रहकर इसे पढ़ा है। कर्ताके मुखसे भी उन्होंने इसका अर्थ नहीं बूझा। इत्यादि।

नाहटाजीका मत है कि लक्ष्मीचन्द्रके यह कहनेसे कि उन्होंने संदेशरासकके कर्ताके मुखसे इसका अर्थ नहीं जाना, प्रकट होता है कि उन्हें अद्दहमाणसे मिल सकनेकी संभावना थी अर्थात् अद्दहमाण और लक्ष्मीचन्द्र समसामयिक रहे होंगे। इस स्थितिमें संदेशरासकका रचनाकाल अधिकसे अधिक १५वीं शताब्दीके प्रारम्भतक ले जाया जा सकता है।[3]

किन्तु उक्त श्लोकको ध्यानसे पढ़नेपर यह प्रतीत होता है कि लक्ष्मीचन्द्रने यह सब विनयभाववश अपनी असमर्थता दिखानेके लिए कहा है। उन्होंने संदेशरासककारके मुखसे उसकी रचनाका अर्थ नहीं सुना यह ठीक; किन्तु इससे केवल यही अर्थ कैसे निकाला जाय कि वे लक्ष्मीचंद्रके समसामयिक थे। अद्दहमाण टिप्पनककारसे सौ-दो-सौ वर्ष पूर्व हुए थे, यह समझनेमें भी कोई बाधा नहीं उपस्थित की जा सकती।

यद्यपि संदेशरासकके रचनाकालको निर्धारित कर सकनेवाले सबल प्रमाणोंका अभाव है, किन्तु फिर भी मुनिजीके तर्कोंको न माननेका कोई कारण नहीं दिख-

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० २९२।
२. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पृ० ४०।
३. विकास २।३।

लाई पड़ता। अतएव संदेशरासकका रचनाकाल १२वीं शती ईसवीके आसपास माननेमें कोई आपत्ति नहीं उपस्थित की जा सकती।

## सन्देशरासकका काव्यरूप

### लक्षण

संदेशरासक—जैसा कि इसके नामसे प्रकट होता है—रासक काव्य है। इसके पहले हम रास, रासक और रासो नामसे प्राप्त साहित्यका परिचय प्राप्त कर चुके हैं। इस अध्यायमें यह विचारणीय है कि 'सन्देश-रासक'में रासक काव्यके क्या लक्षण मिलते हैं और उनके आधारपर इसे रासक कहना कहाँतक उचित है?

हम देख चुके हैं कि अपभ्रंशके दो छन्दःशास्त्रियोंके विचार 'रासक'पर मिलते हैं। विरहांकने 'वृत्तजातिसमुच्चय'में और 'स्वयंभू'ने 'स्वयंभू छन्दस्'-में 'रासक'के लक्षणोंपर विचार किया है। 'वृत्तजातिसमुच्चय'के चौथे अध्यायमें २७ से ३८वें छन्दतक अपभ्रंश छन्दोंकी चर्चा मिलती है। इसमें विरहांकने दोहा, मागधिका, मात्रा, रड्डा, अडिल्ला और ढोसा नामक छन्दोंके लक्षण गिनानेके उपरान्त 'रासक'का लक्षण दिया है। उनके अनुसार 'रासक'-में 'द्विपदी' अथवा 'विस्तारितक' होता है और 'विदारी'से इसका समापन होता है। इसके पूर्व द्विपदी, विस्तारितक, विदारी आदिकी परिभाषा उन्होंने दे दी है। किन्तु 'रासक'की जो परिभाषा ३८वें छन्दमें दी गई है, वह हमारे अधिक कामकी है—

'अनेक अडिलों, दुहवओं, मात्राओं, रड्डाओं और ढोसाओंसे जो रचित होता है, उसे रासक कहते हैं[1]।'

इसी प्रकार स्वयंभूने अपने 'स्वयंभू छंदस्'के आठवें अध्यायके अंतिम चार छन्दोंमें रासकके लक्षणोंका उल्लेख किया है। उनका विचार है कि—

'काव्यमें घत्ता छड्डुड़िया, पद्धड़िया और अन्य सुन्दर छन्दोंसे युक्त 'रासा-बन्ध' जन-मन-अभिराम होता है[2]।'

---

१. अडिलाहिं दुवहएहिं व मत्ता-रड्डहि तह अ ढोसाहिं।
बहुएहिं जो रइज्जइ सो भण्णइ रासओ णाम।
—वृत्तजातिसमुच्चय ४।३८
(संदेशरासक—सं० मुनिजिनविजय : श्री हरिवल्लभ भायाणीसे उद्धृत)।

२. घत्ता-छड्डुणिआहिं पद्धड़िया (हिं) सु-अण्णरुहिं।
रासाबंधो कव्वे जण-मण-अहिरामो (मओ) होइ॥
—स्वयंभूच्छन्दस् ८।१९ (वहींसे उद्धृत)

'रासाबंध'के विषयमें इतना कहनेके तुरन्त बाद वे एक छन्दमें, जो कुछ अशुद्ध पाठके साथ मिलता है, ऐसे रासकका लक्षण देते हैं जो २१ मात्राओंका होता है और जिसमें १४ मात्रापर विराम होता है। इसको भी ग्रन्थकारने समृद्ध और अभिरामतर रासाबंध कहा है। इसमें गति लघु होती है और अवसान तथा विरतिकी सुन्दरताके कारण यह सुन्दरतर होता है[1]।

विरहांक और स्वयंभूके लक्षणोंमें यद्यपि 'रासक' या रासाबन्धके साथ प्रयुक्त होनेवाले अन्य छंदोंके नामोंमें विभिन्नता दिखलाई पड़ती है, किन्तु हमें इस विभिन्नताको अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। अभिप्राय दोनोंका यही ज्ञात होता है कि रासकमें कई तरहके छन्द तथा उनके द्वारा गिनाए हुए छन्द प्रयुक्त होते थे।

इसके अतिरिक्त, स्वयंभूने २१ मात्रावाले 'रासा' नामक छन्दका लक्षण, अलगसे, रासाबंधके लक्षण बतानेके उपरान्त दिया है। इसके आधारपर श्री हरिवल्लभ भायाणीका अनुमान है कि रासाबन्धमें इस विशेष छन्दकी प्रधानता रहती होगी[2]।

'संदेशरासक'में प्रयुक्त छन्दोंको देखनेसे भायाणीजीका अनुमान पुष्ट होता है। 'सन्देशरासक'में कुल २१ छन्द प्रयुक्त हुए हैं—

रासा, गाहा, रड्डा, पद्धड़िया, डोमिलव, दोहा, कामिणी मोहण, चूडिल्लय, खडहडय, खन्धय, दुवइ, नन्दिणी भमरावली, लंकोडय और रमणिज्ज।

'सन्देशरासक'की कुल छन्दसंख्या २२३ है, जिसमें ८४ छन्द केवल 'रासा' ही हैं। संख्याकी दृष्टिसे 'रासा'के बाद 'गाहा' (कुल छन्द-संख्या ४०), फिर अडिल्ला (कुल छन्दसंख्या २४), तदनन्तर पद्धड़िया, (कुल छन्दसंख्या २२) और दोहा (कुल छन्दसंख्या १८) आदि आते हैं।

इस प्रकार सन्देशरासकमें विरहांक स्वयम्भूके गिनाये हुए अडिल्ल, दोहा, रड्डा, और पद्धड़िया छन्द प्राप्त होते हैं, साथ ही पूरे ग्रन्थमें प्रधानता 'रासा' छन्दकी है। इससे प्रकट होता है कि इन दोनों अपभ्रंश छन्द शास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणोंपर सन्देशरासक 'रासक' या 'रासाबन्ध' सिद्ध होता है।

---

१. एक्कविस मत्ताणिहि णउ उद्दाम गिरु।
चउदसाइ विस्सामहो भगणविरइथिरु॥
रासाबंध समिद्धु एउ अहिराम अरु।
लहु अति अलअवसाण विरइअ महुर अरु।
—स्वयंभूछन्दस् ८।५०, वहींसे उद्धृत।

२. संदेशरासक Form and Structure, पृ० ७६।

छन्दोंकी दृष्टिसे विचार करनेके उपरान्त, अन्य दृष्टियोंसे भी हमें 'सन्देश-रासक'के काव्यरूपपर विचार कर लेना समीचीन होगा।

'काव्यानुशासन'के आठवें अध्यायमें हेमचन्द्राचार्यने काव्यके दो मुख्य भेद—प्रेक्ष्य, श्रव्य[1]—करते हुए, प्रेक्ष्यमें पाठ्य और गेय तथा गेय[2] उपरूपकोंमें डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड़, हल्लीसक, गोष्ठी, श्रीगदित और रागकाव्यादिकी गणना की है।[3] टीकामें कहा गया है कि ये गेय रूपक तीन प्रकारके होते थे—कोमल, उद्धत और मिश्र।[4] जैसा कि नामसे ही प्रकट होता है, यह विभाजन गेयरूपकोंकी सुकुमारता, औद्धत्य और दोनोंके मिश्रणके आधारपर किया गया था। काव्यानुशासनकी टीकामें डोम्बिकाको कोमल और भाणकको उद्धत कहा गया है। शेष प्रस्थान, शिंगटक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड़, रासक और हल्लीसक आदि मिश्र गेय-रूपक हैं। इन मिश्र गेय-रूपकोंमें कोमलता और औद्धत्यकी विभिन्न मात्राएँ होती हैं।[5] कुछमें कोमलता अधिक होती है, जैसे, प्रस्थान; और कुछ उद्धतता प्रधान होते हैं, जैसे, शिंगटक। रासक भी इसी प्रकारका एक मिश्र गेय-रूपक था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके शब्दोंमें 'रासक आरम्भमें एक प्रकारके उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय-रूपकको कहते थे जिसमें थोड़ाबहुत मसृण या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे।'[6]

किन्तु 'संदेशरासक' प्रेम-काव्य है। उसमें नायिकाके विरह-निवेदनकी ही प्रमुखता है। अतएव उसमें कोमलताकी अपेक्षा थी। उसमें सर्वाधिक मात्रामें 'रासा' छन्द प्रयुक्त हुए हैं। ध्यानपूर्वक देखनेसे पता चलता है कि इस छंदका प्रयोग अद्दहमाणने विशिष्ट स्थलोंपर एक विशेष प्रकारका प्रभाव पैदा करनेके लिए किया है। प्रथम प्रक्रममें रासा छन्दका प्रयोग बिलकुल नहीं मिलता। वहाँ कविको आत्म-निवेदन करना है। वह अपने ग्रन्थकी और पाठककी योग्यता आदिका वर्णन गाहा, रड्डा, पद्धड़िया और दुमिलामें करता है। द्वितीय प्रक्रममें भी प्रथम दो छंद रड्डा हैं। किन्तु नायिकाकी चेष्टाओंका वर्णन करते ही कवि 'रासा' छंदका प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। नायिका पथिकको देखकर मंथरगति छोड़कर लघुगतिसे क्या चलने लगी कि छंद भी नायिकाकी गतिसे चलने लगा—

---

१. काव्यानुशासनम् ८।१
२. वही ८।२।
३. वही ८।४।
४. वही, टीका, पृ० ३९२।
५. वही, टीका, पृ० ३९२।
६. हिन्दी साहित्यका आदिकाल–पृ० ६०।

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउवकंखियि,
मंथर गयसरलाइवि उत्तावलि चलिय ।
तह मण हर चल्लंतिय चंचल रमण भरि,
छुडवि-खिसिय रसणावलि किंकिणि रव पसरि[१] ।। आदि

ऐसा प्रतीत होता है मानों रासाकी इसी छंदगत मनोहरताको स्वयंभूने अपने लक्षणमें 'लहु अति' (लघुगति) कहकर व्यंजित करना चाहा था ।[२]

इसी प्रकार पूरी पुस्तकमें जहाँ-जहाँ 'रासा' छंद आया है वहाँ-वहाँ वह अपनी सहज गति-भंगिमाके कारण एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है । ऋतु-वर्णनके अन्तर्गत ग्रीष्म और शिशिर-वर्णनको छोड़कर 'रासा' छंदका प्रयोग प्रायः उन्हीं स्थलोंपर हुआ है जो नायिकाकी चेष्टाओं अथवा विभिन्न मनोदशाओंका चित्रण करते हैं । संदेशरासकमें प्रारम्भिक और अंतिम अंशोंको छोड़कर मुख्य ग्रन्थमें प्रायः प्रति चार-पाँच छंदोंका अवकाश देकर 'रासा' आया करता है[३] । अन्य छंदोंके प्रयोगमें यद्यपि वस्तु और प्रसंगकी दृष्टिसे दूरतक कोई व्यवस्था नहीं ढूँढ़ी जा सकती, फिर भी कवि कथा-सूत्रोंको जोड़ने अथवा अपनी तरफसे कुछ कहनेके लिए 'गाहा'का प्रयोग करता है और लम्बे-लम्बे छंदोंका प्रयोग करते-करते जैसे एकरसता समाप्त करनेके लिए 'दोहा' ले आता है । एक दोहेमें प्रायः एक पूरी बात कह दी जाती है और फिर अन्य छंद आने लगते हैं ।

## विभाजन और काव्य-प्रकृति—

संदेशरासक तीन प्रक्रमोंमें विभाजित है । प्रथम प्रक्रममें काव्यकी प्रस्तावना है । वास्तविक कथा द्वितीय प्रक्रमसे प्रारम्भ होती है । तीसरे प्रक्रममें षड्ऋतु वर्णन है और उसके पश्चात् नायकके घर लौट आनेके साथ ही साथ ग्रन्थ समाप्त हो जाता है ।

अबतक किसी अन्य ग्रन्थका विभाजन 'प्रक्रमों'में नहीं प्राप्त हुआ है । यह

---

१. संदेशरासक, द्वितीय प्रक्रम, छं० २६ ।

२. संदेशरासक, फार्म ऐंड स्ट्रक्चर—पृ० ७७ की पादटिप्पणी २ ।

३. "रासा छंद"के प्रयोगका क्रम, इस प्रकार है—
२६–३०, ४१–५८, ६४–६८, ९१–९२, ९६–९९, १०१–१०३, १०४, १०९–११०, ११३, ११७–११८, १२१–१२५, १३०–१३६, १३९–१४७, १५१, १५४–१५५, १८४–१९०, १९२–१९८ ।

विभाजन कथावस्तुकी तीन अवस्थाओंके आधारपर किया गया है। ईश्वर-वंदना, कवि-परिचय, ग्रन्थ-परिचय, तथा पाठकोंसे निवेदन प्रथम प्रक्रममें समाप्त हो जाता है। दूसरे प्रक्रममें विरहिणी नायिकाका वर्णन और पथिक-दर्शनके उपरान्त उसकी आकुलता तथा प्रियको सन्देश भेजनेकी उत्कंठाका चित्रण है। विरहिणी पथिकसे सन्देश कहती ही जाती है। जब कभी पथिक ऊबकर जानेकी आज्ञा माँगता है तो वह 'चार गाहा और, तीन अडिल्ल और, केवल दो दोहे और' आदि कहकर उसे रोके रहती है। अन्तमें उसकी विरह-दशा सुनते-सुनते पथिकका मन भी पसीज जाता है और वह पूछता है कि हे विरहिणी! तुम्हारी यह दशा कबसे है? अब क्या पूछना था! नायिकाको विरहका पूरा पोथा खोलनेका अवसर मिल जाता है। यहाँसे तृतीय प्रक्रम प्रारम्भ होता है। विरहिणी एक-एक करके छहों ऋतुओंमें अपनी विरह-दशाका वर्णन करती है। इस प्रकार छहों ऋतुओंका और प्रत्येक ऋतुमें अनुभूत विरह-दुःखका भरपूर वर्णन करके वह पथिकको जानेकी अनुमति देती है। वहाँसे वह अपने घरकी ओर मुड़ी ही थी कि उसका प्रियतम आता हुआ दिखाई पड़ता है। दोनोंकी भेंट होती है और इसी हर्ष-प्रसंगमें रासककार भी पाठकोंको शुभाशीः देते हुए विदा लेता है।

प्रथम प्रक्रमके समाप्त होते ही कथा सीधे प्रारम्भ हो जाती है और द्वितीय प्रक्रममें कवि एकदम कथा आरम्भ कर देता है। इसी प्रकार द्वितीय प्रक्रमके विरह-वर्णनसे कथा छलाँग मारकर षड्ऋतु वर्णनमें पहुँच जाती है। ज्ञात होता है कि वर्णनके इन्हीं मोड़ोंको ध्यानमें रखकर कविने अपनी रचनाका विभाजन प्रक्रमोंमें किया है।

संदेशरासक 'रासक' होनेके साथ ही साथ संदेशकाव्य भी है, जिसमें अपने प्रियके प्रति कहे गए संदेशोंकी प्रधानता है। भारतीय-साहित्यमें इस प्रकारके संदेश-काव्योंकी कमी नहीं है। 'मेघदूत'से 'उद्धवशतक'तक न जाने कितने ऐसे काव्य गिनाए जा सकते हैं जिनकी रचनाका मुख्य आधार संदेश-प्रेषण है। मेघदूतका भी विभाजन दो खंडों—'पूर्वमेघ' और 'उत्तरमेघ'में कर दिया है। किन्तु मेघदूत और संदेशरासकमें समानताएँ कम मिलेंगी, असमानताएँ अधिक। संदेश-प्रेषण दोनोंमें ही है, किन्तु संदेशरासककी भाँति 'मेघदूत'में संदेश और विरह-वर्णनकी ही प्रधानता नहीं है। प्रारम्भसे अन्ततक मेघदूत प्राकृतिक दृश्योंकी मनोरम झाँकी दिखाता चलता है। विरही यक्षके चित्तकी अवस्थाको अभिव्यक्त करनेके हेतु जो अपूर्व चित्रावली कालिदास द्वारा प्रस्तुत की गई है वह संदेशरासकमें कहाँ मिलेगी? मेघदूतके पाठकका हृदय समस्त उत्तरभारतके परिदृश्यमें निरन्तर नवीन कृतिके पुण्य अवलोकनसे रस-विभोर हो उठता है।

उसमें सहृदयका चित्त स्वच्छन्द प्रकृतिका साक्षात्कार काव्यानुभूतिके माध्यमसे करता है। संदेशरासकका प्राकृतिक कैनवास इतना भव्य नहीं है, उसका प्रधान आकर्षण संदेश-प्रेषण और विरह-वर्णन ही है। हाँ, प्रसंगानुसार लोक-जीवनके विविध पक्षोंका स्वाभाविक चित्रण उसमें अवश्य हुआ है।

कथाका प्रारम्भ भी दोनों ग्रन्थोंमें अलग-अलग ढंगसे हुआ है। मेघदूतके यक्षका विरह ऋतुके प्रभावसे असह्य हो उठा था। और महीने तो उसने जैसे-तैसे काट लिये थे, किन्तु आषाढ़ आते ही उस बेचारेकी सुधि-बुधि खो गई। आषाढ़के प्रथम दिवस उसने सानु-संलग्न मेघोंको देखा। उसका विवेक जाता रहा। किसी तरह अपनी प्रियाके पास संदेश भेजनेकी उसे कठोर अधीरता हुई और उसने अचेतन मेघको ही अपना दूत बनाया। दूसरा वहाँ था भी कौन जिससे वह विरह-कातर यक्ष अपने सन्देश भेजता? फिर उसे चेतन और अचेतनका ज्ञान भी नहीं रह गया था। ऐसी सफाई कालिदासने अपनी तरफसे दे दी है।

सन्देशरासकमें सन्देश नायिका देती है नायक नहीं। इसके अलावा, उस नायिकाका सन्देशवाहक मेघ नहीं, चेतन मनुष्य है। आकाशचारी मेघको दूत बनानेके कारण कालिदासको प्रकृति-चित्रणका पूर्ण अवकाश मिल गया है। यही कारण है कि 'मेघदूत'के 'पूर्वमेघ'में प्रकृति-वर्णनकी इतनी अधिकता है। यक्षका सन्देश तो उत्तरमेघके ४३वें श्लोकसे प्रारम्भ होता है। यक्ष-प्रियाकी विरह-जन्य चेष्टाओं और मनोदशाओंका वर्णन 'उत्तर-मेघ'में मिलता है। 'सन्देशरासक'में प्रकृति-चित्रण केवल तृतीय प्रक्रमके अन्तर्गत षड्ऋतु-वर्णनमें आता है। मेघदूतमें जहाँ आद्यन्त प्रकृतिका साथ बना रहता है, सन्देशरासकमें प्रारम्भिक २३ छन्दोंको छोड़कर सम्पूर्ण द्वितीय और तृतीय प्रक्रममें नायिकाके विरह-वर्णनका प्रसंग उपस्थित रहता है।

किन्तु 'मेघदूत' और 'सन्देशरासक'में एक महत्त्वपूर्ण समानता है। वह समानता कथातत्त्वकी अपेक्षाकृत महत्त्वहीनता है। दोनों काव्योंको पढ़ जानेके पश्चात् उनमें कथावस्तुके महत्त्वकी अल्पताका बोध पाठकको अवश्य होगा। मेघदूतकी कुल कथा यही है कि एक शापित विरही यक्ष वर्षाऋतुमें मेघको दूत बनाकर अपनी भार्याके पास सन्देश पहुँचाता है। और संदेशरासकमें विरहिणी एक पथिकके माध्यमसे अपने पतिके पास संदेश भिजवाना चाहती है। संदेश कैसे दिया जाता है और क्या दिया जाता है, मुख्य बात यही है। वस्तुतः दोनोंमें कथावस्तुको बहाना बनाकर विरह-वर्णनका चित्रण करना ही कालिदास और अद्दहमाणका उद्देश्य है। संदेशरासकमें यत्र-तत्र कवि अपनी ओरसे कुछ कहकर कथा-सन्धियोंका सूत्र मिलाता रहता है। इन कथासूत्रोंका अपने

आपमें कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यदि हम सन्देशरासकके विरह-वर्णनात्मक छंदोंको कथासूत्रसे अलग करके स्वतंत्र मुक्तकोंके रूपमें ग्रहण करें तब भी उसकी मार्मिकता और प्रभावमें कोई कमी नहीं पड़ती। उदाहरणार्थ इस दोहे को—

जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जइ संदेशडउ, दिंती पहिय पियासु[1]॥

या इस 'गाहा' को

तुह विरह पहर संचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्जकल्लसंघडण ओसहे णाह तग्गंति[2]॥

चाहे कथावस्तुके सन्दर्भमें पढ़ा जाय चाहे मुक्तकोंके रूपमें, इनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन्हें मुक्तक माननेमें कोई गम्भीर बाधा भी नहीं उपस्थित की जा सकती। यह कहा जा सकता है कि इनमें प्रोषितपतिका और पथिक या किसी अन्य व्यक्तिकी कल्पना ऊपरसे करनी पड़ेगी। किन्तु भारतीय तथा फारसी आदि विदेशी साहित्यमें भी मुक्तकको कथाका सहारा किसी-न-किसी प्रकार बनाना पड़ा है। मुक्तकोंकी रचना प्रायः विशिष्ट नायक-नायिकाओंको ही दृष्टिमें रखकर की जाती रही है। बिहारीके दोहोंका अर्थ समझनेके लिए उनमें कथाका अध्याहार करना पड़ता है। कभी-कभी तो एक कथा ऊपर से जोड़े बिना उन दोहोंका अर्थ खोलना भी असम्भव हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लके अनुसार "अनेक स्थानोंपर इनके व्यंग्यार्थको स्फुट करनेके लिए बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलोंपर केवल रीति या रूढ़ि पाठककी सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंगका आक्षेप करना पड़ता है।[3]"

इस प्रकार संदेशरासकके विरह-वर्णनात्मक छंदोंमें और मुक्तकोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। इस प्रकारके क्षीण-प्रबन्ध-धर्मा मुक्तक काव्योंकी भारतीय साहित्यमें कमी नहीं है। 'मेघदूत', 'ऋतुसंहार', 'गीतगोविंद', 'चौरपंचाशिका', 'रम्भा शुक संवाद', 'बीसलदेव रासो', 'ढोला मारू रा दोहा' और 'उद्धवशतक' आदि इसी प्रकारके काव्य हैं जिनमें प्रबन्धात्मकता केवल नाममात्रके लिए है और जो शुद्ध मुक्तक काव्योंसे दूर नहीं पड़ते। ऐसे काव्योंमें कविको कथावस्तुसे उतना मोह नहीं रहता। बीच-बीचमें कथाकी कड़ी वह केवल इसीलिए जोड़ता रहता है ताकि उसे पात्रोंके हृद्गत भावोंको वर्णन करनेके बहाने और अधिक

---

१. संदेशरासक, द्वितीय प्रक्रम, ७०।

२. वही, ७२।

३. हिन्दी साहित्यका इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल.

मुक्तकोंकी रचना करनेका अवसर मिले। वह कथासूत्रोंकी योजना मुक्तकोंके लिए करता है। उदाहरणके लिए संदेशरासकका एक प्रसंग लें—

पथिक नायिकाका संदेश सुनते-सुनते ऊब चला था और बारबार जानेकी अनुमति माँगता था। किन्तु विरहिणी उसे रोक लेती थी। उसके संदेशका क्रम चल ही रहा था कि अचानक पथिक द्रवित होकर पूछ बैठता है कि हे चन्द्रवदनी! सच बताना कि नवघन रेखासे निकले हुए शरत्कालीन निर्मल, प्रत्यक्ष अमृतस्रावी चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर तुम्हारा यह मुख विरहाग्निके द्वारा कबसे श्यामीकृत किया जा रहा है।[1]

यहाँ पहलेसे चली आई हुई कथाका सूत्र मिलने लगता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि संदेशरासकका कवि यहाँ ऋतुवर्णनका बहाना निकाल रहा है। अब पथिकने पूछा तो क्या विरहिणी बतायेगी नहीं? और वह क्या संक्षेपमें बतायेगी? वह बताने लगती है कि उसका प्रियतम ग्रीष्ममें गया था। ग्रीष्मसे वर्षा बीती, वर्षासे शरद्, शरद्से हेमन्त और हेमन्तके बाद वसंत भी बीत गया, किन्तु उसका प्रिय नहीं लौटा।

संदेशरासक इसी प्रकार मुक्तकप्रधान या क्षीणप्रबन्ध-धर्मी मुक्तक काव्य है जिसके अधिकांश छंदोंका सौन्दर्य कथासूत्रसे अलग करके पढ़नेसे भी ज्योंका त्यों बना रहता है। इसके छंदोंकी तुलना उन मुक्तामणियोंसे की जा सकती है जो एक सूत्रमें ग्रथित होनेपर कंठहारके रूपमें भी सुशोभित होते हैं और बिखर कर अलग हो जानेपर भी सुन्दर और मूल्यवान् बने रहते हैं।

## सन्देशरासककी भाषा

संदेशरासककी भाषाके विषयमें विद्वान् एकमत हैं कि वह परवर्ती अपभ्रंशकी रचना है।[2] काव्यानुशासनमें हेमचन्द्रने शिष्ट अर्थात् परिनिष्ठित अपभ्रंशसे भिन्न 'ग्राम्य' अपभ्रंशका अस्तित्व स्वीकार किया है। यह 'ग्राम्य' अपभ्रंश शिष्ट अपभ्रंशकी अपेक्षा जन-जीवनकी बोलीके निकट थी। हेमचन्द्रके बाद अपभ्रंश

१. सं० रा०, द्वितीय प्रक्रम, १२२।

२. भाषा शास्त्रकी दृष्टिसे यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है। संदेशरासक इसी प्रकारके अपभ्रंशमें बारहवीं तेरहवीं शताब्दीमें... रचित हुआ था।

—हिन्दी साहित्यका आदिकाल पृ० ४२

Tho author has not composed in the classicalApabhramsa—which by his timcs was long dead.

सं० रा० इन्ट्रोडक्शन पृ० १८

काव्यकी जो धारा बहती रही उसमें इस ग्राम्य तत्त्वका अधिकाधिक समावेश तो होता ही गया, हेम-व्याकरण द्वारा निबद्ध नियमोंके पालनमें भी शिथिलता बढ़ती गई। इस विकसित या परवर्ती अपभ्रंशकी परिनिष्ठित अपभ्रंशसे कुछ स्पष्ट विभिन्नताएं भी हैं। इसी आधारपर लोगोंने इसे अपभ्रंशसे अलग 'अवहट्ट' नाम देना चाहा है[1]। संदेशरासकके कविने भी अपनी रचनाको बोलचालके निकट रखनेकी ओर यथेष्ट ध्यान दिया है। वे जब कहते हैं कि मेरी कविता सदा उन्हींके सामने पढ़ी जानी चाहिए जो न पंडित हैं न मूर्ख; बल्कि मध्यम हैं तो इसका अर्थ यही है कि उन्होंने अपने काव्यकी रचना जन-साधारणके लिए की है।

यहाँ हम परवर्ती अपभ्रंश या 'अवहट्ट'की प्रवृत्तियोंकी विवेचना नहीं करने जा रहे हैं। हमारा ध्यान संदेशरासकमें मिलनेवाली भाषागत उन विशेषताओंपर ही अधिक रहेगा जिनके सहारे इसकी भाषाको परिनिष्ठित अपभ्रंशसे अलग समझा जा सकता है।

## १. लुप्त-विभक्तिक प्रयोग—

संदेशरासककी भाषामें रूपनिर्माण सम्बन्धी जिस विशेषता पर सबसे पहले ध्यान जाता है वह लुप्त-विभक्तिक पदोंके प्रयोग। ऐसा ज्ञात होता है कि लुप्त-विभक्तिक प्रयोगोंका अवहट्ट कालमें काफी प्रचलन हुआ।

कर्ता—

लहि छिद्द वियंभिउ विरह घोरु।—संदेशरासक। २१२
उच्चरहिं सरसु महुयर झुणीउ। २१६

कर्म—

लखन कहा हँसि हमरे जाना।—तुलसी
सिहि चडिउ पिक्खि मायंदसाह।—सं० रासक।२१२
तूरा रवि तिहुयण वहिंरयंति।—वही।२१८
मुकुता लेउं तो घुंघुची डीठी।—जायसी
सुफलक सुत दुख दूर करौं।—सूर

करण—

णिय घरणिय सुमरंत विरह सबसेय कय।—संदेशरासक। १०३
जल रहिय मेह संतविअ कॉइ।—वही। ९१८
पुहुप पंक रस अभिय सँवारे।—जायसी

---

१. कीर्तिलता और अवहट्ट पृ० ७

तिहि अनुराग वस्य भए ताके ।—सूर
मोरे कर ताकर वध होई ।—तुलसी

सम्बन्ध—

अवर कहव वरमुद्ध हसंतिय अहरयलु ।—संदेशरासक ।१५
अंगिहिं तुह अलहंत धिट्ठ करयल फरिसु ।—वही, १९१
बिरह बान तस लाग न डोली ।—जायसी
बिथा बिरह जुर जारी ।— सूर

अधिकरण—

जइ पिम्मविओय विसंठुलयं हियय ।—सन्देशरासक । ११५
टेकु पियास बाँधु जिय धीती ।—जायसी
एक दिवस मेरे घर आए मैं ही मथत दही ।—सूर
सोइ भरोस मोरे मन आवा ।—तुलसी

अपादान और संप्रदानके लिए संदेशरासकमें लुप्त-विभक्तिक पदोंका प्रयोग विरल है। इनके लिए, उसमें 'रेसि' 'लग्गि' 'हुंत' 'टिंठ्यइ' आदि परसर्ग आते हैं।

हेमचन्द्रके प्राकृत व्याकरणमें यद्यपि केवल षष्ठी बहुवचनके लिए ही विभक्ति लोपका नियम मिलता है,[1] किन्तु स्वयं हेमचन्द्र द्वारा उदाहरणरूप दिये गए दोहोंमें ही और लुप्तविभक्तिक प्रयोग ढूढे जा सकते हैं जैसे निम्न दोहेमें कर्ता विभक्ति का लोप स्पष्ट है—

अम्हे थोवा रिउ बहुउ कायर एम्व भणन्ति ।
मुंधि णिहारय गयण तलु कइ जण जोण्ह करंति ॥

फिर भी यह सत्य है कि संदेशरासककी भाषामें लुप्तविभक्तिक पदोंके प्रयोग पहलेसे कहीं अधिक मिलने लगते हैं। इससे प्रकट होता है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका यह लक्षण संदेशरासकके रचना-कालतक स्फुट हो चला था।

## २. परसर्ग—

लुप्तविभक्तिक पदोंका व्यवहार बढ़ जानेका परिणाम यह हुआ कि अर्थ-स्पष्टताके लिए परसर्गोंका व्यवहार परिनिष्ठित अपभ्रंशकी अपेक्षा परवर्ती अपभ्रंशमें बढ़ गया। हेमचन्द्रके व्याकरण में केहिं, रेसिं, तणेण, होन्तओ, करेअ,

१. षष्ठ्या । ३४५

केर, मज्झि आदि परसर्ग दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु संदेशरासकमें सत्थिहि, सम, सउ, सरिसु, हुंतउ ट्ठियइ, रेसि, लग्गि, महि इत्यादि परसर्गोंकी भरमार हो जाती है। ध्यान देनेकी बात है कि इनमें प्रथम चार परसर्ग केवल 'साथ' अर्थ बोधक हैं। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि एक ही अर्थ बतानेवाले कई परसर्गोंका व्यवहार होने लगा था।

सत्थिहि ( साथ ) विविह-विअक्खण-सत्थिति जइ पवसियह।—संदेश-रासक। ४३

सोहहि सिज्ज तरुणि जण सत्थिहि।—वही। १७५

सम (से. के साथ) कावि केण सम दर हसइ।—सं० रा०। ४७

सउ—भायाणी जी ने इसे 'सम' का ही विकृत रूप माना है।[१]

दोहा पंच कहिज्जसु गुरु विणएण सउ।—सं० रा०। ७४
महण समत्थिम विरह सउ।—वही। ७९

हिन्दी के स्यूं, सन इसीके विकसित रूप होते हैं।

कलिजुग हम स्यूं लड़ि पड़ा।—कबीर
सो मोसन कहि जात न कैसे।—तुलसी

सरिसु ( समान, सदृश )—

कंपएलु मियणाहिण सरिसउ सेवियइ। सं० रा०। १८७
संसोसिउ तणु हिनिण हाम हेमह सरिसु।—वही। १९१
नर नारायन सरिस सुभ्राता।—तुलसी

हुंतउ (से० अपादाने)—

तिह हुंतउ हउं इक्कणि लेह उपेसियउ।—सं० रा०। ६५
जलहुंति निकसि सकति मुवकाछू।—जायसी
मोरि हुंति विनय करब कर जोरि।—तुलसी

ट्ठियउ (स्थित से)—

तह खणि खुबइ कवालु न वामकरट्ठियउ।—सं० रा०। ८६

भायाणीजीके अनुसार गुजरातीका 'थी' इसी 'ट्ठिउ'से संबद्ध है। अवधीमें बहुप्रयुक्त 'थे' अनुमातः इसीसे सम्बद्ध है।

ताथें विनय करौं सब पाहीं।—तुलसी

---

१. संदेशरासक ग्रामर, पृ० ३९

रेसि (के कारण)—

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि ।—सं० रा० । २१

'रेसि'का प्रयोग व्रज, अवधी या हिन्दीकी अन्य किसी साहित्यिक भाषा-में नहीं मिल सका है । ज्ञात होता है कि इसका व्यवहार धीरे-धीरे समाप्त हो गया । सम्भव है हिन्दीके अतिरिक्त अन्य किसी आधुनिक भाषामें इसके विकसित रूप मिलें ।

लग्गि (समय की सीमा का बोधक)—

कइय लग्गि विरहग्गिधूमि झंपिइउ मुह ।—सं० रा० । १२२
तब लगि मोहि परेखहु तुम्ह भाई ।—तुलसी

तणि (सम्बन्ध वाचक परसर्ग)—

तसु लइ मइतणि णिद णहु ।—सं० रा० । ९४

'तन' का सम्बन्ध अनुमानतः इसीसे है ।

पियतन चितइ भौंह करि बाँकी ।—तुलसी

महि (में)—

णिट्ठुर करुणु सद्दु मण महि लव ।—सं० रा० । ६६

'महि' के किंचित् परिवर्तित कई रूप मिलते हैं ।

युवराजन्हि माझ पवित्र ।—विद्यापति
उवा सक अस नखतन माँहा ।—जायसी
देवल माँहे देहुरी ।—कबीर
राधा मनमैं इहै बिचारत ।—सूर
तिन मँह प्रथम रेख जग मोरी ।—तुलसी

## ३. सर्वनाम :—

संदेश रासकमें आये हुए सर्वनामोंको नीचे दिया जा रहा है ।

उत्तम पुरुष-हउ, हउं (प्रथमा)—

संदेशडउ सवित्थरउ हउं कहणह असमत्थ ।—सं० रा । ८०
तिह हुंतउ हउं—वही । ६५
हौं रानी पदुमावति सात सरग पर बास ।—जायसी
जीवित विवाह न हौं करौं ।—तुलसी

मइ (द्वितीया)—

तं तइय मुक्ख खल पाइ मइ ।—सं० रा० । १९१

हिन्दीमें मइ का प्रयोग द्वितीयामें नहीं मिलता।

मइ (सप्तमी)—

जइ मइ णत्थि णेहु ताकंतह।—सं० रा०। १०४

मह, महु, मज्झ (षष्ठी)—

पहिय ण सिज्झइ किरि वलु मह कंदप्प सउ।—सं०रा०। ९९

महु इक्कह परि पहिय। —वही। १०४

जं विरहग्गि मज्झ णक्कंतह।—वही। १०४

नां तूं मिलै न मैं खुसी ऐसा वेदन मुझ्झ।—कबीर

अम्हिहि (तृतीया बहुवचन)—

पाइउ अम्हिहि जाइ पियह भणु।—सं०रा०। ११४

अम्ह (षष्ठी बहुवचन)—

इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह बड्डए।—सं० रा०। १२०

हिन्दीमें अम्हिहि 'अम्ह' जैसे रूप न होकर 'हम'के रूप मिलते हैं।

**मध्यमपुरुष—**

तुहु, तूं, (प्रथमा)—

तुहु पुण कज्जि हिआवलउ।—सं० रा०। ८८

जिहि अंगिहि तूं विलसियउ।—वही। ७७

तुहुं करुनामय देव दयानिधि।—विद्यापति

तूं जोगी तप करु मन जथा। —जायसी

तइ(तृतीया)—

इम दुक्खह तरलच्छि काँइ तइ अप्पियइ।—सं० रा०। १२४

हिन्दीमें यह 'तइ' सानुनासिक होकर 'तैं' हो गया है और प्रथमा में प्रयुक्त होता है। जैसे "तैं कियो"।

पइ (सप्तमी)—

पइ पोरिस निलएण।—सं० रा०। ७७

हिन्दीमें यह 'पइ' नहीं मिलता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके अनुसार "माँग-माँग पै कहहु प्रिय" में 'पै' तुमके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

तुअ, तुह, तुझ (षष्ठी)—

तुअ छंड्डिवि हियअट्ठियह।—सं० रा०। ७५

तुह विरह पहर संचूरिआइं।—वही। ७२

इहु अच्चरिउ तुझ उक्कंठि।—वही। १२०

हिन्दीमें तुझका प्रयोग कर्म और अधिकारणमें भी मिलता है।

नैन हमारे जलि गए छिन छिन लोडें तुझ।—कबीर
जांणैगां रे जीवड़ा, मार पड़ेगी तुझ।—कबीर

तुम्हेंहि तुम्हि (तृतीया बहुवचन)—

तुम्हेंहि वि जं न सुउ विअडबंधु सुच्छंदु सरसउ।—सं० रा०। १८

## संकेतवाचक सर्वनाम—

सु, सो तं—( प्रथमा )—

सु पुणु तत्थव रय हूअउ।—सं० रा० १९९
सो बुहयण वो सिवं देउ—वही। १
सदा सो सानुकूल रह मोपर!—तुलसी

तं ( द्वितीया )—

तं ज पहिय पिक्खेविणु?—सं० रा०। २६

तिणि-तेण ( तृतीया )—

तिणि सूडिय झडि करि असेस। सं० रा०। १९२
णाहण आणिउ तेण।—वही। १९९
तिन्ह फिरि भवनु न देखो आहि।—तुलसी।

तसु-तस्स-तह—(षष्ठी)—

तसु कद्दउ बिबुह संगहवि हत्थु।—सं० रा०। २०
तस्स वयणु आयन्नि।—वही। ९८
मालिणवित्तु कहिव्वउ इक्कह तह खलह।

हिन्दीमें इनसे सम्बद्ध 'तासु' रूप मिलते हैं, जैसे—

तात तासु तुम्ह प्रान अधारा—तुलसी

तहि ( सप्तमी )—

किं तहि देखि णहु फुरइ—सं० रा० १८३
तेहिं अवसर मुनि नारद आए करतल बीन—तुलसी

## निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम—

इहु, एहु, एह, एउ, इय, आहि—

हुई उवम इहु कहु कवण।—सं० रा०। १९९
दुक्करु गमियइ एहु णाहु सुमरंतियइ।—वही। २०४
जिण किय एह अवत्थ णेहरहरहिययण—वही। ९१

तिह पुरउ पढिव्वउ णहुवि एउ ।—वही । २०
कहवि इय गाह पंथिय मन्नाएवि पिउ ।—वही । ७४

हिंदीमें इन सर्वनामोंसे मिलते-जुलते कई रूप मिलते हैं ।

एहि जग बहुत नदी जल जूड़ा ।—जायसी
एहि मह रघुपति नाम उदारा ।—तुलसी आदि

## सम्बन्धवाचक सर्वनाम—

जु जो जं ( प्रथमा )—

संपडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु !—सं० रा० । २०
जो कालंगुलि मूंदडउ सो बाहडी समाइ ।—वही । ८१
पामर जण थूलक्खरहि जं रइयउ णिसुणेहु—वही । १९

हिंदीमें 'जो' की कमी नहीं है ।

स्रवन सुनहु जो कुंदन सीपि ।—जायसी
जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा ।—तुलसी

जं—( द्वितिया )—

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठु—सं० रा० । १८

जिण, जिणि ( तृतीया )—

जिण किय एह अवत्थ ।—सं० रा० । ९१
जिण हउँ विरहह कुहरि—वही । ९२
जिन देखे सखी सति भाइन ते ।—तुलसी

जसु, जासु ( षष्ठी )—

जसु पवसंत ण पवसिया—सं० रा० ७०
मुइय विओइ ण जासु—वही । ७०
जासु चरित अवलोकि भवानी—तुलसी

## प्रश्नवाचक सर्वनाम—

को, कवणु ( प्रथमा )—

णिसुणेविणु को रहइ ।—सं० रा० । १८
मुणइ णासु तह कवणु सरोरुह दल नयणि—वही । ६४
को करि तरक बढावै साखा—तुलसी
पेड़ा रोटी खाइ भरि गला कटावै कौंण—कबीर

किं पि (द्वितीया)—

अप्पह णिद्दय किं पि भणे ।—सं० रा० । ९५

कसु (षष्ठी)—

जाउ सरणि कसु पहिय भणे ।—सं० रा० वही । ९५

कह (पंचमी)—

कहँ व तुह आइयउ ।—सं० रा० । ४१

कह (सप्तमी)—

भणु कह कालि पडुत्तउ सुन्दरि तुअ सुहउ ।—सं० रा०

पूर्वकालिक क्रिया—

सन्देशरासकमें इवि, अवि, एवि, एविणु, अप्पि, इय और इ प्रत्यय लगाकर बनाये हुए पूर्वकालिक रूप मिलते हैं।

हंसिहि कंदुट्टिहि घुट्टिवि रसु ।—वही । १६२
झंपवि तम वद्दलिण दसह दिसि छायउ अंबरु ।—वही १४८
कहवि इय गाह पंथिय मन्नाएवि पिउ ।—वही । ७४
गाह पढ़िज्जसु इक्क पिय कर लेविणु मन्नाइ ।—वही । ७१
मइ घणु दुक्खु सहप्पि ।—वही । ११९
तं झंखरु विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ ।—वही । १३२
तसु सुयण निवेसिय, भाइण पेसिय ।—वही । ९५
जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिय ।—वही । ९२

इसके अतिरिक्त संयुक्त पूर्वकालिकका एक यह उदाहरण मिलता है।

विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ ।—वही । १०८

प्रक्षिप्त माने गये एक और दोहेमें भी इसका उदाहरण दिखलाई पड़ता है।

इकुँ मणि विंभउ थियउ कि रूविणि पिक्खि करि ।—पृ० । १५

खड़ी बोली हिन्दीमें चलनेवाले 'जलकर', 'रोकर' जैसे रूपोंका यह पूर्व-रूप ज्ञात होता है।

क्रियार्थक संज्ञा—

सन्देशरासकमें क्रियार्थक संज्ञाओंके चार प्रत्यय मिलते हैं।

१ अणह, २ अजउ, ३ अणु, ४ अण—

संदेसडउ सवित्थरउ हउ कहणह असमत्थ ।—वही । ८०
लज्जवि पंथिय जइ रहउँ, हियउ न धरणउ जाइ ।—वही । ७१
संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।—वही । ८१

किम कोइल कलरउ सहण जाइ ।—वही । २१८
जानि न जाइ निसाचर माया ।—तुलसी
केसव कहि न जाइ का कहिए ।—तुलसी

तव्यार्थक क्रिया—

तव्यार्थ क्रियायें इव्वउ, और इज्ज प्रत्यय लगाकर बनाई हुई मिलती हैं ।

तिह पुरउ पढिव्वउ ण हु वि एउ ।—वही । २०

पूर्वी भाषाओं ( मैथिली भोजपुरी आदि ) में सर्वनाम-व्यंजक चिह्नके साथ यह रूप प्रयुक्त होता है ।

हमरहूँ सुधि द्याइवी कछु करुण कथा चलाइ ।—विनय-पत्रिका
तिम जंपिय जिम कुणइ णहु तं पभणिय जं जत्तु ।—वही । २२२
विन्नि चउपइय पभणिज्ज तसु निग्घिणे ।—वही । ८५
काह धौं कीजिए जू ।—घनानन्द

भाववाच्य—

संदेशरासकमें अधिकांश भाववाच्य अइ प्रत्ययांत मिलते हैं । जैसे—

भुवणुप्परु परिहरवि पसुप्पइ जामिणिहि ।—वही । १८८

संदेशरासकमें 'आण' प्रत्ययान्त कर्मवाच्य मिलता है—

भण पिय इकत्ति बलियडइ वेवि समाणा हत्थ । ८०

अवधीमें इस प्रकारके प्रयोगोंकी कमी नहीं है—

जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना ।—तुलसी
बिन्दु समानी सिन्धुमें ।—कबीर

समास—

सन्देशरासकमें आये हुए समासोंकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी अनियमितता और स्वतन्त्र प्रवृत्ति है । जैसे—

धम्मिल्ल उमुक्क ( २५ ) जिसे नियमके अनुसार उमुक्क धम्मिल्ल होना चाहिए था ।

णेवर-चरण विलग्गिवि ( २७ ) जिसे चरण-णेवर विलग्गिवि होना चाहिए था । और—

णव घण-जंति-तलि ( १३० ) इसे णवघण तलि जंति होना था ।

संस्कृत, हिन्दीमें समासगत नियमोंकी उपेक्षा करनेके उदाहरण कम नहीं हैं । इस विषयमें हरिऔधजीके 'प्रिय-प्रवास'में समास सम्बन्धी स्वच्छन्दता पूरी तरह बरती गई है—

वसुमती-अनुराग-स्वरूपिणी,
विलसती-बहु-वीर बहूटियाँ
या
परम-म्लान हुई बहु-बोलि को,
निरखके फलिता अति पुष्पिता[१] ?

वाक्यगठन—

( क ) षष्ठीका कार्यविस्तार—

षष्ठीका कई कारकोंके लिए प्रयोग संस्कृतमें ही मिलता है। संदेशरासक-में भी इस प्रकारके प्रयोग मिलते हैं।

षष्ठीका कर्मके लिए प्रयोग—

तुअ छड्डिवि हिअयट्ठियह। ७५
मज्झ संतोसिहइ। १९७

षष्ठीका तृतीयाके लिए प्रयोग—

दक्खिण मग्गु णियंतह, भत्तिहिं
दिट्ठ अइत्थिरिसिउ मइ झत्तिहिं। १५९
एम भमंतह सुन्नहियय जं रयणि विहाणिय। १५९

हिन्दी खड़ी बोलीमें 'बातका मारा', 'चक्कीका पीसा' जैसे प्रयोग इसी तरहके हैं।

षष्ठी का तुलनार्थ प्रयोग—

सुन्नारह जिम ( १०८ ), जम जीहह णं ( १३२ )

मात्रानुरोध—

पद्यरचनाके लिये कवियोंको कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। वे शब्दोंको थोड़ा-बहुत इधर-उधर छन्दके आग्रह या अन्य किन्हीं कारणोंसे कर सकते हैं। अपभ्रंशके कवियोंको यह रियायत कदाचित् अपेक्षाकृत अधिक मात्रामें मिली थी। उसपर भी परवर्ती अपभ्रंश काव्योंमें इस अधिकारका मनमाना दुरुपयोग किया गया है। रासोकी भाषामें यह स्वच्छन्दता अपनी चरम सीमामें दिखलाई पड़ती है। शब्दोंका यह मनमाना प्रयोग संदेशरासक-में भी मिलता है। इसके लिये निम्नलिखित पद्धतियाँ काममें लाई गई हैं—

१. प्रियप्रवास १२।१२, १३

१—लघु स्वरको गुरु बना दिया जाता है। लघुको गुरु तीन तरीकोंसे बनाया गया है।

(क) दीर्घीकरण द्वारा—

पावास<पवास<प्रवास (कहइ रुवइ विलवंती पिय पावासहइ)। ११८

साहार<सहआर<सहकार ( हउ किय णिस्साहार पहियसाहारवण )। १३४

अग्गीहर<अग्गिहर<अग्निगृह (सिसिर भइण किउ जलणु सरणु अग्गीहरहि)। १९४

(ख) साधारण व्यंजनको द्वित्त करके—

णवब्भिस<णवभिस<नवबिस (सकलाय णवब्भिस सुद्धगले)। १७१

चिरग्गय<चिरगय<चिरगत (पुण पिउ समरिउ पहिया चिरग्गउ)। १८१

तुस्सार<तुसार<तुषार (अवलोइय धवल हरसेय तुस्सारभरि)। १८४

(ग) अनुस्वार द्वारा—

सुहं<शुभ (सं केवइ जणइ सुहं विआसु)। २०१

२—गुरु अक्षरको लघु बना दिया जाता है। इसके लिए तीन पद्धतियाँ अपनाई गई हैं।

(क) दीर्घस्वरको ह्रस्व करके—

झल<झाल<ज्वाला (उल्हवइण केणइ विरहज्झल)। १३७

सियल<सीयल<सीतल (मरु सियलु वाइ महि सीयलंतु)। २१०

(ख) द्वित्त व्यंजनको सरल करके—

उसास<उत्+श्वास (दीह उसासिहि दीहरयणि मह गइय णिरक्खर)। १९१

दुसह<दुःसह (दुसह फुरंत तिव्वमह)। १२०

(ग) अनुस्वारको दुर्बल अर्थात् सानुनासिक बनाकर

सिंगारु<शृंगार (करिवि सिंगारु विविह आहरणिहिं)। १६७

(घ) कभी छंदानुरोधवश किसी वर्णका लोप हो जाता है, जैसे—

वक्खर<उवक्खर<उपस्कर (मह साइय वक्खरु हरि गउ तक्खरु)। ९५

(ङ) छंदके अनुरोधसे स्वार्थक प्रत्ययोंका आगमन

अलिंकयउ<अलंकृत + उ, पंकियउ<पंकित + उ मयणवहु मिअ-
णाहिण कस्स व पंकियउ।

अन्नह भालु तुरक्कि तिहइ आलंकियउ। ४८

जैसा कि कहा जा चुका है, अब्दुल रहमानने संदेशरासककी रचना जनसाधारणके लिये की थी। उस समयतक अपभ्रंशको साहित्यिक मान्यता मिल चुकी थी और उसकी साहित्यिक भाषा, जिसका आधार शौरसेनी थी, परिनिष्ठित हो चली थी। साथ ही साथ ग्राम्य अपभ्रंशका विकास हो रहा था। इस ग्राम्य अपभ्रंशमें देशी तत्त्वकी अधिकता रही होगी। इसमे परिनिष्ठित अपभ्रंशके व्याकरणिक नियमोंका पालन भी उतनी कड़ाईसे नहीं हो सकता था। इसी परवर्ती अथवा ग्राम्य अपभ्रंशका विकसित रूप आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें हैं। संदेशरासककी भाषामें गुजराती, राजस्थानी, पुरानी व्रज और खड़ीबोली-के पूर्व रूप मिलते हैं।[१]

ज्ञात होता है कि संदेशरासकका रचयिता समादृत मधुर प्राकृत शब्दों और प्राचीन शैलीका मोह नहीं छोड़ पाया था। संदेशरासकके दोहोंकी भाषा, गाहा, रड्डा तथा अन्य छंदोंकी भाषासे अधिक विकसित जान पड़ती है। दोहेको अपभ्रंशका अपना छंद कहा गया है। संदेशरासकका कवि गाहा तथा अन्य छंदोंको लिखते समय अपने आपको संस्कृत, प्राकृत आदिके ज्ञानभारसे सर्वथा मुक्त नहीं कर पाता था।

'प्राकृत व्याकरण' और संदेशरासकके एक ही अर्थका बोध करानेवाले दोहोंकी तुलनासे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संदेशरासकका दोहा अपेक्षाकृत नवीन है—

जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसड़ा दिन्ताहिं सुहय जणस्सु॥

—प्रा० व्या० ४।४२१

जसु पवसंत ण पवसिआ मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंती पहिय पियासु॥

—संदेशरासक। ७०

---

१. संदेशरासककी भाषाके सम्यक अध्ययनके लिये श्री हरिवल्लभ भायाणी द्वारा लिखित 'ग्रामर' (संदेशरासक : सं. श्री जिनविजयमुनि तथा श्री हरिवल्लभ भायाणी एम. ए.) देखिए।

संदेशरासकके दोहेमें तस्सु, 'सुहय जणस्सु' जैसे रूप नहीं हैं अपितु 'जासु' और 'पियासु' जैसे क्षतिपूरक दीर्घीकृत शब्द हैं।

प्राकृत व्याकरणमें उदाहृत सभी दोहोंका भाषा-स्तर एक नहीं है। उनमें कुछ दोहे अपेक्षाकृत प्राचीन ज्ञात होते हैं और कुछ नवीन। दूसरी कोटिके ये दोहे भाषाकी दृष्टिसे संदेश रासकके दोहोंसे बहुत दूर नहीं पड़ते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संदेशरासककी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश और प्राकृतपैंगलम्की भाषाकी कड़ी है, किंतु रासक की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंशसे उतनी दूर नहीं है जितनी कि प्राकृतपैंगलम्की भाषासे। ऊपर उद्धृत दोनों दोहोंके साथ प्राकृतपैंगलम्के इस दोहेको रखनेसे इसकी आधुनिकता स्पष्ट हो जाती है—

सुर अरु सुरही परसमणि णहि वीरेस समाण।
ओ वक्कल अरु कठिण तण, ओ पसु ओ पासाण॥

—प्रा० पै० मात्रावृत्तम् ७९

## संदेशरासकमें प्रयुक्त छन्द

अपभ्रंश साहित्य-छन्दोंकी दृष्टिसे अत्यन्त धनी है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओंकी अपनी-अपनी छन्दविषयक विशेषाएँ हैं। श्लोक संस्कृतका, गाहा प्राकृतका और दोहा अपभ्रंशका मुख्य छन्द है। किन्तु दोहेमें एक ऐसी बात है जो पूर्ववर्ती छन्दोंमें नहीं थी—वह बात तुक मिलानेकी है। दोहेकी इस विशेषताका परवर्ती भारतीय साहित्यपर अत्यन्त व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा। दोहेका प्रथम प्रयोग 'विक्रमोर्वशीय'में बताया जाता है। यदि विक्रमोर्वशीयका यह दोहा प्रक्षिप्त न हो तो अनुमान किया जा सकता है कि दोहेका आरम्भ ईसाकी पहली दूसरी शताब्दीतक हो गया था। 'प्राकृतपैंगलम्'में दोहेसे ही मिलते-जुलते एक छन्दको 'आभीर छन्द' कहा गया है।[१] वस्तुतः दोहा, आभीर, सोरठा ये एक ही जातिके छन्द हैं। जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्षित किया है अहीरों के प्रिय छन्द बिरहाका खाका भी दोहेका ही है।[२] जो हो, अपभ्रंश भाषाकी भाँति अपभ्रंशके मुख्य छन्द 'दोहे'का सम्बन्ध भी कुछ-न-कुछ अहीरोंसे अवश्य ज्ञात होता है।

दोहा मुक्तक काव्यके लिये अत्यन्त उपयुक्त छन्द रहा है और चौपाई चरित काव्योंका प्रिय छन्द है। साधारणतः यही समझा जाता है कि हिन्दीमें दोहे-चौपाईमें चरितकाव्य लिखनेकी परम्पराका आरम्भ सूफी कवियोंने

१. प्रा० पै० मात्रावृत्तम् १७७
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ९२, ( प्रथम संस्करण )

किया। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि इसका आरम्भ और पहलेसे ही हो गया था।[1] अपभ्रंश काव्य कड़वकबद्ध हैं। उनमें पज्झटिका या अरिल्लकी कई पंक्तियोंके बाद नियमित रूपसे बीच-बीचमें एक घत्ता दे दिया जाता है। चार पद्धड़ियों या आठ पंक्तियोंका एक कड़वक होता था। घत्ता वस्तुतः एक छन्द है किन्तु कालान्तरमें वह केवल एक छेदक छन्दके रूप ही समझा जाने लगा। घत्ता या छेदक छन्द द्विपंक्तिलेख्य (couplet) होते थे। दोहा, बरवै, सोरठा आदि कई द्विपंक्तिलेख्य छन्द 'घत्ता' के रूपमें व्यवहृत होते थे। सूफी कवियोंके बादसे घत्ताके रूपमें दोहोंका प्रयोग सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। दोहेका घत्ता रूपमें प्रयोग 'थूलभद्द फागु' में भी मिलता है। इसी प्रकार चौपाई और दोहेका साथ-साथ प्रयोग भी प्राचीन ज्ञात होता है।

अपभ्रंश छन्दोंको मोटे तौरपर दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। पहली कोटिमें वे छन्द आते हैं जो परस्पर या अपभ्रंश महाकाव्योंसे सम्बद्ध हैं। ये शास्त्रीय परम्पराके छन्द हैं। दूसरी तरहके वे छंद हैं जो अपभ्रंश मुक्तकों और मागधों द्वारा गाए जानेवाले विविध प्रकारके गानोंमें मिलते हैं। इन्हें मागध परम्पराके छंद कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि द्वितीय परम्पराका लोकजीवनसे अधिक सम्पर्क था। अतएव इसमें निरन्तर संशोधन और परिवर्धन होते रहे हैं। 'स्वयंभू छंदस्' 'छन्दानुशासन' और 'कविदर्पण'में अधिकांशतः उन्हीं छन्दोंके लक्षण मिलते हैं जो शास्त्रीय परम्परा हैं जब कि 'छंदःकोश' और 'प्राकृतपैंगलम्'में मागध परम्पराके अधिकांश छंदोंके लक्षण मिलते हैं। 'छंदःकोश' और 'प्राकृतपैंगलम्' में लक्षणोंका संग्रह प्राचीन ग्रंथोंके आधारपर अधिक हुआ है।[2]

किंतु इन विभाजनोंसे यह नहीं समझना चाहिए कि अपभ्रंश महाकाव्योंमें केवल 'शास्त्रीय छंदों' का और इतर काव्योंमें केवल 'मागध-परम्परा' के ही छंदोंका प्रयोग हुआ है। दोनों प्रकारके काव्योंमें छंदोंके प्रयोगमें इस तरह-

---

१. अइसें विसन संधि को पइसइ। जो जइ अत्थि णउ जावन दीसइ
पंडिअ सअल सत्थ बक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत ण जाणइ
गमणागमण न तेन विखण्डिअ। तो वि णिलज्ज भणहि हउँ पण्डिअ
जीवन्तह जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसे विमल मइ
सा पर धण्णा कोइ॥
—सरहपा। हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पृ० ९६ पृ० सं० से उद्धृत

२. संदेशरासक 'भ्रामर' पृ. ४९

की कोई सतर्कता नहीं बरती गई है। यह विभाजन केवल सुविधाके लिये किया गया है। अपभ्रंश काव्योंमें छंद विविधताका भी प्रचलन था अर्थात् अवसरानुकूल अथवा यों ही थोड़ी-थोड़ी देर बाद छंद परिवर्तित करते चलनेकी रीति 'करकंडुचरिउ', 'णायकुमारचरिउ' आदि ग्रन्थोंमें मिलती है।

संदेशरासकमें कुल बाईस प्रकारके छंद प्रयुक्त हुए हैं। इतने छोटे-से काव्यमें बाईस छंदोंका प्रयोग यह सूचित करता है कि उन दिनों थोड़ी-थोड़ी देरपर छंद बदलते रहनेकी पद्धति व्यापक रूपसे अपना ली गई थी। आगे हम देख चुके हैं कि रासकग्रन्थोंमें 'रास' छंदकी प्रमुखता रहती थी। संदेश-रासकमे लगभग एक-तिहाई इसी छंदमें है और शेष दो-तिहाई इक्कीस छंदोंमें। संदेशरासकमें प्रयुक्त छंदोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) रासा (रासक)—काव्यरूपपर विचार करते समय हम इस छंदका उल्लेख कर चुके हैं। रासककाव्योंमें यह सर्वप्रमुख छंद होता था। संदेशरासक-की कुछ छंद संख्याका एक-तिहाई भाग इसी छंदमें है। रासक २१ मात्राओं-का छंद है। इसकी अंतिम मात्रा लघु होती है और इसमें ५ मात्राओंके गण-का व्यवहार वर्जित है। छन्दःकोश में २१ मात्राओंके छन्दका नाम अहाणउ (आभाणक) दिया हुआ है।[१] संदेशरासक छन्दसंख्या २६ की टिप्पनक व्याख्या-में 'रासक' छन्दका जो लक्षण दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है रासक और आभाणक वस्तुतः एक ही छन्द है।[२] इसीलिए श्री भायाणीजीने छन्दोंपर विवेचन करते समय 'रासा या आहाणउ' शीर्षकसे इस छन्दपर विचार किया है।[३]

'प्राकृतपैंलम्'में 'रासक' या 'रास' नामधारी कोई छंद नहीं मिलता। किंतु इससे मिलते-जुलते 'प्लवंगम' नामक एक छंदका विवरण प्राप्त होता है।[४]

---

१. सी के १७ डिफाइन्स 'अहाणउ' ऐज ए मीटर अव २१ मात्रा'—संदेशरासक : मीटर्स ; पृष्ठ ५८।

२. संदेशरासक में २६वें छंद, जो इस ग्रन्थमें प्रयुक्त प्रथम रासक छंद है, की टिप्पनक रूपा व्याख्यासे भी रासक और अहाणउकी एकता प्रकट होती है—

मत्त होहि चउरासी चहु पय चारि कल
ते सठि जोणि निबद्धी जाणहु चहु अ दल।
पंचक्कलु वज्जिज्जहु गणु सुद्धि वि गणहु
सो वि आहाणउ छदु केवि रासउ मुणहु

—संदेशरासक टिप्पनक व्याख्या, पृ० १२

३. संदेशरासक 'मीटर्स', पृष्ठ ५८।

४. प्रा० पै० मात्रावृत्तम्, १८६
ग्रामर ऑफ़ दि हिंदी लैंग्वेज, पृ. ५७१

हिंदीमें अवश्य 'रासा' छंद प्रचलित रहा है। केलागने इसका यह उदाहरण दिया है—

करहु कृपा जगस्वामी मेरे साथ हो ॥
रहिहुं वदा अभिलाषी तेरे हाथ हो ॥

## २. चउपइय—

संदेशरासक छन्द-संख्या ८५ के अनुसार ८६ का छन्द चउपइय है। किन्तु रासकसे और उससे कोई अन्तर नहीं ज्ञात होता है।

## ३. लंकोडय—

इसी प्रकार २०३ वें छन्दके अनुसार इसके आगेवाले छन्द (२०४) को लंकोडय होना चाहिए। किन्तु यह भी लगभग रासाछंदसे मिलता-जुलता है। भायाणीजीके अनुसार इस नामका कोई छंद प्राकृत अपभ्रंशके छन्दोंपर विचार करनेवाली किसी पुस्तकमें नहीं मिलता।[१]

## ४. अडिल्ला—

इस छन्दके विषयमें छन्दःशास्त्रियोंमें बहुत मतभेद है। किन्तु अधिकांश छन्दःशास्त्री इस बातपर एकमत हैं कि यह यमकान्त होता है अर्थात् इसके चारों पादोंके अन्तिम शब्दोंमें यमक होता है। प्रत्येक पंक्तिमें १६ मात्राएँ होती हैं। अन्तिम दो मात्राएँ लघु होती हैं। भायाणीजीका अनुमान है कि अडिल्ला पहले केवल एक प्रकारका छन्दकौशल था जिसके द्वारा अपभ्रंश छन्दमें यमक ले आया जाता था किन्तु बादमें धीरे-धीरे यह यमकान्त छन्दका पर्याय हो गया।[२]

प्राकृत पैंगलम्में अडिल्ला छंदका लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है[३] :

सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह
वे वि जमक्का भेउ अलिल्लह

१. No metre with this name is known to the extent treatise on pk and Ap. metres.

२. These facts make it probable that formerly it was a technical device rather than the name of any specific metre···· and the result was that it ceased to be general name and came to be specially attached to that particular metre.

३. प्रा० पै० मात्रा वृत्तम् १२७

होण पओहर किं पि अलिल्लह
अंत सुपिअ भण छन्दु अलिल्लह

अर्थात् इसके प्रतिपादमें सोलह मात्रायें होती हैं, दोनों चरणोंमें यमक होता है। जगण नहीं आना चाहिए और अंतिम दो मात्रायें लघु होती हैं। केलागने[१] भी इसके यही लक्षण बताए हैं और उदाहरणमें यह छंद प्रस्तुत किया है :—

अब वह आवत वेणु बजावत।
ग्वाल बाल को नाच नचावत॥
लखु अति राजत छवि वह छावत।
झमकि झमकि सब खेल खिलावत॥

## ५. मडिला—

मडिला छंद अडिल्लका ही किंचित् भिन्न रूप है। यदि छंदके चारों चरणोंमें एक एक ही यमक हो तो वह 'अडिल्ला' कहलता है और यदि पहली दूसरी पंक्तियोंके लिए एक यमक हो और तीसरी तथा चौथी पंक्तियोंके लिए दूसरा यमक हो तो उस छंदको मडिला कहेंगे। इसके अतिरिक्त अडिल्ल और मडिलामें कोई अन्तर नहीं होता।

## ६. पद्धड़िया—

पद्धड़िया अपभ्रंश महाकाव्योंका प्रमुख छन्द है। कहा जाता है कि 'जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखनेमें तुलसीदासकी श्रेष्ठता बतलाया करते हैं उसी प्रकार स्वयंभूने चउम्मुह या चतुर्मुखको पद्धड़ियाका राजा बताया था।'[२] अपभ्रंश रचनाओंमें पद्धड़िया बन्ध अत्यन्त प्रचलित था। यह चौपाईके समीप-का छन्द है। कभी-कभी तो पद्धड़ियासे चौपाईका अर्थ भी ले लिया जाता था।[३]

प्राकृतपैंगलम्में पज्झटिका छंदका यह लक्षण दिया गया है—

चउमत्त करह गण चारि ठाइँ
ठइ अंत पओहर पाइँ पाइँ।

---

१. ग्रामर आफ़ दि हिन्दी लैंग्वेज पृ. ५७८
२. हिन्दी साहित्यका आदिकाल पृ० ९४।
३. वही पृ० ९६।

चउसद्वि मत्त पञ्झलइ इंदु
समचारि पाअ पञ्झटिअ छंदु ॥[1]

अर्थात् पञ्झटिकामें चार चतुर्मात्र गण होते हैं, प्रत्येक पादके अंतमें जगण आता है। चारों पद सम होते हैं। चौसठ मात्राका यह छंद चन्द्रमाके समान अमृतकी वर्षा करता है।

### ७. कव्व अथवा वत्थु—

इसमें चार पाद होते हैं। षट्पदीके प्रथम चार पादोंके रूपमें भी वत्थु प्रयुक्त होता है। प्रत्येक पादमें २४ मात्राएँ होती हैं। कई छन्दोंका आलोड़न करके अल्सडोर्फने यह निश्चित किया था कि कव्वमें प्रमुख यति १४ मात्राके पश्चात् पड़ती है। कालान्तरमें ११वीं मात्राके बाद फिर एक मात्रा पड़ने लगी।[2]

### ८. कामिणीमोहण—

भायाणीजीके कथनानुसार 'छंदःकोश' और 'गाथालक्षण' तथा संदेशरासकके व्याख्याकारके अतिरिक्त अन्य सभी छन्दःशास्त्रियोंने इस छन्दको 'मदनावतार'की संज्ञा दी है[3]। साधारणतः इसके विषयमें यही जाना जाता है कि यह चार पंक्तियोंका होता है और इसमें चार पंचमात्राएँ होती हैं।

### ९. दुवई—

विरहांकको छोड़कर प्रायः सभी अपभ्रंश छन्दःशास्त्रियोंने इसपर विचार किया है। यह आश्चर्यकी बात है कि यद्यपि इस छन्दका नाम दुवई (द्विपदी) है किन्तु स्वयंभू, हेमचन्द्र, नांदिड्ढ्य, रत्नशेखर और वेलनकर आदि सभी पंडितों-के अनुसार यह चार पादोंका छन्द है। संदेशरासककी द्विपदी भी चार पादोंकी

१. प्रा० पै० मात्रावृत्तम् १२५

२. संदेशरासक-मीटर्स पृ० ५८ के इस पंक्तिके आधारपर—
After examining one hundred and odd stanzas from different sources Alsford (KP. P. P. 74–75) comes to the conclusion that the main caesura falls after the 3. (i. e. after the 14 Mora.)

३. All other authorities except the CK (10, 32, 39) the Gl. (78) and the Vyakhya on thc Sr. treat tnis metre under in the mame—
मदनावतार—संदेशरासक मीटर्स पृ० ५८।

है। भायाणीजीके अनुसार अपभ्रंश महाकाव्योंमें किसी सन्धिके प्रारम्भिक स्थलोंपर यह दो ही चरणोंकी होती थी[१] और गीतात्मक रचनाओंमें चार चरणोंकी होती थी[२]।

प्राकृतपैंगलम्‌में इस छन्दके दिए हुए लक्षणके अनुसार इसके प्रारम्भमें इन्द्र (६ मात्रा) दो धनुर्धर (४+४), दो पैदल (४+४) और अन्तमें मधुकर (६) होने चाहिए।

प्राकृतपैंगलम्‌में दुवईका जो उदाहरण दिया गया है वह केवल दो पंक्तियोंका है:—

दाणव देब बेबि ढुक्कंतउ गिरिबर सिहर कंपिओ।
हअ गअ पाअ घाअ उट्ठंतउ धूलिहि गअण झंपिओ॥[३]

## १०. खणिज्ज—

इस छन्दपर केवल विरहांकने ही विचार किया है। उन्होंने इसके साथ ही दो और छंद 'सोम्मिआ' और 'संपिंडिया गलिआ' पर भी विचार किया है। 'संपिंडिआ गलिआ'का लक्ष्य बतानेके उपरान्त उन्होंने लिखा कि यह समणिज्ज और सोम्मिआके समान होता है।[४] संदेशरासकके व्याख्याकारने इसे (खणिज्ज-को) रासक छंदका ही एक भेद बताया है।

## ११. गाहा—

यह प्राकृतका अपना छन्द है। अपभ्रंश कालमें भी गाहामें सदैव प्राकृतके ही व्यवहार करनेका नियम था। किन्तु बादमें अपभ्रंशमें भी गाहा लिखे जाने लगे। किन्तु गरिमा उनमें प्राकृतवत् रहती थी। यतिकी दृष्टिसे गाहाके दो भेद किए जाते हैं। मुखविपुला और जघनविपुला। केलागने इसकी गणना हिन्दी छन्दोंके अन्तर्गत की है। यद्यपि गाहा मूलतः प्राकृतका छन्द है किन्तु हिन्दीमें भी इसका व्यवहार किया गया है। केलाग द्वारा उद्धृत गाहा इस प्रकार है:—

आज चलहु सब मथुरा रहत जहाँ दीनबंधु आप अली
माधो को बंधवावन चाहो चलती कस नहिं अली[५]।

---

१. संदेशरासक मीटर्स पृ० ६१।
२. वही। १२०।
३. प्रा० पै० मात्रावृतम् १५३।
वही १५५।
४. वही मीटर्स पृष्ठ ६१।
५. ग्रा० हिं० लै. पृ० ५६८।

## १२. दोहा—

जिस प्रकार गाहा प्राकृतका छंद है उसी प्रकार दोहा अपभ्रंशका छंद है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने इस छंदके विषयमें लिखा है कि 'दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलानेका प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश-कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलानेकी प्रथा न हो।[१]

२४ मात्राओंका दो समान पादोंका छन्द है। यति १३वीं मात्राके बाद आती है। हिन्दीके लिए यह दोहा अत्यन्त सुपरिचित है।

## १३. चूडिल्लय—

प्राकृतपैंगलम्के अनुसार प्रत्येक दोहार्द्धमें पाँच मात्राएँ बढ़ा देनेसे चूलिआला छन्द हो जाता है।[२]

प्राकृतपैंगलम् और केलागके हिन्दी व्याकरणमें भी इसपर विचार किया गया है। लक्षणोंके विषयमें कोई मतभेद नहीं है। हिन्दी चूड़ियालाका उदाहरण इस प्रकार है:—

**मैं अब मिलन चहों सखी जसुमति सुत जहँ होय कता बहु।**
**झपटि झपटि सब दौरिकै यशुदा नंदनको लखवा बहु॥**[३]

## १४. फुल्लय—

संदेशरासकके १०७ वें छंदके अनुसार अगला (१०८वाँ) छन्द 'फल्लय' है। केवल 'वृत्तजातिसमुच्चय' में 'उप्फुल्लक' नामक एक छंदका उल्लेख मिलता है। गणभेदके अतिरिक्त दोहे और फुल्लयमें कोई अन्तर नहीं है।

## १५. डोमिलय—

'डोमिलय' का विचार अपभ्रंश छन्दके शास्त्रीय विचारकों हेमचन्द्रादिने नहीं किया है। प्राकृतपैंगलम्में ऐसे मात्रावृत्त और वर्णवृत्त दोनों माना है।[४]

---

१. हिन्दी साहित्यका आदिकाल पृ० ९३।
२. प्राकृतपैंगलम्। १६७
३. प्रा. हिं. लै. पृ. ५७६।
४. प्रा. पै. मा. वृ. १९६
प्रा. हिं. लैं. पृ. ५८०

प्राकृतपैंगलम्के अनुसार दुर्म्मिला छन्दमें ३२ मात्रायें होती हैं। मात्राओं-का क्रम १०+८+१४ होता है। केलागने दुरमिला छंदकी मात्राओंका क्रम १०+८+८+६ बताया है। वस्तुतः त्रिभंगी, पदमावती और दुरमिलामें कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है। केलागने दुरमिला छंदका यह उदाहरण दिया है:—

इक त्रियब्रतधारी, पर उपकारी, नित गुरु आज्ञा अनुसारी
निरसंचय दाता, सब रस ज्ञाता सदा साधु संगति प्यारी।

## १६. रड्डा—

रड्डा दो विभिन्न छन्दोंसे मिलकर बनता है। इसके प्रथम अंशको राढउ कहते हैं। शेष अंशमें एक दोहा रहता है। दोहेका विवरण पीछे दिया जा चुका है।

राढउका प्रथम पाद विषम होता है[1]।

## १७. वत्थु अथवा छप्पय—

हिन्दी पाठकोंको इस छन्दका भली भाँति परिचय है। यह भी दो छन्दों काव्य और उल्लालासे मिलकर बनता है। काव्य छन्दका उल्लेख पहले किया जा चुका है। संदेशरासकमें यह छंद तीन प्रकारका मिलता है। एक चरणको छोड़कर शेष सभी चरण दो मात्राके हैं। हाँ उनमें यतिस्थानका अन्तर अवश्य है। भायाणीजीने[2] लक्षणग्रन्थोंके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला है कि छप्पय तीन प्रकारके मिश्रणोंसे बनते थे। कभी काव्य और उल्लाल मिलते थे, कभी रासा और उल्लाल मिले रहते थे और कभी काव्य रासा संकीर्ण तथा उल्लाल।

'प्राकृतपैंगलम्'[3] में छप्पयका 'वत्थु' नाम नहीं मिलता। कालान्तरमें छप्पय हिन्दीका अत्यन्त प्रचलित छन्द हो गया। वीरगाथाकालके चारण कवियोंने इसका खूब प्रयोग किया। चंदको तो 'छप्पयका राजा' कहा जाता था। युद्धका वर्णन करते समय तुलसी भी छप्पयका व्यवहार करते हैं।

## १८.खडहडय—

'वृत्तजातिसमुच्चय' के अनुसार भ्रमरावलि और गाहाके मिलनेसे खडहडय

---

१. संदेशरासक २२
२. सन्देशरासक मीटर्स पृ. ६८
३. प्रा. पै. मात्रा १०५

बनता है ।[१] संदेशरासकमें इसे मित्र छंदकी तरह न मानकर भ्रमरावलि और गाथा दोनोंको अलग-अलग दो छंद मान लिया गया है ।

## १९. खंधय—

संदेशरासकके ११८ वें दोहेके अनुसार ११९ वें दोहेका नाम खंधय है । किन्तु जहाँ खंधयमें प्रत्येक पादमें ३२ मात्राएँ होनी चाहिए वहाँ इसमें केवल ३० ही मात्राएँ हैं, जिसे छन्दःशास्त्रके अनुसार उद्‌गाथ कहा जाना चाहिए । जो हो, संदेशरासकमें खंधयके नामपर निम्नलिखित छंद दिया हुआ है ।

'प्राकृतपैंगलम्' के अनुसार इस छंदका लक्षण इस प्रकार है:—

> चउमत्ता अट्ठगणा
> पुव्वद्धे उत्तरद्ध होइ सम रूआ
> सा खंधआ विआणहु
> पिंगल पभणेइ मुद्धि बहु संभेआ ।

अर्थात् इसमें चतुर्मात्राके आठगण होते हैं, पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध समरूप होते हैं और इसके अनेक भेद होते हैं ।

शेष तीन प्रकारके छन्द मालिनी, नंदिणि और भमरावलि वर्णवृत्तक हैं । इनके विषयमें एक ध्यान देने योग्य बात है कि इनकी भाषा प्राकृतिक रंजित अपभ्रंश है ।

ये छंद अपेक्षाकृत प्राचीन ज्ञात होते हैं ।

## २०. मालिनी—

मालिनी नामक प्रसिद्ध छन्दका उदाहरण भी निम्नलिखित है—

मालिनी छंदका लक्षण 'प्राकृतकौलम्' में यह बताया गया है कि उसमें प्रथम दो रस (३ मात्रा) फिर तीन चमर (गुरु) फिर एक शर (लघु) दो गुरु फिर एक गंध (लघु) और दो कर्ण (गुरु) होते हैं । प्राकृतपैंगलम्में मालिनीके उदाहरणस्वरूप यह छंद दिया गया है:—

> बहइ मलअ बाआ, हंत कंपंत काआ
> हणइ सवण रंधा कोइला लाव बंधा ।

---

१. V. J. S. (वृत्तजातिसमुच्चय) IV 73 says that when भ्रमरावलि is combined with गाथा the result is खडहडय.

—संदेशरासक मीटर्स. पृ० ६९ से उद्धृत ।

सुणिअ दह दिहासु भिंग झंकार भारा
हणिअ हणइ हंजे चंड चंडाल मारा ।[१]

## २१. नंदिणि—

इस छन्दका 'नंदिणि' नाम केवल 'वृत्तजातिसमुच्चय' और संदेशरासक तथा उसकी टीकामें मिलता है ।[२] भायाणीजीके मतसे यह 'तोटक' छंदका ही दूसरा नाम है ।[३] 'वृतजातिसमुच्चय'में इसी छंदकी परिभाषा छित्तय नामसे भी की गई है ।[४]

## २२. भमरावलि—

तोटक और भमरावलिमें कोई विशेष अंतर नहीं है । नंदणमें जब एक सगण जोड़ दिया जाता है तो वह भमरावलि कहलाता है ।[५] वृत्तजातिसमुच्चयमें इस छंदकी परिभाषा दो बार की गई है ।

'प्राकृतपैंगलम्'में इस छंदका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि इसमें प्रत्येक पंक्तिमें पाँच सगण (करपञ्च) होते हैं और पाँच गुरु तथा दस लघु मात्रायें होती हैं ।[६]

संदेशरासकमें ये २२ प्रकारके छंद व्यवहृत हुए हैं । इन छन्दोंको ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होता है कि मुख्यतः इन्हें पाँच कोटियोंमें रखा जा सकता है—

१—चार चरणोंके छंद—जैसे अडिल्ला, मडिला, रासा, चउपइय, लंकोडय, पद्धड़िया, कव्य अथवा वत्थुय, कामिण मोहण दुवई और खपिज्ज ।

२—दोहा की तरहके छंद—जैसे दोहा, चूडिल्लय, और फुल्लय ।

---

१. प्रा. पै. वर्णवृत्तम् १६४,
 ......१६५

. Only V. J. S. III 20 and the text and the comm of the Sr. (st. 170) Support the name

नंदिनी आर नंदणि—वही मीटर्स–पृ० ७१

३, It is nothing but the commonly known तोटक वही.

४. V. J. S. IV 54 again defines this metere under the name छित्तय (-स्पृष्टक)

५. प्रा. पै. वर्णवृत्तम् १५४

६. When तोटक is extended by सगण we get भ्रमरावलि—संदेशराशक मीटर्स पृ० ७१ ।

३—अंत्यानुप्रासिक छंद—जैसे डोमिलय,

४—मिश्र छन्द—रड्डा, वत्थु अथवा छप्पय और खडहडय

५—गाथाकी तरहके छंद—जैसे गाहा, खंधय, मालिनी, नंदिणि और भमरावलि।

संदेशरासकमें प्राप्त इन छंदोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि कई छंदोंका विकास प्रायः किसी एक मुख्य छंदके आधारपर हुआ है। जैसे दोहाके गणमें अन्तर कर देनेसे फुल्लय या नंदिणिमें एक सगण बढ़ा देनेसे भमरावलि छंद हो जाता है। मिश्र छंदोंमें दो छंदोंको एक साथ मिलाकर एक नवीन छंद बना लिया जाता है। जैसे राडउ और दोहा मिलाकर रड्डा या काव्य और उल्लालको मिला देनेसे वत्थु बननेके उदाहण मिलते हैं। स्पष्ट ही छंदोंमें इस प्रकार विकार, संशोधन और परिवर्धन चारण, मागधों या जनसाधारणके अतिव्यवहारके कारण हुआ होगा।

संदेशरासकमें प्राप्त छंदोंका विकास हिन्दी कवितामें देखा जा सकता है। हिन्दीके प्राचीन काव्य ग्रन्थोंमें संदेशरासकमें मिलनेवाले कई छन्द मिल जाते हैं। रासो जैसे विशाल काव्यमें संदेशरासकका शायद ही कोई छंद छूटा हो। केशवदासकी रामचन्द्रिका तो एक प्रकारसे विविध छंदोंकी प्रदर्शिनी ही है। इससे दो बातोंका पता चलता है। एक तो यह कि अपभ्रंशके छन्दोंकी परम्परा हिन्दीमें चलती ही नहीं रही बल्कि उनमें वृद्धि और विकास भी होता रहा है। दूसरे यह कि प्रारंभिक हिन्दी काव्योंमें छंदबहुलताका कारण अपभ्रंश काव्योंकी छंदबहुलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले कई मुख्य छंदोंका अस्तित्व प्रायः ज्योंका त्यों, अथवा प्रारूप, अपभ्रंश काव्यमें उपस्थित है, जिनकी जानकारी संदेशरासकके माध्यमसे की जा सकती है। उसके अनेक छंद लगभग उसी रूपमें 'प्राकृतपैंगलम्'में मिल जाते हैं। केलाग द्वारा विवेचित अनेक छन्द भी संदेशरासकमें प्राप्त होनेवाले अनेक छन्दोंके विकसित रूप हैं।

## काव्य प्रस्तावना

संदेशरासक, रासक काव्यरूपकी विशेषताओंसे संयुक्त तीन प्रक्रमोंमें विभाजित दो सौ तेईस छंदोंका एक छोटा-सा विरह काव्य है, जिसमें कथावस्तुका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। विरहिणी नायिकाका पथिकके द्वारा अपने प्रियके पास संदेश भेजना भारतीय साहित्यमें अति प्रचलित काव्य-रूढ़ि है। किन्तु संदेशरासककी विशेषता उसके कथानकमें नहीं, उसकी अभिव्यक्ति और कथनशैलीमें

है। महाकाव्य या भारी भरकम काव्य न होनेके कारण अद्दहमाणको छोटी-छोटी बातोंका विशद वर्णन करनेका अवसर नहीं था फिर भी जिस मार्मिकता, संयम और सहृदयताका परिचय कविने दिया है वह उसकी कवित्व शक्ति, पांडित्य, परम्परा-ज्ञान और लोकवादिताकी पूर्ण प्रतिष्ठा पाठकके हृदयमें कर देती है।

अद्दहमाण भारतीय साहित्यकी परम्पराके अनुसार सर्वप्रथम ईशवन्दना और आत्मपरिचयमें प्रवृत्त हैं। वंशनाम और ग्रन्थ आदिका उल्लेख करते हुए वह पूर्ववर्ती कवियोंकी स्तुति करते हैं। ठीक कालिदास भवभूति आदि संस्कृत कवियों तथा जायसी, तुलसी इत्यादि परवर्ती कवियोंकी भाँति, पूर्वकवियोंकी तुलनामें अपनी हीनता और असमर्थता प्रकट करते हैं। किन्तु अद्दहमाण केवल अपनी असमर्थता ही नहीं प्रकट करते हैं। सीमाओंको स्वीकार करते हुए भी तेवरके साथ वे कवि कर्मके लिए अपने अधिकारकी घोषणा उच्च स्वरसे करते हैं। क्या हुआ यदि वे बहुत बड़े कवि नहीं हैं। संसारमें छोटोंको भी तो कुछ करनेका अधिकार है। यदि रात्रिमें चन्द्रमा अपनी षोडश कलाओंसे उदित होकर लोकका चित्त हर लेता है तो क्या रात्रिसमय घरमें दीपक न जले। वसन्तकालीन तरु-शिखरासीन कोयलोंकी सुन्दर वाणी सुनकर घरकी मुडेरोंपर बैठे हुए कौवे न करकराएँ[1] इत्यादि इत्यादि। अन्ततोगत्वा अद्दहमाण पाठकसे मनवा लेते हैं कि जैसी जिसकी काव्यशक्ति है उसको उसीसे काव्यरचना करनी चाहिए। यह भी कोई बात हुई कि ब्रह्माने वेदोंकी रचना कर दी तो शेष कवि आतंकके मारे कविता ही न करें।

जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चउमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु[2]॥

ज्ञात होता है कि ग्रन्थके प्रारम्भिक अंशमें इस प्रकार तर्कपूर्ण युक्तियोंको प्रस्तुत करना तत्कालीन काव्यपद्धतिकी एक विशेषता बन गई थी। 'पृथ्वीराज रासो' के भी प्रारम्भिक कई गाहाओंमें लगातार इसी प्रकारकी बात कही गई है, जैसे, यदि बड़े लोग दुग्ध-शर्करायुक्त भोजन करें तो क्या गुर्जरी रब्वरी खाकर न जिये? या यदि वसंतमें आम्रवनोंको कोकिल मनोहर स्वरसे पूरित कर दे तो क्या बबूलके वृक्षपर बैठ कबूतर गुटरगूँ न बोलें[3]?

---

१. संदेशरासक १।८, ९।

२. संदेशरासक १।१७

३. पय सक्करी सुभत्तौ। उकतौ कनय राय भोयंसी।
करकंसी गुज्जरीय। रब्बबरियं नैव जीवन्ति॥

इसके अतिरिक्त यदि अद्‌हमाणकी कविता महान् कवियों जैसी सरस न भी हुई तो भी उसमें एक यह विशेषता तो है ही कि वह सर्वजनसुलभ है। जिस प्रकार पात्र दुर्लभ होनेपर लोग शतपत्रिकामें आश्वास पा लेते हैं उसी प्रकार जिन लोगोंको प्राचीन कवियोंकी रचनाएँ रस नहीं दे पातीं उन सबको संदेशरासकका कवि काव्य-रस-पानके लिए निमंत्रण देता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थकी रचना करते समय अद्‌हमाणका दृष्टिकोण लोकवादी था। उन्होंने संदेश-रासकका प्रणयन, साधारण जनोंको दृष्टिमें रखकर, उनके आनन्द और विनोदके लिए किया था। पण्डितों और विद्वानोंके लिए नहीं। वे संदेशरासकके पाठकका हाथ पकड़कर कहते हैं कि जो लोग पण्डित और मूर्खमें भेद करते हैं अर्थात् जो अपनेको साधारणजनोंकी अपेक्षा अधिक विद्वान् समझते हैं उनके सामने इसे मत पढ़ना।[1]

अद्‌हमाणको आशंका है कि पंडितम्मन्य और मूर्ख दोनोंको उनके काव्यका आनन्द उठानेमें बाधा होगी। अपनेको विद्वान् माननेवाले इसे असंस्कृत भाषामें रचित होनेके कारण निम्नकोटिका समझेंगे और अज्ञानी अज्ञानके कारण इसमें प्रवेश नहीं पा सकेंगे। अतएव जो न पंडित हैं और न मूर्ख हैं अर्थात् साधारण जन हैं उन्हींके सामने इसे पढ़ना उचित होगा।[2]

ग्रन्थके श्रोताओंकी योग्यता बताकर अन्तमें वे ग्रन्थकी विशेषता बताते हैं। यह बताते समय अद्‌हमाण संदेशरासकका मूल विषय और रस बता जाते हैं, जिससे प्रारम्भमें ही प्रकट हो जाता है कि संदेशरासक शृङ्गारपक काव्य है, क्योंकि उन्हींके शब्दोंमें संदेशरासक—

अनुरागियोंका रतिगृह, कामियोंका मन-हरनेवाला, काममें प्रवृत्त जनोंके पथका प्रकाशक, विरहिणियोंके लिए मकरध्वज और रसिकोंके लिए शुद्ध रस संजीवनकारी है।[3]

## रूप-वर्णन और औपम्य विधान

भारतीय साहित्यके आचार्योंने इतर क्षेत्रोंकी भाँति रूप-वर्णनको भी नियम-

---

... ... ...

बर बबूर बिरष्षं। कपोतयं नैव कलयन्ति।

—संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो पृ० ३ सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नामवर सिंह।

१. संदेशरासक १।२०

२. संदेशरासक १।२१

३. संदेशरासक १।२२

बद्ध कर दिया था। विशिष्ट अंगोंकी उपमा विशिष्ट वस्तुओंसे देनेकी मर्यादा स्थिर कर दी गई थी। मध्ययुगीन छोटे-बड़े प्रायः सभी कवियोंने उसी चिराचरित परिपाटीका पालन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सूची बड़ी लम्बी-चौड़ी है और कवियोंको इसमेंसे इच्छानुसार उपमान चुन लेनेकी यथेष्ट स्वच्छन्दता है फिर भी कवियोंकी कल्पनाको इस प्रकार सीमित दायरेमें बाँध देना साहित्यके लिए बहुत शुभ नहीं सिद्ध हुआ। १४वीं शताब्दीकी कही जानेवाली पुस्तक 'वर्णरत्नाकर' में कविशिक्षाके लिए उपयोगी अनेक वर्णनोंका संग्रह है।[१] प्राचीन साहित्यमें प्रयुक्त उपमानोंकी बृहद् सूची आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपने 'हिन्दी साहित्यकी भूमिकाके' परिशिष्टमें दी है।

सूची प्रस्तुत रहनेपर भी इन उपमानोंका प्रयोग करनेमें कविप्रतिभाकी परीक्षा हो जाती थी। रूपवर्णनमें प्रवृत्त कवियोंने यद्यपि उपमान एक ही प्रकारके जुटाए हैं फिर भी जहाँ प्रतिभाशाली जागरूक कवि अपनी सहृदयता और सौंदर्य-बोधके कारण रूपसौंदर्य चित्रित करनेमें सफल हुए हैं वहाँ मध्यम कोटिके कवियोंका रूप-वर्णन आँखोंके सामने कोई सुषमित चित्र खड़ा करनेके स्थानपर उपमानोंकी तालिका उपस्थित कर देता है।

संदेशरासकके कविने भी यद्यपि रूप-वर्णनके लिए अधिकांशतः परम्परा-गृहीत उपमानोंका ही आश्रय लिया है फिर भी उसने अपने हृदय-रससे स्निग्ध करके उसे वास्तविक और हृदयस्पर्शी बना दिया है। कहीं-कहीं अद्दहमाणने स्वच्छन्द कल्पनाशक्तिका भी परिचय दिया है जो उनके संवेदनशील कवित्वका परिचायक है। जैसे केशोंकी उपमा 'अलिकुलमाला'से देनेके पूर्व वे उसकी उपमा पिशुनकी कुटिलतासे देते हैं![२]

'संदेशरासक'में एक ही स्त्री-पात्र होनेके कारण केवल विरहिणी नायिकाके ही रूपवर्णनका अवकाश है। यत्र-तत्र नगर या षड्ऋतुवर्णनके प्रसंगमें साधारण स्त्रियोंका वर्णन भी कवि लगे हाथों कर जाता है। उस प्रोषितपतिकाका रूपवर्णन भी जमकर एक ही स्थानपर किया गया है। अन्य स्थानोंपर उसकी विरह-दशाकी व्यंजनाके लिए ही आनुषंगिक रूपसे उसके रूप या शरीरचेष्टाओंका वर्णन कर दिया गया है।

द्वितीय प्रक्रमके प्रारम्भमें ही विजयनगरकी विरहिणीकी अवस्थाका वर्णन

१. वर्णरत्नाकर—सं० सुनीतिकुमार चटर्जी और बबुआ मिश्रा, बिब्लियोथिका इण्डिका १९४० ई०।

२. संदेशरासक २।३२

करते हुए कवि उसे भिड़के समान पतली कमरवाली, हंसगामिनी और 'कनकांग-तनु' कहता है।[१]

किन्तु हृदय खोलकर उस नायिकाके रूपवर्णनका अवकाश कविको तब मिलता है जब वह पथिकके पास पहुँचती है। पथिकके नेत्रोंने उस नायिकाको इस रूपमें देखा—

'उसकी अति कुटिल केशराशि नदीकी जल-बीचियोंके समान थी। वह कृष्णत्वके कारण भ्रमरसमूहकी भाँति लगती थीं। उसका मुख रात्रिके तमको नष्ट करनेवाले अमृतस्रावी निष्कलंक पूर्ण चन्द्रके समान था। दोनों नेत्र कमल-दलके समान दीर्घ और रक्ताभ थे। दोनों कपोल दाड़िम-कुसुम-समूहकी भाँति दिखलाई पड़ते थे। उसके बाहु-युगल स्वर्गसरोवरमें उत्पन्न दोहरे मृणाल-नालकी तरह थे। दोनों स्तन कठोर और नित्य उन्नत खड़े रहनेके कारण दुष्ट और परस्पर मिले रहनेके कारण स्वजनकी भाँति थे। पर्वतीय नदीके गम्भीर आवर्तकी भाँति उसकी नाभि थी। इसकी कटि मनुष्यके सुखोंकी भाँति तुच्छ थी। जिस प्रकार अति तीव्र गतिवाले मृगके चरणोंको कोई देख पाता है कोई नहीं, ठीक उसी प्रकार उसकी कमर भी दृश्य-अदृश्य थी। कदलीस्तम्भसे अधिक मनोरम और सुरम्य उसकी जंघाएँ थीं। उसके चरणोंकी अंगुलियाँ पद्मरागके समान थीं। नख स्फटिकखण्डके समान थे। अंगुलियोंपर रोमराजि कोमल मृणाल-तन्तुओंके समान शोभित होती थी।[२]'

रूपवर्णनमें घुमा-फिराकर संदेशरासकके कविने इन्हीं उपमानोंका प्रयोग किया है। मुखके लिए अमृतस्रावी चन्द्रमाकी उपमा अद्दहमाणको बड़ी प्रिय है। एक स्थानपर उन्होंने केवल जांघोंके ही लिए नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण शरीरकी सरस कोमलताके लिए कदलीकी उपमा दी है।[३]

संदेशरासकमें आए हुए उपमानोंकी संक्षिप्त तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है—

| उपमेय | उपमान |
|---|---|
| १. शरीरकांति | स्वर्णाभा |
| २. केश | जलकल्लोल, भ्रमरावलि |
| ३. मुख | अमृतस्रावी चन्द्रमा, कमल |

१. २।२४
२. संदेशरासक, २।३२–३९
३. संदेशरासक २।१२३

| | |
|---|---|
| ४. नेत्र | कमल |
| ५. कपोल | दाड़िम पुष्पसमूह |
| ६. बाहु | दोहरे कमलनाल |
| ७. स्तन | कलश, सज्जन, दुर्जन |
| ८. नाभि | पर्वतीय नदीका आवर्त |
| ९. कमर | भिड़की कमर, मनुष्यका सुख |
| १०. ऊरु | कदली स्तम्भ |
| ११. पैरोंकी उंगुलियाँ | पद्मराग |
| १२. नख | स्फटिक-खण्ड |
| १३. रोम | मृणालतन्तु |
| १४. गति | हंसगमन |
| १५. विरहजन्य श्यामता | राहुग्रहण, धूमकी कालिमा[१] |

इस अध्यायके प्रारम्भमें 'वर्णरत्नाकर' नामक जिस ग्रंथकी चर्चा की गई थी उसमें गिनाए हुए अधिकांश उपमान और संदेशरासकमें प्रयुक्त उपर्युक्त उपमान एक ही नहीं हैं। फिर भी समताके लिए वर्णारत्नाकरमें दिए हुए कुछ उपमान ढूँढ़े जा सकते हैं।[२]

मध्यकालीन कई संस्कृत और अपभ्रंश तथा हिन्दी कवियोंके रूप-वर्णनपर तुलनात्मक विचार करते हुए यह निस्संकोच भावसे कहा जा सकता है कि अद्दहमाणने उनकी भाँति कहीं भी केवल चमत्कारी उपमानोंका सहारा लेकर रूप वर्णनके नामपर खिलवाड़ नहीं किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द और जायसी इत्यादिने अत्यन्त उपयुक्त उपमानोंके व्यवहारसे शरीरसौंदर्यका उत्कृष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे चमत्कार-प्रियताके लोभसे अपनी रक्षा सर्वत्र कर सके हैं।[३]

---

१. संदेशरासक २।२४
—वही २।१२२

२. पूर्णिमाक चाँद अमृत पूरल अइसन मुह·········
बाहं युगलक शोभा देषिपुक नाल पंक निमग्न भेल········· जंघ
युगलक शोभा देषि कदली विपरीत गति कइलि।
—वर्णारत्नाकर, द्वितीय कल्लोल, सखी वर्णना।

३. कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दोय पव्वय
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुब्भय।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ,
मृग उप्पर कोबंद संघ कंद्रप्प वयट्ठौ॥

कवियोंकी कारीगरीसे अपरिचित सहृदय पाठकके लिए इन दाँव-पेंचोंमें कुछ नहीं है। रीतिकालीन कवियोंमें इस प्रकारकी करामात दिखानेका बड़ा चाव था।

संदेशरासकके कविने स्वाभाविकताकी उपेक्षा कहीं नहीं होने दी है। परम्परा-विहित उपमानोंको ग्रहण करनेपर भी उन्होंने अपनी मौलिकता और सूक्ष्म निरीक्षणका पूरा उपयोग किया है। केशराशिको उपमा नदीजलकल्लोलसे देनेकी चर्चा की जा चुकी है। कटिकी तुच्छताको मर्त्य सुखसे और स्तनोंकी दुर्जन और सज्जनसे दी गई उपमाएँ ध्यान देने योग्य हैं।

संदेशरासकके रूपवर्णनकी प्रमुख विशेषता यह है कि कवि उपमानोंकी योजना इस ढंगसे करता है कि वे केवल शारीरिक सौंदर्यका बाह्य चित्र ही नहीं उपस्थित करते बल्कि अपना प्रभाव हृदयपर भी छोड़ते हैं, अर्थात् कविने उपमान केवल रूपगत साम्यके आधारपर ही नहीं चुने हैं बल्कि रूपवर्णनमें प्रभावसाम्यका पूरा ध्यान रखा है। किसी अंगके समान कोई अन्य वस्तु ढूँढ़ निकालना उतनी बड़ी बात नहीं है। कवित्वकी वास्तविक परीक्षा उस वस्तुको पहचान लेनेमें है, जिसके दर्शनसे हृदयपर वैसा ही प्रभाव पड़ता हो जैसा कि उपमेयको देखनेसे पड़ता है। शरीर-साम्यके लिए बाह्य उपमान केवल नेत्रोंकी सहायतासे जुटाये जा सकते हैं, किन्तु प्रभावसाम्यमूलक उपमान ढूँढ़नेमें हृदयका पूर्ण योग रहता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि सच्चे कविकी सफलता इसी प्रकारके उपमानोंको आँकनेमें है जो केवल बाह्य शरीरसाम्यपर ही न आधारित हों अपितु जो शरीर-सौंदर्यके साथ-साथ हृदयपर पड़नेवाले प्रभावसे भी समानता रखते हों।

संदेशरासकमें ऐसे कई मार्मिक उपमान ढूँढ़े जा सकते हैं जो शरीरकी बाह्य दशाके अंकनकी अपेक्षा अन्तर्दशाका चित्रण अत्यन्त मार्मिक ढंगसे करते हैं। ऐसे स्थलोंपर अद्दहमाणकी संवेदनशीलता और सशक्त कवित्व देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, पथिकके यह बतानेपर कि वह खंभात (जहाँ विरहिणीका पति गया था) जा रहा है, कविने नायिकाकी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की है—

एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भववयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलुब्भवनयणि।

---

अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्‌यो।
सुर भुवन छँडि कवि चंद कहि तिहि धोषै राजन पर्‌यो॥
—पृथ्वीराजरासो, कनवज्ज समय।

२. नासिक खरग देऊँ कह जोगू, खरग खीन वह बदन संजोगू।
नासिक देख लजानेउ सूआ, सूक आइ बेसिर होइ ऊआ
सुआ जो पिअर हिरामन लाजा, और भावका बरनौं राजा।
—पद्मावत, नखशिख-खण्ड।

तोडि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु,
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरिय चिरु[१]।

अथवा पथिकके वचन सुनकर विरहिणीकी उत्कट विरह-दशाके चित्रणमें लाई हुई यह उपमा कि वह उस प्रकार व्याकुल हो उठी जैसे मृगको बाण लगनेपर मृगी व्याकुल हो जाती है[२], कदाचित् प्रयोगकी दृष्टिसे अछूती और मार्मिकताकी दृष्टिसे अद्वितीय है।

इसी प्रकार एक दोहेमें रूपकके माध्यमसे हृदयको स्वर्णकार, विरहको अग्नि और आशाको जल बताकर एक अन्तःस्पर्शी चित्र खींचा गया है—

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किख करेइ
विरहहुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥[३]

इस तरह हम देखते हैं कि संदेशरासककारने यद्यपि अधिकांशतः परम्परागृहीत उपमानोंका ही प्रयोग किया है फिर भी अपनी काव्योचित सहृदयतासे उन्हें प्राणवन्त बना दिया है। कहीं-कहीं अद्दहमाणने स्वच्छंद पद्धति विरल प्रयुक्त या नए उपमानोंका प्रयोग करके अपनी मौलिकताका भी परिचय दिया है। संदेशरासकमें केवल बाह्य रूपवर्णन ही नहीं है अपितु गहरे जाकर हृदयपर पड़नेवाले रूप-प्रभावको भी उपमानोंके माध्यमसे व्यक्त किया गया है।

## संदेशरासकमें प्रकृति-वर्णन

काव्यमें प्रकृतिवर्णन दो रूपोंमें पाया जाता है। प्रकृतिका स्वतन्त्र आलम्बन रूपमें और नायक-नायिकाके भावोंके उत्तेजक उद्दीपनरूपमें। बाह्य प्रकृतिका प्रभाव हमारी अन्तःप्रकृतिपर अपने आप पड़ता है। संस्कृत साहित्यमें स्वच्छन्द प्रकृतिवर्णनकी महती परम्परा है। आदिकवि वाल्मीकि और कालिदासने अपने महाकाव्योंमें प्रकृतिके नाना रूपोंका वर्णन जिस सूक्ष्म दृष्टिसे किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन कवियोंने प्रकृतिके केवल भव्य रूपोंका ही अंकन नहीं किया है बल्कि साधारणसे साधारण वस्तुके भी मनोहर पक्षका उद्घाटन अपनी सर्वग्राही रसात्मकताके बलपर किया है। वाल्मीकिने केवल तुषाराच्छादित पर्वत-श्रेणियों, कल-कल-निनादमुखर निर्झरों, शुभ्रराकामंडित शरद् रजनी तथा सर्ज कदम्ब-पुष्पोंसे व्यामिश्र पर्वत सानु ताम्र सरिताओंका ही वर्णन नहीं किया है, बल्कि पाला

१. संदेशरासक, २।६६।
२. संदेशरासक ।२।८३
३. वही २। १०८

गिरनेसे गीली घासोंपर पड़ती हुई धूपकी शोभा, अतिशीतल हेमन्तकालीन जल-स्पर्शसे वन्य द्विरदका वितुण्डसंकोचन तथा जीर्ण होकर झड़े हुए पत्तोंवाले, टूटी छितरी केसरकर्णिकवाले पालेसे ध्वस्त नालमात्र शेष कमलोंका भी वर्णन किया है।[१]

इसी प्रकार कालिदासने जहाँ एक ओर हिमालयका अद्वितीय वर्णन किया वहाँ वर्षाकालमें मेघगर्जनसे समुत्पन्न कुकुरमुत्तोंकी भी उपेक्षा नहीं की।[२] वे मेघके साथ आकाशमें रत्नच्छायाव्यतिकर इन्द्रधनुषकी शोभामें नहीं निमग्न रहे। उन्हें भ्रूविलासानभिज्ञ जनपदवधुओंकी निरीह भावनाओंका भी आदर करना था। अलकाके अलौकिक पुष्पोद्यानको तो उन्होंने सराहा ही, किन्तु शीघ्र ही जोते हुए खेतोंकी सोंधी-सोंधी गन्धमें भी उनका कविहृदय थोड़ी देरके लिए बिलम गया।[३]

किन्तु हिन्दी काव्यके उदयकालमें प्रकृतिके इस स्वच्छन्द वर्णनकी प्रणाली समाप्तप्राय हो चुकी थी। मध्यकालीन संस्कृत कवियोंने साहित्यके प्रत्येक क्षेत्रकी भाँति प्रकृतिवर्णनमें भी बँधी-बँधाई परिपाटीका ही अनुसरण किया है। आरंभिक हिन्दी कविताके लिए अपने समकालीन संस्कृत साहित्यसे प्रभावित होना अनिवार्य था। फलतः तत्कालीन हिन्दी कवितामें भी स्वतन्त्र प्रकृतिवर्णनका अभाव है। इन कवियोंकी कल्पना प्राकृतिक दृश्योंके चित्रणमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदिकी भाँति ऐसे रूपोंकी योजना करनेमें नहीं प्रवृत्त होती थी जिनसे किसी दृश्यका पूर्ण चित्र आँखोंके सामने उपस्थित हो और जो चित्र स्वतन्त्र रूपसे स्वयं पाठक, या श्रोताके भावके आलम्बन हों।

परवर्ती कवियोंमें स्वतन्त्र प्रकृतिवर्णनका क्रमशः लोप हो गया। माघ आदि धुरंधर पंडित कवियोंमें वाल्मीकि, कालिदास और भवभूतिका शुद्ध प्रकृति-प्रेम नहीं मिलता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्लका अनुमान है कि 'कालिदासके समयसे, या उसके कुछ पहलेहीसे, दृश्यवर्णनके सम्बन्धमें कवियोंने दो मार्ग निकाले। स्थलवर्णनमें तो वस्तुवर्णनकी सूक्ष्मता बहुत दिनोंतक बनी रही, पर ऋतुवर्णनमें चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओंका कथनमात्र करके भावोंके उद्दीपनका वर्णन'।[४] शुक्लजीने आगे लिखा है कि 'जान पड़ता है ऋतु-

---

१. वाल्मीकि रामायण। अरण्य काण्ड १६।२०, २१, २६।

२. पूर्वमेघ १०।

३. पूर्वमेघ १६।

४. काव्यमें प्राकृतिक दृश्य, पृ० २१, चिन्तामणि, प्रथम भाग।

वर्णन वैसे ही फुटकर पद्योंके रूपमें पढ़े जाने लगे जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दोंके माधुर्य आदिका ध्यान अधिक रहने लगा।' संस्कृत साहित्यमें ऋतुवर्णन सबसे पहले शायद 'ऋतुसंहार' में ही मिलता है। उसमें कालिदासने इतर स्थलोंकी भाँति शुद्ध प्रकृतिवर्णन नहीं किया है अपितु विविध वस्तुओंमें प्रकृतिका उद्दीपनरूप चित्रित किया है और उसे मनुष्योंके केलिविलासके ही सन्दर्भमें देखा है। 'मेघ-दूत' के प्रकृतिचित्रण और ऋतु-संहारके प्रकृतिचित्रणमें उद्देश्यभिन्नता स्पष्ट है। इसे दोनोंकी तुलना करके भलीभाँति देखा जा सकता है।

कभी-कभी कवियोंने एक साथ ही सभी ऋतुओंका वर्णन विशिष्ट पद्धतिमें न करके यथावसर पात्रोंके मुँहसे ऋतुसौंदर्यका उद्घाटन करवाया है। कहीं-कहीं इस प्रकारके वर्णन इतने सुन्दर और स्वाभाविक हैं कि वे स्वतंत्र प्रकृति-वर्णनसे कम अच्छे नहीं ठहराए जा सकते। राजशेखरकी कर्पूरमंजरीमें इस प्रकारके कई सुन्दर प्राकृत श्लोक मिलते हैं।[१]

हम पहले देख चुके हैं कि परवर्ती काव्यमें प्रकृतिचित्रण मुख्यतः उद्दीपनके रूपमें ही होने लगा। महाकाव्योंमें तो अधिक अवकाश होने और लक्षण-पालनके लिए स्वतंत्र प्रकृतिवर्णनके लिए थोड़ा-बहुत बहाना मिल भी जाता था, किन्तु लघुतर काव्योंमें इसका अभाव हो गया। श्रृंगारी काव्योंमें षड्ऋतुवर्णन जैसी परम्पराके कारण कवियोंको प्रकृतिकी ओर झाँकनेका यत्किंचित् अवसर मिल जाता था। षड्ऋतुका वर्णन काव्यमें संयोगसुख या विरहदुःखको तीव्रतर दिखानेके लिए किया जाता था। संदेशरासकमें प्रकृतिवर्णन इसी रूपमें अर्थात् षड्ऋतुवर्णनके अन्तर्गत ही आया है। इतने छोटे काव्यमें हमें विस्तृत प्रकृति-वर्णनकी आशा भी नहीं करनी चाहिए। संदेशरासकके कविको षड्ऋतुवर्णन करना था इसलिए उसे बाह्य प्रकृतिकी सहायता लेनी पड़ी।

संदेशरासकमें षड्ऋतुवर्णन ग्रीष्मसे प्रारम्भ होता है। नायिका पथिक-को बताती है कि उसने अपने प्रियके बिना ग्रीष्म कैसे बिताया। ग्रीष्म होता

---

१. लंकातोरणमालिआतरलिणो कुंभुब्भवस्सागमे,
मंदादोलिअचंदणद्दुमलदाकप्पूरसंपक्किणो।
कंकोलीकुलकंपिणो फणिलदाणिप्पंद णेहावआ
चंडं चुंबिदतंबपण्णिसलिला वाअन्ति चेतानिला।

—कर्पूरमंजरी १।७

भी कितना दुस्सह है। उस ऋतुमें मदनार्त्ताओंके लिए मलय समीरण कितना कष्टकर हो जाता है ? सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके विषयतापसे भूमि-तल वन-तृण जलने लगते हैं। केवल इतना ही नहीं, यमराजकी जिह्वाके समान आकाश-तल लहलहाने लगता है। धरित्री कठिन ताप न सह सकनेके कारण तड़-तड़-तड़ शब्द करके फटने लगती है। व्योममें अति उष्ण प्रभंजन चलता है। तप्त वायु विरहिणियोंके अंगोंका स्पर्श करके उन्हें जलाती है। उस समय नव घनकी उत्कंठासे चातक 'प्रिय प्रिय' शब्द करने लगता है। नदियोंमें थोड़ा और स्वच्छ जल रह जाता है। फलभारसे नमित सुन्दर सहकार-वन और सुन्दर लगने लगते हैं।

जमजीहह णं चंचलु णहयलु लहलहइ,
तडतडयड धर तिडइ ण तेयह भरु सहइ।
अइउन्हउ वोमयलि पहंजणु जं वहइ,
तं झंखरु विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ[1] ॥
पिउ चावइहि भणिज्जइ नवघणकंखिरिहिं।
सलिलनिवहुतुच्छच्छउ सरइ तरंगिणिहिं ॥
फलहारिण उन्नमियउ अइसच्छयइ सुहि ।[2] इत्यादि

इतना वर्णन करनेके पश्चात् कवि प्रकृतिकी ओरसे अपना ध्यान नायिकाके विरहकी ओर आकृष्ट करता है।

ग्रीष्मके पश्चात् नायिका वर्षाकालीन विरहदुःखको बतानेके लिए वर्षाका वर्णन प्रारम्भ करती है।

वर्षामें प्रकृति कितनी समृद्ध हो जाती है। विरही प्रेमी-प्रेमिकाओंके लिए इससे बढ़कर दुरन्त-कालकी कल्पना नहीं की जा सकती। कालिदासके यक्षने विरहके और दिन काट लिये थे। किन्तु वर्षामें कंठलग्न प्रणयी जनोंका भी चित्त और हो जाता है तब विरही प्रेमियोंका क्या पूछना। संदेशरासककारने भी वर्षाकालीन प्रकृतिका वर्णन जरा जमके किया है।

वर्षामें चारों ओर घोर अंधकार छा जाता है। जलसे परिपूर्ण बादल आकाशमें मानो सरोष गर्जन करते हैं। भयभीत विद्युत्के चमकनेपर ही पग-डण्डियाँ दिखाई पड़ती हैं। पपीहे संतुष्ट होकर मनोहर शब्द करने लगते हैं। नवघनमालामें उड़ती हुई बकपंक्ति शोभित होती है। ग्रीष्मकालीन प्रचण्ड सूर्यकी

१. संदेशरासक, ३।१३२

२. संदेशरासक, ३।१३३।

किरणोंके तापसे पुष्कर मेघ इतनी वर्षा कर रहे हैं कि जल पोखरोंमें नहीं समाता। प्रवास गमन करनेवाले पथिकोंको जलाधिक्यके कारण जूते हाथमें लेकर चलना पड़ रहा है। पग-पगपर आकाशमें विद्युत्‌के प्रकाशसे पगडण्डी दिखलाई पड़ रही है।[1]

वर्षा ऋतुमें बगुले तालाब छोड़कर वृक्षोंपर चले गए हैं। पर्वतशिखरोंपर नृत्य करते हुए मयूर केकाध्वनि कर रहे हैं। जलमें मेंढक शब्द कर रहे हैं। आम्रवृक्षोंके शिखरोंपर बैठकर कोयलें मनोरम स्वरसे दिशाओंको पूरित कर रही हैं। विषधर नागोंके आधिक्यसे मार्ग अवरुद्ध हो गए हैं। जलकी अधिकतासे पाटलदल छिन्न-भिन्न हो गए हैं। हंस पर्वतशिखरोंपर करुण स्वरसे रो रहे हैं।[2]

विरहिणी और आगे भी वर्षाका वर्णन करती है, किन्तु उसका अभिप्राय प्रकृतिका वर्णन न करके अपनी विरहदशाका वर्णन करना है। वर्षाके पश्चात् नायिका शरद्‌में अनुभूत विरहदु:खको व्यक्त करनेके लिए पहले शरद्‌कालीन प्रकृतिकी स्वच्छ सुषमा चित्रित करती है—

आकाशमें बादल फट गए हैं। रात्रिमें सुन्दर तारे दिखलाई पड़ते हैं। सर्प पातालमें चले गए हैं। चन्द्रमाकी ज्योति निर्मल हो गई है। सरोवरोंका जल शतपत्रोंसे सुशोभित हो गया है। नदियोंके विविध प्रवाह सुन्दर रीतिसे प्रवाहित होने लगे। जलाशयोंकी जिस शोभाको ग्रीष्मने हर लिया था, शरद्‌ने उसे फिर ला दिया। हंस कमल-नालोंका रस उत्कण्ठापूर्वक पीकर सुन्दर शब्द कर रहे हैं। सकल भुवन शतपत्रोंसे भर गया है। तीर्थस्थानोंपर जल अपने स्थान पहुँच गया। उज्ज्वल शब्दोंसे जलाशयोंके तटप्रदेश अत्यन्त मनोहर हो गए। नदियोंके तटोंपर बैठी हुई विहंगमपंक्तियाँ बड़ी अच्छी लगती हैं। कर्दम-युक्त जलमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है।[3] आदि

शरद्‌कालीन प्रकृति-सौंदर्यका इस प्रकार चित्र खींचनेके पश्चात् कवि उस शोभाकी पृष्ठभूमिमें नायिकाका विरहवर्णन करता है।

हेमंत और शिशिरवर्णनमें कविको प्रकृतिका बहुत कम ध्यान रहता है। इन ऋतुओंका वर्णन करते समय उसका ध्यान मानव-व्यापारोंपर ही अधिक केन्द्रित रहता है।

वसंतका वर्णन करते समय भी अद्दहमाणका ध्यान प्रकृतिमें उतना नहीं

---

१. सं० रा० १३९-१४१।

२. संदेशरासक, ३।१४४, १४५

३. संदेशरासक, ३।१६०—१६४।

रमता जितना कि सुखी प्रेमियोंके विलास-केलि और नायिकाके विरह-दुःख वर्णनमें। वसंतमें प्रकृतिकी शोभा अवश्य बढ़ जाती है किन्तु विरहीजनोंकी विरहाग्नि भी उसी मात्रामें अधिक तापकारी हो जाती है। इसके अतिरिक्त संदेशरासककी नायिकाके विरहकी चरम सीमा भी कविको वसंतमें ही दिखानी थी। इसके बाद तो उससे प्रियतमकी भेंट ही हो जानेवाली है। वसंतमें नायिकाकी यह स्थिति हो गई है कि वह प्रकृतिके किसी दृश्य या व्यापारको अपने विरहसे अलग करके नहीं देख पाती है। वसंतमें कुसुमित पलाशको देखकर वह कहती है कि किंशुकका रंग घने काले और रक्तवर्णका हो गया है। मानो पलाश प्रत्यक्ष पलाश (मांसभक्षक) हो गया है। प्रचण्ड वायु सभीके लिए दुस्सह हो गई है। सुहंजन (=सहिजन, सुखांजन)से भी सभीको असुख ही मिलता है।

किंसुयइ कसिण घण रत्तवास,<br>
पच्चक्ख पलासइ धुय पलास।<br>
सवि दुस्सह हूय पहंजेणण,<br>
संजणिउ असुहुवि सुहंजणेण ॥[1]

संदेशरासकके प्रकृति-वर्णनको देखनेसे पता चलता है कि वह मेघदूतकी अपेक्षा ऋतुसंहारके निकट है। यद्यपि मेघदूत और संदेशरासक दोनों विरहकाव्य हैं जब कि ऋतुसंहार संयोगकालीन ऋतुवर्णन, फिर भी संदेशरासकका प्रकृति वर्णन मेघदूतकी भाँति स्वच्छन्द नहीं है। इसमें प्रकृतिकी झाँकी ऋतु-वर्णनके अन्तर्गत दिखाई गई है। यहाँ परिवर्तित ऋतुओंमें प्रकृति विरहजन्य दुःखकी विविध छायाओंका अनुभव कराती है। प्रकृतिकी भूमिकापर नाना ऋतुओंमें विरहका चित्र खींचना ही कविको अभीष्ट है। मेघदूतमें प्रकृतिका वर्णन मेघको पथ बतानेके व्याजसे किया गया है। वहाँ प्रकृति विरहवर्णनका माध्यम बनकर नहीं आई है। यही कारण है कि 'मेघदूत'में प्रकृतिवर्णन पहले आता है और यक्षप्रियाकी विरहावस्थाका चित्रण बादमें होता है।

प्रकृतिवर्णनकी पद्धतिकी दृष्टिसे सन्देशरासकी तुलना 'पृथ्वीराजरासो', 'ढोला मारू रा दोहा' और 'पद्मावत' से की जा सकती है। सन्देशरासककी ही भाँति इन तीनों काव्योंमें भी ऋतुवर्णनके अन्तर्गत प्रकृतिवर्णन किया गया है।

'पृथ्वीराजरासो' में कनवज्ज प्रयाणके समय जब पृथ्वीराज अपनी रानियोंसे विदा माँगने जाते हैं तो प्रत्येक रानी उन्हें एक-एक ऋतुभर उस ऋतुका वर्णन करके रोक लेती है। सबसे पहले पृथ्वीराज वसंतके समय बड़ी रानी इंछिनीके पास

१. वही, ३।२०९

विदा माँगने जाते हैं। इंछिनी उन्हें जानेकी आज्ञा देनेके स्थानपर वसंतका मनोरम वर्णन करके उन्हें अपने पास रोक लेती है[१]। इसी प्रकार पृथ्वीराज एक-एक रानीके पास आज्ञा माँगने जाते हैं और चन्दको एक-एक ऋतुके वर्णनका अवसर मिल जाता है।

'ढोला मारू रा दोहा' में ढोला द्वारा मारवणीसे मिलनेकी अभिलाषा प्रकट करनेपर मालवणी क्षुब्ध होकर ढोलाको रोकनेके लिए उस ऋतुकी भयंकरता बताती है। ग्रीष्मका वर्णन करते हुए वह कहती है कि इस ऋतुमें भूमि तपी हुई है, लू सामने चल रही है। पथमें तुम जल जाओगे। मेरा कहना मानो और घरमें बैठ रहो।

थल लता लू साँमुही दाझोला पहियाह।
म्हाकउ कहियउ जउ करउ घरि बइठा रहियाह[२]॥

इसी प्रकार प्रत्येक ऋतुमें ढोला मारवणीके पास जानेकी इच्छा प्रकट करता है और मालवणी उसे रोकनेके लिए उस ऋतुकी भयंकरताका चित्र खींचा करती है। कविको भी ऋतुवर्णनका पूरा अवसर मिलता रहता है।

पद्मावतमें ऋतुवर्णनके लिए किसी अन्तःकथाकी योजना नहीं की गई है। जायसीने 'षट्ऋतुवर्णन खण्ड' में रतनसेन और पद्मावतीके सुख-विलासका वर्णन किया है और 'नागमती वियोग खण्ड' में बारहमासेके रूपमें नागमतीका विरह-वर्णन किया है।

'षट्ऋतुवर्णन खण्ड' वसंतसे प्रारम्भ होता है—

प्रथम नवल बसन्त रितु आई।
सुरितु चैत बैसाख सुहाई॥
चंदन चीर पहिरि धनि अंगा।
सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा[३]॥ इत्यादि

---

१. मवरि अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं
भँवर भाव भुल्लै भ्रमंत मकरन्द बरीसं।
बहत बात उज्जलति मौर अति बिरह अगिनि किय,
कुहु कुहंत कलकंठ पत्र राषा अति अग्गिय।
पय लग्गि प्रानपति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु'
दिन-दिन अवद्धि जुब्बन घटय कन्त वसंत न गम करहु।
—पृथ्वीराजरासौ, कनवज्ज समय

२. ढोला मारू रा दूहा, २४१।

३. पद्मावत 'षटऋतुवर्णन खण्ड'।

पद्मावतके 'षट्ऋतुवर्णन खण्ड' में प्रकृतिवर्णन नाममात्रको ही है। सम्पूर्ण वर्णनमें रतनसेन और पद्मावतीके मिलन-सुखको ही नाना रीतियोंसे दरसाया गया है।

'नागमती वियोग खण्ड' का प्रकृतिचित्रण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा।
साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम साम धौरें घन धाए।
सेत धजा बग पाँति देखाए॥
खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा।
बुन्द-बान बरसहि घनघोरा[1]॥ इत्यादि

वस्तुतः सन्देशरासक, पृथ्वीराजरासो, ढोला, पद्मावत जैसे काव्योंमें प्रकृति-वर्णन उद्दीपनके रूपमें ही आया है। जहाँतक सन्देशरासकका सम्बन्ध है यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रकृतिका वर्णन उद्दीपनके लिए करनेपर भी अद्दहमाणने केवल नियमपालनके लिए नीरस तालिका नहीं जुटाई है प्रत्युत पूरे मनोयोगके साथ प्राकृतिक वस्तुओं, व्यापारोंकी अकृत्रिम झाँकियाँ दिखाकर नायिकाके हृदयस्थित विरहकी व्यंजना की है।

द्वितीय प्रक्रममें 'सामोरु' नगरका वर्णन करते समय कविने नगरकी वन-स्पतियोंकी लम्बी सूची प्रस्तुत की है। उसमें केवल वनस्पतियोंकी नीरस नामा-वलीभर मिलती है। अतएव उसे प्रकृति-वर्णनके अन्तर्गत नहीं समझना चाहिए।

## विरह-वर्णन और ऋतु-वर्णन

विरह-वर्णन संदेशरासकका मुख्य विषय है। यह विरहवर्णन नायिका द्वारा पथिकके माध्यमसे संदेशप्रेषणके रूपमें किया गया है। विरहिणी पथिक द्वारा अपने दारुण विरह-विवरणको पतिके पास पहुँचाना चाहती है जिससे द्रवित होकर वह परदेशसे शीघ्र ही घर लौट आये। आवागमनके साधनोंसे सम्पन्न आज हमें चाहे परदेशी प्रियके पास अन्य व्यक्तिके माध्यमसे विरहसंदेश भिजवानेका महत्त्व समझनेमें कठिनाई हो, किन्तु मध्ययुगीन भारतमें प्रवाससे सकुशल लौट आना एक असाधारण बात समझी जाती रही होगी। उस समय प्रोषितपतिकाओंके हृदयमें आशंका, अनिश्चय और संदेहके अंधड चलते रहे होंगे। ऐसी स्थितिमें यदि आशाबन्धसदृशा प्रेमातुरा विरहिणियाँ पागल हो

---

१. पद्मावत 'नागमती वियोग खण्ड ४'।

जाती रही हों, निश्चित अवधितक पतिके न आनेपर अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप उन्माद-व्याधि और जड़ताकी अवस्थाओंमें क्रमशः पहुँचती हुई अन्तमें मर जाती रही हों तो कौन आश्चर्य ![१] इसी विरहदशामें यदि उन्हें कोई पथिक वहां जाता हुआ मिल जाय जहाँ उनका प्रियतम गया है, तो क्या वे उस क्षणके लिए लोक-लाज छोड़कर उस पथिकसे अपनी दुस्सह विरहदशाका संदेश प्रियके पास पहुँचानेके लिए आतुर न हो उठेंगी। हमें इन संदेशों और विरह-वर्णनोंकी मार्मिकतातक पहुँचनेके लिए अपने देशकालको क्षणभर भूलकर मध्ययुगमें जाना पड़ेगा। अस्तु।

भारतीय साहित्यमें, विरहिणी नायिकाका किसी अन्यके द्वारा प्रवासी प्रियके पास सन्देश-प्रेषण एक ऐसी महत्त्वपूर्ण और व्यापक काव्यरूढ़ि रही है कि इसका उपयोग प्रेमकाव्यके रचयिताओंने जी खोलकर किया है। यही नहीं, कल्पना-प्रवण भारतीय कवियोंने सन्देश ले जानेके लिए हंस, शुक, भ्रमर, मेघ आदि मानवेतर जीवों और अचेतन वस्तुओंको भी इस कार्यमें नियोजित किया है। प्रेमकी भूमिकापर जड़-चेतनके एकत्वका यह विधान भारतीय कविहृदयकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

मध्यकालीन भारतीय प्रेम-काव्योंकी एक दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने मन लगाकर स्त्रियोंके ही विरहका वर्णन किया है। किन्तु संस्कृतके महाकाव्योंमें पुरुष पात्रोंकी भी विरहावस्थाका विशद वर्णन किया गया है। आदि कवि वाल्मीकिने शरद्‌की निर्मल रजनीमें कामशोकाभिपीड़ित रामको विलाप करते हुए दिखाया है।[२] कालिदासके 'मेघदूत'की रचनाका आधार यक्षकी ही विरहवेदना है। रघुवंशमें इन्दुमतीकी अकाल मृत्युपर अजका हृदयद्रावक विलाप तो भारतीय साहित्यमें अप्रतिम है।[३] कालिदासके परवर्ती कवियोंमेंसे भवभूतिने उत्तररामचरितमें सीता-विरही रामके हृदयमें चलते रहनेवाले द्वन्द्वका जो चित्र खींचा है वह हमारे साहित्यकी समृद्धिका परिचायक है। दमयन्ती-मिलनके लिए प्रेमातुर नलका नैषधकारने सुन्दर चित्र खींचा है।[४] इसी प्रकार जयदेवके 'गीतगोविन्द'में कृष्णको राधाके विरहमें संतप्त दिखाया गया है।[५]

किन्तु हिन्दीके कवियोंका चित पुरुषोंके विरहवर्णनमें नहीं लगा है। हिन्दीमें

१. साहित्यदर्पण ३।२१४
२. वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड ३०।५
३. रघुवंश ८।५३
४. नैषधीय चरितम् ३।११४
५. गीतगोविन्दन् अध्याय ३।

नायकका विरह-वर्णन बिलकुल नहीं मिलता, ऐसी नहीं कहा जा सकता। 'पृथ्वीराजरासो'में पृथ्वीराजके और 'पद्मावत'में रतनसेनके पूर्वानुरागका यथाविधि वर्णन है।[१] विद्यापतिकी 'पदावली'में 'कृष्णविरह'पर भी गीत हैं तथा सूर, तुलसीने भी राधा और सीताके प्रति अपने-अपने आराध्योंकी व्याकुलता दिखाई है। फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दीमें विरह-वर्णनका अर्थ नायिकाका ही विरह समझा जाता है। हिन्दी कवियोंकी इसी प्रवृत्तिको लक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्लने कहा है कि 'ध्यान देनेकी बात यह है कि विरहकी व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियोंके मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेमके वेगकी मात्रा स्त्रियोंमें अधिक दिखाई गई है। नायकके दिन-दिन क्षीण होने, विरहतापमें भस्म होने, सूखकर ठठरी होनेके वर्णनमें कवियोंका जी उतना नहीं लगा है[२]। इसका कारण बताते हुए शुक्लजी आगे लिखते हैं, 'बात यह है कि स्त्रियोंकी शृंगारचेष्टा वर्णन करनेमें पुरुषोंको जो आनन्द आता है वह पुरुषों-की दशा वर्णन करनेमें नहीं। इसीसे स्त्रियोंका विरह-वर्णन हिन्दी काव्यका एक प्रधान अंग ही बन गया। ऋतु-वर्णन तो केवल इसीकी बदौलत रह गया[३]।'

ऊपर संस्कृत कवियों द्वारा पुरुषोंके विरह-वर्णनका उल्लेख किया गया है। अतएव यह कैसे मान लिया जाय कि हिन्दी कवियोंने स्त्रियोंका विरह-वर्णन केवल इसीलिए किया कि वे पुरुष थे और स्त्रियोंकी ही शृंगारचेष्टाओंमें उनकी वृत्ति रमती थी, पुरुषोंकी विरहचेष्टाओंमें नहीं। संस्कृतके कवि भी तो पुरुष ही थे। तब यह निश्चित है कि इस परवर्ती परिपाटीके लिए अन्य बातें जिम्मे-दार हैं। कारण कुछ भी रहे हों, हिन्दीमें नायिकाओंके ही विरह-वर्णनकी परम्परा चली। सूफी कवियोंने अलबत्ता फारसी प्रेम-पद्धतिपर नायककी भी विरहवेदना-को स्थान दिया, किन्तु उन्होंने भी अंततक नायिकाको उसके प्रेममें समान अनुरक्त दिखाकर भारतीय और फारसी प्रेमपद्धतियोंका समन्वय कर दिया।

संदेशरासकमें नायिकाके ही विरहपक्षका चित्रण किया गया है। वह प्रोषितपतिका है। प्रियने परदेशसे कदाचित् कोई संदेश भी नहीं भेजा था। कविने प्रारम्भमें रूपवर्णन द्वारा ही व्याकुलता और विरहकातरता व्यंजित कर दी है। वह दीनानना आँखोंसे जलधार बहाती हुई अपने पतिकी बाट जोह रही है। विरहाग्निसे उसके शरीरकी हेम आभा श्यामल हो गई है। मानों चन्द्रमाको राहुने पूर्णरूपसे ग्रस्त कर लिया हो। वह दुःखार्ता रोती है और

१. पृथ्वीराजरासो, शशिव्रता विवाह खण्ड और पद्मावत—प्रेमखण्ड।
२. जायसी ग्रन्थावली—भूमिका।
३. वही।

आँखोंको पोंछती जाती है। उसका जूड़ा खुला हुआ है, उसे जँभाइयाँ आ रही हैं, वह अंगोंको पीड़ाके कारण मोड़ती है, विरहानलसे संतप्त वह लम्बी साँसे ले रही है और अपनी उँगुलियोंको तोड़ रही है।[1]

इस प्रकार विलाप करती हुई उस वर नायिकाने नगरके बीचका मुख्य रास्ता छोड़कर किनारे जाते हुऐ एक पथिकको देखा। डूबतेमें तिनकेका सहारा होता है। उस पथिकको देखकर विरहिणीके हृदयमें एक साथ ही न जाने कितने भाव उमड़ पड़े होंगे। उसका पति इसी तरह एक दिन पथिक बनकर घरसे निकल पड़ा था। यह पथिक भी उसीकी तरह विरहाग्निमें जलनेके लिए एक स्त्रीको अपने घरमें छोड़ आया होगा। हो न हो, यह पथिक भी वहीं जा रहा है जहाँ उसका पति गया है, इत्यादि इत्यादि। वह उस पथिकका परिचय पानेके लिए आतुर हो उठी। प्रियके पासतक संदेश ले जानेवाले पथिक भी तो सौभाग्यसे ही मिलते हैं। कहीं वह पथिक निकल न जाय। नायिकाकी इन भावपूर्ण चेष्टाओंका वर्णन अद्दहमाणने इतनी सजीव स्वाभाविकतासे किया है कि यह स्थल केवल संदेशरासकके ही उत्कृष्ट अंशोंमेंसे नहीं है, अन्यत्र भी ऐसे हृदय-स्पर्शी वर्णन विरल ही होंगे।

उस पथिकको देखकर पतिके पास संदेश भेजनेकी उत्कण्ठासे वह मन्थर गतिको सरल करके उतावलीसे चल पड़ी। शीघ्रताके कारण उसके मनोहर चंचल नितम्बोंसे करधनी खिसककर गिर पड़ी, जिससे उसकी किंकिणियोंका स्वर फैल गया। उस सुन्दरीने जैसे-तैसे अपनी मेखलाको स्थिर किया ही था कि स्थूल मुक्ताओंकी हारलता टूट गई। बेचारीने किसी तरह जल्दीमें कुछ मुक्ताएँ वैसे ही पड़ी रहने दीं, कुछ उठाईं, तबतक चरणोंकी दुर्बलताके कारण नूपुर ही निकल गया[2]।

इसमें नायिकाके भावोंको कहकर नहीं प्रत्युत भावविकल चेष्टाओंका सुस्पष्ट और संवेदन-स्पन्दित चित्र खींचकर व्यंजित किया गया है। सजीवता, स्वाभाविकता और छन्दगति तीनोंकी अनुरूपताके कारण इस वर्णनमें अपूर्व गत्वर चित्रात्मकता आ गई है। इसे सन्देशरासकके विरह-वर्णनकी भूमिका समझनी चाहिए।

किसी तरह विरहिणी पथिकके पास पहुँची। उसने करुणाविलसित भावसे उस पथिकसे प्रार्थना की कि हे पथिक! क्षणार्द्धके लिए सुस्थिर होकर जो कहती हूँ उसे सुन लो। जरा तुम्हारा हृदय पसीजे[3]।

---

१. संदेशरासक २।२४, २५।

२. संदेशरासक, २।२६, २७

३. वही २। ३०

पथिक भी मनुष्य था। वह ठहर गया। कुछ देर तो वह उस विरहिणी नायिकाकी अपूर्व शोभाको सराहता और निहारता रहा। वह लज्जाशीला रमणी अपना मस्तक नीचा किये चरणके अँगूठेसे धरती खोदती रही। कुछ देर बाद उसने पथिकसे पूछा कि हे पथिक, तुम कहाँ जाओगे और कहाँसे आ रहे हो ? उस विरहिणीको 'कहाँ जाओगे' का उत्तर पानेकी जल्दी थी, किन्तु पथिकने अपने नगरका नाम पहले बताया और यदि नायिकाको नहीं तो पाठकको तो अवश्य ही उबा देनेवाला नगरवर्णन प्रस्तुत किया। वर्णनके अन्तमें पथिकने आखिर बताया ही कि वह मूलस्थानसे एक लेख लिये हुए प्रभुकी आज्ञासे खम्भात जा रहा है[१]।

खम्भातका नाम सुनना था कि वह दीर्घोच्छ्वास लेने लगी। उँगुलियाँ तोड़ने लगी। उसका कण्ठ गद्गद् हो गया। वह बड़ी देरतक वाताहता कदली-तरुकी भाँति हहराती रही[२]।

यहाँपर फिर कविने अपनी तरफसे कुछ न कहकर केवल विरहिणीकी चेष्टाओं-को दिखाकर ही उसके हृदयकी विकलताको व्यक्त किया है। प्रिय जिस स्थान-पर गया है उस स्थानके प्रति हमारे हृदयमें न जाने कितने प्रकारके भाव स्थापित हो जाते हैं। उससे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बात हमारे हृदय-सागरको विक्षुब्ध कर देनेमें समर्थ होती है। खम्भातके नामने उस विरहिणीको हिला दिया। वह कुछ देरतक तो केवल रोती रही। फिर आँखें पोंछकर बोली कि हे पथिक ! खम्भातका नाम सुनकर ही मेरा शरीर जर्जर हो गया है। इस कराल विरहाग्निको लगाकर मेरा पति भी तो वहीं गया है। कितने अधिक दिन हो गये उसे गये, किन्तु वह निर्दय अभीतक नहीं लौटा। यदि तुम दया कर कुछ देरके लिए अपने पैर मोड़ करके बैठो तो मैं तुमसे अपने प्रियके लिए छोटा-सा संदेश कह दूँ ![३]

अद्दहमाणने संदेशप्रेषणके माध्यमसे विरहिणीके हृदयकी अनुभूतियोंको सहज भावसे व्यक्त किया है। उन्हें वे काव्यको बारीक कारीगरीसे दुर्वह या बोझिल बनाकर चमत्कार लानेके मोहमें नहीं पड़े हैं। नायिका संदेश देनेके लिए तत्पर तो होती है किन्तु सोचती है कि क्या प्रियको संदेश भेजनेके लिए उसे बच

१. संदेशरासक २। ६५
२. वही—२। ६५
३. संदेशरासक २-६७, ६८

रहना चाहिए था। जो प्रियके चले जाते ही विरहकी दावाग्निसे जलकर रेणुसात् नहीं हो गया उस निष्ठुर मनसे सन्देश कैसे दिया जाय।[1]

फिर वह पथिकसे कहती है कि जिसके प्रवास करते समय मैं भी साथ नहीं चली गई या जिसके वियोगमें मैं मर नहीं गई, उस प्रियको संदेश देते हुए मुझे लज्जा आती है।[2]

यहाँसे मुख्य विरह-वर्णन प्रारम्भ होता है। अर्थात् विरहिणी स्वयं अपने मुखसे अपनी विरहदशा बताने लगती है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, संदेशरासकके विरह-वर्णनमें अत्युक्तियोंका सहारा न लेकर बातको सीधे और मार्मिक ढंगसे कहा गया है। इसमें कल्पनाकी वह कोरी उड़ान और ऊहात्मकता नहीं मिलती जो परवर्ती हिन्दी कवितामें विरहवर्णनकी एक विशेषता बन गई। विरहिणीकी उक्तियोंमें भंगिमा उसकी सहज भाव-तीव्रताके कारण है, उसमें प्रेषणीयता व्यापक और प्रगाढ़ संवेदनाके कारण है, अलंकार-योजना और नीरस उत्प्रेक्षाओंके कारण नहीं। अपभ्रंश साहित्यकी ताजगी, मस्ती और लोक-जीवनकी अकृत्रिमता सन्देशरासकके विरह-वर्णनमें सुरक्षित है।

प्रारम्भिक कुछ दोहोंमें विरहिणी जहाँ एक ओर प्रियके प्रति अपनी विह्वल प्रेमातुरता प्रकट करती है वहाँ उसके पौरुषको ललकार अपने प्रति उसके उत्तर-दायित्वका भी स्मरण दिलाती है। एक ओर तो उसे पतिका इतना ध्यान है कि वह प्रियको छोड़कर विरहदुःखसे मुक्त होनेके लिए मरकर स्वर्ग भी जाना उचित नहीं समझती[3], दूसरी ओर वह अपने पतिको उसके मान, पौरुष और संरक्षणकर्तव्यका ध्यान दिलाती हुई कहती है कि प्रिय, तुम मेरे हृदयमें स्थित हो और तुम्हारे रहते हुए भी विरह मुझे कष्ट देता है। यह तुम्हारे लिए कितनी लज्जाकी बात है। सत्पुरुषोंके लिए पराभवका सन्ताप तो मरणसे भी अधिक दुःखदायी होता है[4]। अन्तमें अपने पतिके पौरुष-पराक्रमको ललकारती हुई वह

---

१. जसु णिग्गमि रेणुक्करडि, कीअ ण विरहदवेण।
किम दिज्जइ संदेसडउ, तसु णिट्ठुरइ मणेन। वही २।६९

२. जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु!

वही २।७०

३. पिअविरहानलसंतविअ, जइ वच्चउ सुरलोइ।
तुअ छड्डिवि हियअट्ठियह, तं परिवाडि ण होइ। वही, २।७५

४. कंत जु तइ हिअयट्ठियह, विरह विडंबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव सन्ताउ॥ वही २।७६।

ताना मारती है कि क्या मैं तुमहारे जैसे पौरुषवान् पतिके रहते हुए भी यह गुरुतर पराभव नहीं सहती हूँ ? मेरे जिन अंगोंके साथ तुमने विलास किया था उन्हें अब विरहने जला डाला है—

'गरुअउ परिहवु किन सहउ, पइ पोरिस निलए ण।
जिहि अंगिहि तूँ विलसियउ, ते दद्धा विरहेण[१]।।'

इसके पश्चात् वह विरहकी कठोरता, अपनी असमर्थता और प्रियके प्रति अपने प्रेमकी एकोन्मुखता प्रकट करते हुए बताती है कि मेरे विरहदुःखको केवल मेरा पति ही दूर कर सकता है। मैं तो विरहके सम्मुख असमर्थ हूँ अतएव विलाप करते रहनेके अतिरिक्त और कर ही क्या सकती हूँ। गोपालिकाओंका तो केवल रुदन ही प्रमाण है[२]।

फिर वह प्रियके विरहसे उत्पन्न मानसिक सन्तापके कारण अपनी शारीरिक दुर्बलताकी ओर ध्यान दिलाती हुई कहती है कि पथिक, तुमसे मैं कितना संदेश कहूँ। संदेश कहनेको तो बहुत अधिक है किन्तु मैं उसे कहाँतक कह पाऊँगी ? प्रियसे यही कहना कि दुर्बलताके कारण अब एक ही वलयमें मेरे दोनों हाथ समा जाते हैं। मेरी कनिष्ठिका उँगलीकी अँगूठी बाँहमें आ जाती है[३]।

संदेशरासकमें व्यवस्थित ढंगसे दश दशाओंके आधारपर विरहका वर्णन नहीं किया गया है। इसमें अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता आदि अवस्थाओंका वर्णन विभाजन करके क्रमबद्ध पद्धतिपर नहीं किया गया है। ढूँढ़नेपर सन्देशरासकमें ये सभी अवस्थाएँ मिलेंगी भी नहीं।

किन्तु अद्दहमाणने विरहवर्णनमें तीव्रता लानेके लिए तथा बीच-बीचमें नवीनता उत्पन्न करनेके लिए एक अन्य कौशलसे काम लिया है। कुछ देरतक नायिकाके संदेश कहते रहनेपर बीच-बीचमें पथिक कह देता है 'अब सन्देश जरा शीघ्रतासे कहो। मुझे बड़ी दूर जाना है। अब मुझे आज्ञा दो। मेरा पथ बड़ा दुर्गम है' इत्यादि। किन्तु नायिका उसे 'पाँच दोहे और तीन गाथाएँ और। ये और दो पद्धड़िया मेरे प्रियसे कृपापूर्वक कह देना' आदि कहकर रोक लिया करती है और उसका संदेश फिर उसी क्रमसे चलने लगता है। ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होता है कि पथिकके टोकनेके पश्चात् विरह-वर्णन एक नया मोड़ लेता है और उसमें नवीनता पैदा हो जाती है। ऐसे स्थलोंपर कुछ देर

---

१. वही २।७७

२. संदेशरासक २।७९।

३. वही २।८०, ८१।

रुककर कवि विरहिणीकी उद्विग्नताजन्य शरीरचेष्टाओंका वर्णन स्वयं कर देता है और इसके बाद नायिका नये स्वरसे संदेशकथन प्रारम्भ करती है। निस्सन्देह नायिकाका विरह कठोरसे कठोरतर और प्रगाढ़से प्रगाढ़तर होता जाता है। विरहिणी पथिकसे यह कह ही रही थी कि संदेश इतना विस्तृत है कि वह पूरा कहा नहीं जा सकता कि पथिकने टोका कि हे विचक्षणे ! अब जो कहना हो वह शीघ्रतापूर्वक कह डालो। मुझे अत्यन्त दुर्गम मार्गपर जाना है।

कहसु अह अहिउ जं किंपि जंपिव्वउ।
मग्गु अह दुग्गु मइ मुंधि जाइव्वउ[१]॥

अब वह बेचारी क्या कहे। इतने दिनोंके बाद प्रियके पास संदेश ले जाने-वाला कोई मिला भी तो उसे इतनी जल्दी है कि उससे जी भरकर संदेश भी नहीं दिया जा सकता। पथिककी बात सुनकर वह कामदेवके बाणोंसे उसी प्रकार व्याकुल हो गई जैसे मृगको बाण लगनेपर मृगी उत्त्रस्त हो उठती है। वह दीर्घोच्छ्वास लेने लगी। उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी और उसने एक गाहा पढ़ी।[२] किन्तु एक ही गाहा पढ़कर वह सन्तुष्ट होनेवाली नहीं थी। उससे कहा कि 'हे पथिक, मेरे आशा-सुखमें विघ्न डालनेवाले निर्दय प्रियसे कहना कि उसके स्मरणसमाधिमें मैं मोहस्थित रहती हूँ। वाम करपर स्थित अपने कपालको जरा भी इधर-उधर नहीं हटाती हूँ। शय्या ही मेरा आसन रह गई है। मैं पलंग कभी नहीं छोड़ती। उस कापालिकके विरहने मुझे कापालिनी बना दिया है। मेरे शरीरका तेज समाप्त हो गया है। अंग सूख गये हैं। बालोंके लट इधर-उधर छितरे रहते हैं। मेरे मुखका रंग फीका पड़ गया है। मैं दुर्बलताके कारण चलनेमें डगमगाती हूँ। मेरी गति विपरीत हो गई है। कुंकुम और स्वर्णके समान मेरी शरीर-कांति अब साँवली पड़ गई है। उस निशाचरके विरहमें मैं निशाचरी हो गई हूँ।[३]

दो चतुष्पदिकाओंमें वर्णित यह विरहनिवेदन पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक प्रगाढ़ ज्ञात होता है। पहलेकी अपेक्षा इसमें विरहजन्य क्लेश भी अधिक बढ़ गया है। इसमें नायिका खीझकर पतिको कापालिक और निशाचर कहती है और विरहके कारण स्वयंको कापालिनी और निशाचरी हो जाना बताती है।

इसी प्रकार विरहिणी अपने विरहका वर्णन कर ही रही थी कि पथिकको

---

१. संदेशरासक। २।८२।

२. वही २।८३।

३. संदेशरासक २।८६,८७।

फिर जल्दी सूझी। उसने कहा हे चन्द्रवदनी ! अब मुझे छुट्टी दो अथवा जो कुछ कहना हो शीघ्रतापूर्वक कह डालो। विरहिणीने जानेकी आज्ञा देनेके स्थानपर उससे कहा कि हे पथिक, मैं क्या कहूँ और क्या न कहूँ, जिस निर्मोहीने मेरी यह अवस्था कर डाली है उससे कहनेसे क्या होनेवाला है ? वह मुझे विरह-के कुहरमें अकेले छोड़कर अर्थलोभके कारण परदेश चला गया है। सन्देश मेरा सविस्तर है और तुम अधिक उतावले हो। फिर भी वह गाहा वत्थु और डोमिलइ कह देना।[1]

इन पंक्तियोंमें पतिकी निष्ठुरताकी भर्त्सना करते हुए विरहिणीने पतिपर अर्थलोभके कारण अकेले छोड़ जानेका आरोप लगाते हुए अत्यन्त मार्मिक बात कही है। अर्थका उसे इतना अधिक लोभ न होता तो वह अपने नगरमें थोड़े धनसे ही संतुष्ट होकर रह सकता था या परदेशमें जाकर कुछ उपार्जन करके लौट आता। स्वाभिमानिनी गृहिणीकी भाँति यह सोचकर नायिकाका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है कि प्रिय उसकी अपेक्षा धनकी अधिक चिन्ता करता है।

धीरे-धीरे संदेशमें विरहव्यथाकी अनुभूति गहरी होती जाती है। किन्तु उसकी गति इतनी स्वाभाविक है कि पाठकको यह विचारनेका अवसर ही नहीं मिलता कि वह क्रमशः विरहसागरकी अधिक गहराइयोंमें उतरता जा रहा है। विरहिणीकी वेदनाके साथ सहृदय पाठककी एकसूत्रता स्थापित हो जाती है।

ज्यों-ज्यों विरह-वर्णनका रंग गाढ़ा होता जाता है और विरहजन्य पीड़ाकी अनुभूति बढ़ती जाती है, नायिका पतिके लिए कापालिक, निशाचर, निर्दय जैसे विशेषणोंका प्रयोग भी अधिक करती है। प्रियके लिए प्रयुक्त ये विशेषण विरहके सन्दर्भमें उसके प्रति नायिकाके अतुल प्रेमको ही प्रकट करते हैं। जिन्होंने ग्राम वधुओंको अपने पतियोंसे झगड़ते या उनको कोसते देखा है उन्हें यह समझनेमें कठिनाई नहीं होगी कि साधारणतः ये निन्दार्थक विशेषण जब उच्छल प्रेमरससे परिपूर्ण होकर व्यवहृत होते हैं तो उनमें कितनी मधुरिमा और भाव-व्यंजकता निहित रहती है। संदेशरासकमें आए हुए ये प्रयोग, अद्दहमाणके लोक-परिचय और उनकी सरस अन्तर्वृत्तिका परिचय देते हैं।

संदेशरासकमें यद्यपि विरहके अन्तर्गत शारीरिक दशाओंका ही वर्णन अधिक हुआ है, किन्तु कविने उसे इतने मार्मिक ढंगसे प्रस्तत किया है कि वह हृदयमें बहूत दूर जाकर गहरी संवेदनाको जगाता है। बाह्य व्यापारोंको चित्रित

१. सं० २।९१,।९२

करनेमें भी संदेशरासककी पदावली अत्यन्त प्रभावशालिनी है। कविकी भाव-प्रेरित अनुभूति-स्पंदित वाणी सीधे अंतस्तल तक पहुँचे बिना बीचमें रुकना नहीं जानती। कारण यह है कि अद्दहमाणने सदैव स्वाभाविकता और मार्मिकताका ध्यान रखा। साधारण कवियोंकी भाँति वे चमत्कारके लोभमें नहीं पड़े हैं।

कहीं-कहीं कविने किसी विशेष भावका चित्र रूपकके माध्यमसे बड़ी सफाईके साथ खींचा है। सुनार आभूषण गढ़ते समय धातुको लम्बा, पतला या गोल करनेके लिए उसे पहले अग्निमें तपाता है और फिर जलमें भिगोता है। कविने विरहिणीके हृदयमें उठती हुई उत्कंठा, निराशा और आशाकी क्रमिक भावनाओं-को इसी क्रियाव्यापार के रूपमें खींचा है। विरहिणी कहती है कि मेरा हृदय स्वर्णकारकी भाँति है। पहले वह उत्कंठा उत्पन्न करके मुझे विरहकी अग्निमें जलाता है तत्पश्चात्, आशाके जलसे सींचता है—

'सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किक्ख करेई।
विरहहुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ॥'[1]

किन्तु अद्दहमाण इतने विरह-वर्णन करके ही बस कर देनेवाले नहीं थे। विरह-वर्णन करते समय ऋतु-वर्णनकी परम्पराका लोभ वे नहीं छोड़ पाए।

अद्दहमाणने ऋतु-वर्णनका बहाना बड़े कौशलसे निकाला है। संदेशरासकका ऋतु-वर्णन पहलेसे चले आते हुए विरह-वर्णनका स्वाभाविक विकास लगता है, केवल परम्परापालन के निमित्त ऊपरसे लादा हुआ नहीं।

विरहणी नायिकाका संदेश सुनते-सुनते ऊबकर पथिक अन्तमें कहता है कि हे कनकांगि! तुमने जो कुछ कहा है वह और उसके अतिरिक्त जो कुछ मैंने देखा है, उसे भी अपनी ओरसे मैं तुम्हारे प्रियसे कह दूँगा। मेरा पथ दुर्गम है। देखो, पूर्व दिशामें अन्धकार छा गया। रात्रि होनेको आई। हे कमलनेत्री, अब तुम अपने घर जाओ और मेरा गमन न रोको।[2]

पथिककी बात सुनकर उस प्रेम-वियोगिनी क्षामोदराने दीर्घोष्ण उच्छ्वास लिया। उस समय वह रो रही थी। उसके कपोलोंपर अश्रुकण ऐसे शोभित हो रहे थे जैसे विद्रुमपुंजपर मुक्ता शोभित होते हैं। प्रियके प्रवाससे दुखी और रोती-कलपती हुई उस नायिकाने पथिकसे दो और स्कन्ध पतिसे कहनेके लिए कहा।

उन दो स्कंधकोंमें कुछ ऐसी बात थी कि उन्हें सुनते ही पथिकका हृदय

१. संदेशरासक, २। १०८।
१. संदेशरासक, २।१२३, १२४

द्रवीभूत हो गया। कहाँ तो वह जानेकी इतनी शीघ्रता कर रहा था और कहाँ उसे रोमांच हो आया। उसने विरहिणीसे पूछा कि हे मृगनयनी! जो कुछ मैं कहता हूँ उसे धैर्यपूर्वक सुनो और सही-सही बताओ कि नवघन रेखा विनिर्गत शरद रजनीके निर्मल अमृतस्रावी चन्द्रमाको जीतनेवाले, प्रियको संजीवन सुख देनेवाले तुम्हारे मुखको विरहाग्नि धूप कबसे श्यामल कर रहा है। हे तरलाक्षि! इस विरहदुःखको तुमने अपनाया है और यह दुःसह विरह करपत्र (आरा) कितने दिनोंसे तुम्हारे अंगोंपर चल रहा है। हे सुन्दरी, यह बताओ कि कामदेव कबसे तुम्हें अपने बाणोंसे घायल कर रहा है। तुम्हारे पतिको तुम्हें छोड़कर गए कितने दिन हो गए?[१]

अब क्या था! नायिकाको (और अद्दहमाणको भी) अपनी विरहगाथा कहनेका पूरा अवसर मिल गया। विरहिणीका पति ग्रीष्ममें गया था। अतः उसने ग्रीष्मसे क्रमशः वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्तमें अनुभूत अपने विरहका वर्णन किया।

ऋतु-वर्णनके लिए 'पृथ्वीराज रासो' में और 'ढोला मारू रा दूहा' में भी किस प्रकार चतुरताके साथ कथाको मोड़ दिया गया है, इसका उल्लेख प्रकृति-वर्णनके प्रसंगमें कर दिया गया है। यहाँ उसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। संस्कृत साहित्यमें ही ऋतु-वर्णनकी परम्परा विद्यमान है। वाल्मीकिने यद्यपि प्रसंगवश ऋतुओंका वर्णन किया है किन्तु एक साथ सभी ऋतुओंका 'ऋतुवर्णन', काव्य रूपमें किया हुआ चित्रण सर्वप्रथम कालिदासके 'ऋतुसंहार' में ही मिलता है। 'संदेशरासक'में 'ऋतुवर्णन' मिलनेसे यह प्रकट है कि यह परम्परा अविच्छिन्न रूपसे हिन्दीमें चली आई है। १४ वीं शताब्दीकी पुस्तक 'वर्णरत्नाकर'में छहों ऋतुओंके वर्णनका भी नुसखा दिया हुआ है। उसमें प्रत्येक ऋतुकी वे मुख्य-मुख्य विशेषताएँ दे दी गई हैं जिन्हें उस ऋतुका वर्णन करते समय कवियोंको नहीं भूलना चाहिए। जैसे वसन्त-वर्णनमें वृक्षकी नवीनता, पल्लवका उद्गम, कुमुदका सम्भार, मलयानिलका वेग, कोकिलका कलरव, भ्रमरकी झंकार, कामदेवका प्रभाव, विरहिणीकी उत्कंठा, नायकका हर्ष, नायिकाकी अभिलाषा इत्यादिके वर्णनकी विधि दी हुई है।[१]

---

१. अथ वसन्त वर्णना॥ वृक्षक नूतनता। पल्लवक उद्गम। कुमुदक सम्भार। मलयानिल-वेग। कोकिलाक कलरव। भ्रमरक झाँकार। कन्दर्पक प्रभाव। विरहिनीक उत्कंठा। नायकक हरष, नायिकाक अभिलाष। दिनकरक रम्यता। शिशि (र) क अपगम। मधु (क) रक समृद्धि। पुष्पक सौरभ। पवनक आकांक्षा। एवम्बि (ध) गुण विशिष्ट वसन्त देषु॥ —वर्णरत्नाकर—चतुर्थ कल्लोल, पृ० १८ १९

हिन्दीमें 'षट्ऋतु वर्णन'के अतिरिक्त 'बारहमासा' भी मिलता है। जायसीके 'पद्मावत'में 'षट्रितु वर्णन खण्ड'में रतनसेन और पद्मावतीके संयोगसुखका वर्णन है और बारहमासेका व्यवहार नागमतीके वियोगका वर्णन करते समय किया गया है। बारहमासा बहुत प्राचीन काव्योंमें नहीं मिलता। डा० श्रीकृष्णलालका विचार है कि हिन्दी साहित्यका 'बारहमासा' फारसी काव्य-पद्धतिसे मिलती है। वह यहाँ सूफियोंको रचनाओंके माध्यमसे आया है। फारसी साहित्यमें क्रम-पद्धतिपर कविता करनेकी कई प्रणालियाँ प्रचलित थीं जैसे अरबी वर्णक्रमके आधारपर 'अलिफनामा' जिसका भारतीयकरण 'अखरावट' और 'ककहरा'के रूपमें मिलता है।[१]

ऋतुसंहार, 'संदेशरासक' और ढोलामें ऋतुओंका वर्णन ग्रीष्मसे प्रारम्भ होता है[२]। किन्तु रासो और पद्मावतमें षड्ऋतु वर्णन वसन्तसे प्रारम्भ होता है[२]। यही नहीं, पद्मावतमें ही 'बारहमासा' आषाढ़से प्रारम्भ होता है[३]। इससे प्रतीत होता है कि ऋतुवर्णन कहाँसे प्रारम्भ किया जाय, इस प्रश्नपर कोई सर्वमान्य परम्परा नहीं थी। यह अवश्य ध्यान रखा जाता था कि किसी उद्दीपक ऋतुसे ही इसका प्रारम्भ हो। यह ऋतुवर्णन मिलनजन्य आनन्द और विरहजन्य दुःख दोनोंमें उद्दीपन-संचारके लिए किया जाता था। इससे काव्यमें मिलनसुख और विरहःदुख दोनोंका रंग गाढ़ा हो जाता था। कवियोंका अतिसंवेदनशील व्यक्तित्व मनुष्यके सुख-दुःखका प्रतिबिम्ब प्रकृतिमें भी देखता है। अपनी चिरसहचरी प्रकृतिके विशाल परिदृश्यमें मनुष्यके व्यक्तिगत सुख-दुःख उसकी अपनी आशा-

---

१. थललत्ता लू सामुही दाझोला पहियाह।
म्हांकउ कहियउ करउ घरिं बहता रहियाह॥
—ढोला मारू रा २४१।

२. मवरि अब फुल्लिग। कदंब रयनी दिघ दीसं
भवर भाव भुल्ले। भ्रमंत मकरंदं रीरंसं।
बहत बात उज्जलति। मौर अति विरह अगिन किय।
कुह कुहंत कलकंठ। पत्र राषस रति अग्गिय। आद्दि
पय लग्गि प्रान पति बीनवों नाह नेह मुझ चित्त धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुव्वन घटिय कंत बसंत न गम करहु।
—रासो कनवज्ज समय।

प्रथम बसंत नवल रितु आई। रितु चैत बैसाख सुहाई
—षडरितु वर्णन खंड ५

३. चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा, साजा विरह दुंद दल बाजा।
—नागमती विरोग खण्ड ४

निराशा अलौकिक प्रभाव उत्पन्न करती है। लेकिन इस विषयमें यह स्मरणीय है कि इस प्रकारके वर्णनोंमें प्रकृति केवल उद्दीपनका ही काम करती है अर्थात् वह मनुष्यके सुख-दुःखकी आश्रिता होकर ही काव्यमें दिखलाई पड़ती है।

संदेशरासकके कविने भी ऋतुवर्णनकी परम्पराका उपयोग नायिकाके विरहको अधिक प्रगाढ़ बनानेके लिए किया है।

विरहिणीके पतिने घरसे ग्रीष्ममें प्रयाण किया था। अतएव पथिकके यह पूछनेपर कि तुम कितने दिनोंसे विरहाग्निमें जल रही हो, वह सबसे उस ग्रीष्मकी खबर लेती है जिसमें उसके पतिने प्रयाण किया था। ठीक ग्रामीण स्त्रियोंकी भाँति वह उस ग्रीष्मानलको जल जाने और मलय पवनको सूख जानेका शाप देकर ग्रीष्म वर्णन प्रारम्भ करती है[1]।

यद्यपि संदेशरासकमें ऋतुवर्णनका मूल उद्देश्य विरहणीके अपार विरह-दुःखको व्यंजित करना है, किन्तु उसके लिए बाह्य प्रकृतिका सहारा यथेष्ट मात्रामें लिया गया है। यही कारण है कि ऋतु-वर्णनके अन्तर्गत कविको प्रकृति-वर्णनका भी अवकाश मिल गया है। कवि प्रत्येक ऋतुके वर्णनमें पहले प्रकृतिका उद्दीपक रूप भली भाँति चित्रित कर देता है और फिर विरहिणीकी विरहज्वालाकी पीड़ा व्यक्त करता है, फलतः सम्पूर्ण प्रकृतिव्यापार नायिकाकी विरह-वेदनाकी पृष्ठ-भूमिका कार्य करता है। जैसे ग्रीष्म-ऋतुका तो रूप यह है कि आकाशतल यमराजकी जिह्वाके समान लहलहाता है और धरा धूप-तापके कारण तड़-तड़ कर रही है। ऊपरसे विरहिणीको इस प्रकार जला रही है कि यदि वह रात्रिमें सुखद कमलदलकी शय्यापर लेटती है तो भी उसका उद्वेग द्विगुणित हो जाता है और वह रातभर गद्गद कंठसे विरह-परक गान पढ़ा करती है[2]।

इसी प्रकार वर्षा ऋतुमें चारों ओर घोर अंधकार छा जाता है। बादल सरोष गर्जन करने लगते हैं। सूचीभेद्य अंधकारमें पगडंडियाँ बिजलीके चमकनेपर रह-रहकर दिखाई पड़ती हैं। दसों दिशाओंमें बादलोंके छा जानेसे अंधकार छा गया है। उन्नमित कृष्ण मेघ घनघोर गर्जन कर रहे हैं। नभमें चंचल विद्युल्लता तड़क रही है। मेंढकोंका कठोर रव किसीसे सहा नहीं जाता है। धारासार वर्षा एक क्षणके लिए भी नहीं रुकती। विरहिणी कातर भावसे पूछती है कि हे पथिक, तुम्हीं कहो कि आम्रतरु शिखरासीन कोकिलकी मनोहर ध्वनि इस ऋतुमें मैं कैसे सहूँ[3]।

१. संदेशरासक २।१२९

२. संदेशरासक २।१३६

३. संदेशरासक २।१४८

वर्षाके बाद शरद ऋतु आ गई है। फिर भी विरहिणीका पति नहीं लौटा। शरदके आते ही आकाश स्वच्छ हो गया। जलाशयोंमें कमल खिल गए। अपने दुःखमें दूसरोंका सुख और अधिक वेदना पहुँचाता है। विरहिणी भी जब देखती है कि जिनके पति साथ हैं वे अपने पतिके साथ अनेक प्रकारकी क्रीड़ाएँ करके और चित्रविचित्र वस्त्र धारण करके सुखी होती हैं,[१] तो उसकी अवस्था और भी बुरी हो जाती है। उसे रात्रिको अर्ध प्रहरके लिए भी नींद नहीं आती। प्रिय-की कथा स्मरण करती हुई वह रातभर जागती रहती है। अन्तमें वह निराश होकर सोचती है कि क्या प्रियको मेरी याद नहीं आती है। क्या जिस देशमें वह गया है वहाँ रात्रिमें चन्द्रमा नहीं उदित होता? क्या वहाँ हंस कमलरस-कषायित कंठोंसे सुन्दर शब्द नहीं करते? क्या वहाँ कोई सुरम्य प्राकृत गान सुन्दर रागसे कोई नहीं पढ़ता? क्या वहाँ कोयल पंचम नाद नहीं करती? अथवा उस देशमें सूर्योदयकालमें विकसित पुष्पोंका गंधसंभार सुगन्धि नहीं फैलाता? अथवा मेरा प्रिय ही अरसिक हो गया, नहीं तो क्या वह शरद कालमें भी घर नहीं लौटता? शरद्-वर्णनके पश्चात् बाह्य प्रकृतिका वर्णन अपेक्षाकृत कम और विरहिणीकी विरहवेदनाका वर्णन अधिक हो गया है। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि ज्यों-ज्यों विरह वेदना गम्भीर होती जाती है त्यों-त्यों कविका ध्यान प्रकृतिसे हटकर विरहिणीकी विरहपीड़ामें अधिक केन्द्रित होता गया है।

शरदके पश्चात् हेमन्त भी आ गया किन्तु पति नहीं लौटा। अन्य लोग शरीरको अगरुसे धूपित करते हैं, कुंकुम लगाते हैं और प्रगाढ़ आलिंगनसे अपने अंगोंको सुख देते हैं। हेमन्तके दिन अन्य ऋतुओंके दिनोंकी अपेक्षा अत्यन्त छोटे होते हैं। उस विरहिणीके लिए एक-एक दिन ब्रह्माका एक-एक युग है।[२]

उस नायिकाने किसी तरह अत्यन्त कष्टपूर्वक हेमन्त काटा। शिशिर ऋतु आ गई, फिर भी धूर्त प्रिय नहीं लौटा। लोग इस ऋतुमें भाँति-भाँतिके उत्सव मनाने लगे। विविध गंध मिला करके ईखका रस भरपेट पीते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ कुंद चतुर्थीका उत्सव करके अपनी-अपनी शय्यापर प्रसन्नतापूर्वक लेटी रहती हैं।

कुछ स्त्रियाँ वसंत जन्मोत्सवमें दान करती हैं, अपने पतियोंके साथ आनन्द मनाती हैं। इसी समय अकेली विरहिणीने अपने पतिके पास मन रूपी दूत भेजा।

---

१. संदेशराक, २।१४८

२. संदेशरासक २।१८९

उसने समझा था कि यह मन रूपी दूत प्रियको उसके पास ला देगा और उसे संतोष देगा। मैं नहीं जानती थी कि वह दुष्ट धूर्त भी मुझे छोड़ देगा। प्रिय नहीं आया और वह मन भी उसके पाससे नहीं लौटा। उसका हृदय दुःखभारके आधिक्यसे पूरित हो गया।[1]

अन्तमें वियोगियोंकी मदनाग्निको प्रज्वलित करता हुआ वसंत आ पहुँचा। इस ऋतुमें दसों दिशाएँ हँसने लगती हैं। नव कुसुमपत्र धारण करके प्रकृति असंख्य रूपोंमें निरन्तर अपनेको सजाती रहती है। सखियाँ मिलकर विविध रागोंसे अनेक प्रकारके सुन्दर गीत गाने लगीं। विरहिणी पथिकसे कहती है कि मैंने पतिका स्मरण करते-करते अति दुस्सह ग्रीष्म बिता दिया, वर्षा बिता दी; शरद, हेमन्त और शिशिर भी किसी-किसी प्रकार काट दिए, किन्तु मेरा पति वसंतमें भी आता नहीं दिखाई देता। एक ओर वसंतका यह प्रभाव है कि भ्रमर काँटोंकी चिन्ता न करके मधुपानमें मत्त हैं। उनके शरीरमें काँटे गड़ जाते हैं किन्तु वे पीड़ा नहीं गिनते। रसलोभी रसके लिए शरीरतक दे देते हैं और पाप-पुण्यकी परवाह नहीं करते, इधर मैं तीव्र विरह-ज्वालासे जलकर आकुल हो रही हूँ। कामदेव गर्जन कर रहा है। मैं दुस्तर और दुस्सह विरहसमुद्रमें सभय पड़ी हूँ किन्तु मेरे पतिको मेरी कोई चिन्ता नहीं है और वह खंभातमें अपने व्यापारमें संलग्न है।[2]

वसंतके पश्चात् ऋतुचक्र पूर्ण हो जाता है और पथिकको जानेकी आज्ञा भी मिल जाती है। पथिकके जाते ही विरहिणीका पति भी समुपस्थित हो जाता है। पीछे 'वर्णरत्नाकर'मेंसे वसन्तवर्णनका उद्धरण दिया गया है। देखनेसे ज्ञात होगा कि लगभग प्रत्येक ऋतुका वर्णन उस पुस्तकमें गिनाई हुई वस्तुओंपर ही आश्रित है। इसका अर्थ यह समझना नहीं उचित होगा कि अद्दहमाणने वर्णरत्नाकर जैसी कोई पुस्तक सामने रखकर ही ऋतुवर्णन किया होगा। तात्पर्य केवल यह है कि उन दिनों कविके मस्तिष्कमें काव्यरूढ़ियोंके विषयमें निश्चित बँधी-बँधाई धारणा रहती थी और वह उन्हींके अनुसार काव्यमें उनका प्रयोग करता था। यही कारण है कि सभी कवियोंके ऋतुवर्णनमें एकरसता मिलती है।

किन्तु जैसा कि अद्दहमाणके विषयमें पहले कहा जा चुका है कि वे प्रतिभा-सम्पन्न सहृदय कवि थे, विरह वर्णन और ऋतुवर्णनमें भी उन्होंने अपनी संवेदना-का पूरा परिचय दिया है। इस विषयमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके निम्नलिखित उद्धृत वाक्य संदेशरासकके ऋतुवर्णनकी विशेषताका सम्यक् परिचय देते हैं—

१. संदेशरासक २।१९७

२. वही २।२०८

'संदेशरासकमें कविने जिस बाह्य प्रकृतिके व्यापारोंका वर्णन किया है वह रासोके समान ही कविप्रथाके अनुसार हैं। उन दिनों ऋतुवर्णनके प्रसंगमें वर्ण्य वस्तुओंकी सूची बन गई थी।...अद्दहमाणके सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्य वस्तुनिरूपक वर्णन बाह्य वस्तुकी ओर पाठकका ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्यके (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) मर्मस्थलकी पीड़ाको अधिक व्यक्त करता है। रासोमें यह बात इस मात्रामें नहीं मिलती। संदेशरासकका पद्य बाह्य वस्तुओंकी सम्पूर्ण चित्र-योजना इस कौशलसे करता है कि उससे विरहिणीके व्यथा-कातर सहानुभूतिसम्पन्न कोमल हृदयकी मर्म-वेदना ही मुखर हो उठती है।'[१]

## उपसंहार

संदेशरासक श्रृंगारप्रधान रासक काव्योंका प्रतिनिधि ग्रन्थ है। प्रतिनिधि ग्रन्थ इसलिए है कि जिन श्रृंगारपरक रासक काव्योंके लिखे जानेकी इस देशमें परम्परा थी उनमेंसे अभीतक केवल सन्देशरासक ही प्राप्त हो सका है। अतएव सन्देशरासकका महत्त्व हम इसी बातसे आँक सकते हैं कि अबतक प्रकाशमें आनेवाले सभी रास काव्योंमें केवल यह ही ऐसा काव्य है जिसे पूर्ण लौकिक काव्य कहा जा सकता है[२]। इस काव्यमें उत्कृष्ट काव्य-कौशल और निश्छल लोकतत्त्वोंका मणिकांचन संयोग है। फलतः संदेशरासक एक ओर जहाँ अपने कालकी भारतीय काव्यगरिमाका परिचायक है वहाँ दूसरी ओर वह जनजीवनकी अकृत्रिम झाँकियाँ भी प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस छोटे-से काव्यमें अद्दहमाणको एक साथ बहुत बातें कहनेका उतना अवकाश नहीं था फिर भी वे नगरवर्णन और ऋतुवर्णनके स्थलोंपर तत्कालीन पश्चिमोत्तर भारतका खासा परिचय दे गये हैं।

संदेशरासकके प्रकाशनके पूर्व अमीर खुसरो (मृ० १३२५ ई०) प्रथम भारतीय मुसलमान कवि माना जाता था किन्तु इस ग्रन्थके प्रकाशनसे यह उद्घाटित हुआ कि भारतीय साहित्यको मुसलमानोंका सक्रिय सहयोग और पहलेसे प्राप्त है। भारतीय साहित्यपरम्परासे अद्दहमाणका इतना प्रगाढ़ परिचय है कि आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है।

भाषाकी दृष्टिसे यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि संदेशरासककी भाषा प्रत्यक्षतः हिन्दीकी पूर्ववर्ती अपभ्रंश है फिर भी हिंदीके बहुत-से रूपोंकी पूर्वावस्थाका आभास हमें इसमें मिल जाता है। विशेष रूपसे परसर्गों, सर्वनामों और वाक्य-

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ८४।
२. Sandesrasak : Introduction, p. 1

गठनकी कई विशेषताओं, कई कारकोंके लिए षष्ठीके व्यवहार तथा संयुक्त पूर्वकालिक प्रयोगमें संदेशरासकी भाषा और हिंदीका सम्बन्ध अत्यन्त निकटका ज्ञात होता है। समासके प्रयोगमें पूर्व नियमोंकी अवहेलनाका बीज भी संदेश-रासकमें दिखलाई पड़ता है। कवियोंके रियायती अधिकारोंके विषयमें हिंदी और संदेशरासककी भाषासे घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है। छंदसौन्दर्यके लिए शब्दोंको तोड़ने-मरोड़नेकी प्रवृत्ति, जिसका परवर्ती कालमें बहुत उपयोग या दुरुपयोग किया गया, संदेशरासककी भाषामें पूर्ण रूपसे विद्यमान है।

परवर्ती हिंदीमें प्रयोग होनेवाले कई छंद संदेशरासकमें ज्योंके त्यों मिल जाते हैं, उनका ढंग भी बिलकुल वही है। परवर्ती कालमें केशव आदि हिन्दी कवियोंमें पग-पगपर छंद बदलनेकी जो प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है वह संदेशरासक जैसे काव्योंकी परम्पराका विकास या अनुकरण ज्ञात होता है। रासक काव्यरूप विवेचनके समय हम देख आए हैं कि रासक काव्योंमें रासक नामक छंद प्रमुख होता था और उसके साथ उसमें कई छंद प्रयुक्त होते थे। इसके अतिरिक्त वे काव्य मसृणोद्धत होते थे अतएव प्रसंगानुसार उपयुक्त छंदोंके द्वारा झनकार उत्पन्न करनेका अवसर कवि नहीं चूकते थे। बल्कि वे काव्यकी गेयता बढ़ानेके लिए भावानुसारी छंदोंका प्रयोग अत्यन्त निपुणताके साथ जान-बूझकर करते थे। पृथ्वीराज रासोके छन्दोंको देखनेसे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। पृथ्वीराज रासो युद्धप्रधान काव्य है। इसलिए उसमें युद्धोचित गड़गड़ाहट उत्पन्न करनेमें समर्थ छप्पय छन्दोंका प्रचुर प्रयोग है। और इसीलिए चन्द "छप्पयोंके राजा" भी हैं।

विरह-प्रधान काव्य होनेके कारण संदेशरासकमें विरहवर्णनकी प्रधानता है। इस विषयमें रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, विरह-वर्णन और ऋतु-वर्णन सबमें हमने देखा कि अद्दहमाणने काव्य परंपराका पालन किया है। मध्यकालीन अधिकांश कवियोंकी भाँति उन्होंने भी प्रायः बहु-व्यवहृत उपमानों और काव्यरूढ़ियोंका उपयोग अपने काव्यमें किया है। किंतु इन परिपाटी-विहित वर्णनोंमें कवित्वकी आत्मा विद्यमान है। नगर-वर्णनके अन्तर्गत 'वनस्पति नामानि सूची' को छोड़कर कहीं भी केवल नाम गिनानेकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। कविने सभी वस्तुओंका वर्णन उनमें अपनी आत्माका रस घोलके किया है। चाहे रूपवर्णन हो या प्रकृतिवर्णन, कवि पाठकको बिंब ग्रहण करानेमें सर्वत्र समर्थ दिखलाई पड़ता है। अद्दहमाणको इस दृष्टिसे मध्यकालीन कवियोंमें एक विशिष्ट स्थानका अधिकारी समझा जाना चाहिए, किंतु संदेशरासककी सबसे बड़ी विशेषता उसकी सर्वजन-सुलभता है। ग्रंथकी प्रस्तावना करते समय ही कवि पंडितम्मन्य लोगोंके प्रति

उपेक्षा दिखाकर अपना लोकवादी पक्ष प्रकट कर देता है। उसने संदेशरासककी रचना साधारणजनोंके लिए की, पंडितों और मूर्खोंके लिए नहीं। इस साधारणजन सुलभताका प्रभाव कविकी भाषा और शैलीपर पड़ना अनिवार्य था। वह किसी बातको घुमा-फिराकर कहनेके चक्करमें नहीं पड़ता। हृदयके गहरेसे गहरे भावोंको वह साधारण ढंगसे व्यक्त करनेमें पटु है। काव्यकी दृष्टिसे संदेशरासक अत्यन्त सरल कहानीवाला संदेशकाव्य है जिसमें सीधी-सादी भाषामें विरहिणीके निश्छल उद्गार व्यक्त किए गए हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने संदेशरासकके पद्योंकी विशेषताको इन शब्दोंमें उद्घाटित किया है।

'संदेशरासकका पद्य बाह्य वस्तुओंकी संपूर्ण चित्रयोजना इस कौशलसे करता है कि उससे विरहिणीके व्यथा-कातर सहानुभूति सम्पन्न कोमल हृदयकी मर्म वेदना ही मुखर हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्यका हो, व्यंजना हृदयकी कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है।[१]'

इस प्रकार आधुनिक भाषाके पूर्वरूपोंसे युक्त, अपभ्रंश रचनाकी दृष्टिसे, मध्यकालीन भारतीय छन्दःशास्त्रके अनेक महत्त्वपूर्ण छंदोंमें रचित होनेसे अपभ्रंश रासक साहित्यका बहुमूल्य प्रतिनिधि और अभीतक प्रकाशित होनेवाले रासकोंमें संभवतः एकमात्र आमुष्मिकता-विरहित काव्य होनेके कारण संदेशरासक विद्वान् और सहृदय पाठकोंका ध्यान अपनी ओर खींचनेमें समर्थ है।

**विश्वनाथ त्रिपाठी**

---

१. हिन्दी साहित्यका आदिकाल : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८४।

संदेश रासक

## प्रथमः प्रक्रमः

रयणायर गिरितरुवराइँ गयणंगणंमि रिक्खाइँ ।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो वुहयण वो सिवं देउ ॥ १ ॥ *
माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहिँ णहमग्गि सूर-ससिबिंबे ।
आएहिँ जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं ॥ २ ॥
पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥ ३ ॥ *
तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु ।
अद्दहमाणपसिद्धो संनेहरासयं रइयं ॥ ४ ॥ *
पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थकुसलाण ।
तियलोए सुच्छंदं जेहिँ कयं जेहि णिद्दिट्ठं ॥ ५ ॥
अवहट्टय-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए ।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिँ ॥ ६ ॥

---

हे बुधजनो ! जिसने आरंभमें समुद्र, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष तथा आकाशरूपी आँगनमें तारों (इत्यादि) सबको सिरजा वह तुम्हें कल्याण दे । १ ।

हे नागरजनो ! उस कर्तारको नमस्कार करो जो मनुष्यों, देवताओं, विद्याधरों और आकाश मार्गपर ( चलनेवाले ) सूर्य चन्द्र बिंबों तथा अन्यों द्वारा नमस्कृत होता है । २ ।

पश्चिममें प्राचीनकालसे अत्यन्त प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है उसी प्रदेशमें 'मीरसेण' नामक तन्तुवाय ( आरद्द ) उत्पन्न हुआ । ३ ।

उसके पुत्र अद्दहमाणने, जो अपने कुलका कमल था और प्राकृत काव्य तथा गीत-विषयमें सुप्रसिद्ध था, संदेश रासककी रचना की । ४ ।

शब्दशास्त्र ( या अर्थसहित शब्द ) में कुशल प्राचीन विदग्धों और कवियोंको मैं नमस्कार करता हूँ, जिनके द्वारा त्रिलोकमें सुन्दर छंद बनाए तथा निर्दिष्ट किए गए । ५ ।

जिन्होंने अपभ्रंश, संस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओंमें कविता की तथा सुन्दर काव्यको लक्षण, छंद, अलंकारसे विभूषित किया । ६ ।

---

* तारांकित पदोंमें मुद्रित प्रतिसे पाठ या अर्थ, अथवा पाठ और अर्थ दोनों भिन्न हैं। उनपर भूमिकामें विशेष विचार किया गया है।

ताणऽणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थरहियाण ।
लक्खणछंदपमुक्कं कुकवित्तं को पसंसेइ ॥ ७ ॥

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए ।
ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं ॥ ८ ॥

जइ परहुएहिँ रडियं सरसं सुमणोहरं च तरुसिहरे ।
ता कि भुवणारूढ़ा मा काया करकरायंतु ॥ ९ ॥

तंतीवायं णिसुयं जइ किरि करपल्लवेहि अइमहुरं ।
ता मद्दलकरडिरवं मा सुम्मउ रामरमणेसु ॥ १० ॥

जइ मयगलु मउ झरए कमलदलब्बहलगंधदुप्पिच्छो ।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चंतु ॥ ११ ॥ ❀

जइ अत्थि पारिजाओ बहुविहगंधड्ढकुसुम आमोओ ।
फुल्लइ सुरिंदभुवणे ता सेसतरू म फुल्लंतु ॥ १२ ॥

जइ अत्थि णई गंगा तियलोए णिच्चपयडियपहावा ।
वच्चइ सायरसमुहा ता सेससरी म वच्चंतु ॥ १३ ॥

---

उन कवियोंके पश्चात् हम जैसे श्रुति शब्द शास्त्र न जाननेवालोंकी लक्षण-छंद-रहित कुकविताकी प्रशंसा कौन करेगा ? । ९ ।

या फिर इसमें कोई दोष नहीं; क्योंकि यदि रातमें चन्द्रमा उदित होता है तो क्या घरमें रातको दीपक नहीं जलाए जाते ? । ८ ।

यदि तरुशिखरों पर बैठकर कोयलें सरस और मनोहर शब्द करती हैं, तो क्या घर (की मुंडेरों) पर बैठकर कौवे न करकरायँ ? । ९ ।

यदि पल्लव जैसे कोमल करों द्वारा बजाई जानेवाली अति मधुर वीणाको लोग सुनते हैं तो क्या साधारण स्त्रियोंके क्रीड़ा-विनोदमें बजनेवाले करट (ढोल) रवको न सुना जाए ? । १० ।

यदि मत्त गज ऐसा मद क्षरण करता है जो कमल दलके गाढ़े रसके समान उत्कट गंधवाला होनेके कारण दुष्प्रेक्ष्य है और यदि वह अत्यन्त राग ( प्रेम, आसक्ति) से मत्त हो उठता है तो क्या अन्य गज मत्त न हों ? । ११ ।

यदि विविध प्रकारके प्रचुर गंधसे युक्त पुष्पोंवाला पारिजात वृक्ष, जो नंदन-काननमें है, फूलता है तो क्या शेष वृक्ष न फूलें ? । १२ ।

तीनों लोकों में जिसका प्रभाव नित्य प्रकटित है, ऐसी गंगा यदि सागरकी ओर बहती है तो क्या दूसरी नदियाँ न बहें ? । १३ ।

जइ सरवरंमि विमले सूरे उइएसु विअसिआ नलिणी।
ता किं वाडिविलग्गा मा विअसउ तुंबिणी कहवि ॥ १४ ॥

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंग चंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चेइ ॥ १५ ॥❀

जइ बहुलदुद्धसंमीलिया य उल्लइ तंदुला खीरी।
ता कणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दडब्बडउ ॥ १६ ॥

जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चउमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु ॥ ॥ १७ ॥❀

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठु,
तुम्हेहिं वि जं न सुउ विअडबंधु सुच्छंदु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ ललियहीणु मुक्खाह फरसउ।
तो दोग्गच्चिय छेअरिहिँ पत्तिहि अलहंतेहिँ।
आसासिज्जइ कह कहिवि सइवत्ती रसिएहिँ ॥ १८ ॥❀

---

यदि सूर्यके उदित होनेपर नलिनी विमल सरोवरमें खिलती है तो क्या बाड़ीमें लगी हुई तूँबी या लौकी न फूले ? । १४ ।

यदि भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट भावों और छंदोंके अनुसार, नव यौवनके सौन्दर्यसे पूर्ण तरुणी नाचती है तो क्या गाँव गहेलरी ताली बजाकर ( या ताली शब्दके साथ ) न नाचे ? । १५ ।

यदि प्रचुर दुग्धमिश्रित चावलकी खीर उबलती है तो कन भूसी सहित रब्बड़ी न दड़बड़ाए ? । १६ ।

जिसके पास जितनी काव्यशक्ति है उसको उसीके अनुसार निस्संकोच होकर कविता करनी चाहिए। चतुर्मुखने कविता की तो क्या अन्य कवि कविता न करें ? । १७ ।

त्रिभुवनमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे आप लोगोंने देखा और सुना न हो। इसके अतिरिक्त विकट-बंध और सरस सुच्छंद सुनकर मुझ मूर्खके लालित्यहीन परुष काव्यको कौन पसंद करेगा ! तो भी दारिद्र्यग्रस्त विदग्धजन जिस प्रकार पात्रके अभावमें शतपत्रिका ( कमल पत्र ) में ही भोजन करके आश्वस्त हो लेते हैं उसी प्रकार मेरी इस कुकविताको भी लोग कभी-कभी पढ़ लेंगे । १८ ।

णिअ कवित्तह विज्ज माहप्पु,
पंडित्त पवित्थरणु मणुयजम्मि कोलिय पयासिउ।
कोऊहलि भासिअउ सरलभाइ संनेहरासउ।
तं जाणवि णिमिसिद्धु खणु बुहयण करवि सणेहु।
पामरजणथूलक्खरिहिं जं रइयउ णिसणेहु॥ १९॥

संपडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु,
तस कहउ विबुह संगहवि हत्थु।
पंडित्तह मुक्खह मुणहि भेउ,
तिहि पुरउ पढिव्वउ ण हु वि एउ॥ २०॥

णहु रहइ बुहह कुकवित्त रेसु,
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु।
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिब्बउ सव्ववार॥ २१॥

अणुराइय रइहरु कामियमणहरु,
मयण महप्पह दीवयरो। ❀
विरहिणिमइरद्धउ सुणहु विसुद्धउ,
रसियह रससंजीवयरो॥ २२॥

---

अपनी कविताकी विद्याके माहात्म्य और प्राण्डित्यको बढ़ानेवाले इस संदेश रासककी रचना, मनुष्यलोक ( जन्म )में कौलिकने कौतूहलवश सरल भावसे की है। यह जानकर हे बुधजनो! आधे क्षणभर स्नेह करके पामरजन द्वारा स्थूल अक्षरोंमें रचित इस काव्यको सुनो। १९।

यदि किसी समर्थ व्यक्तिके हाथमें यह ( पुस्तक ) पड़े और वह इसे पढ़ना चाहे तो उस विद्वान्का हाथ पकड़कर मैं कहता हूँ कि जो पण्डित और मूर्खका भेद करते हैं उनके सामने इसे मत पढ़ो। २०।

पण्डितजनका कुकवितासे सम्बन्ध नहीं रहता और अबुधजनोंका अबुधत्वके कारण, कवितामें प्रवेश ही नहीं होता। इसलिये जो न मूर्ख और न पंडित हैं बल्कि मध्यम कोटिके हैं उनके सामने इसे सर्वदा पढ़ना। २१।

यह संदेश रासक अनुरागियोंका रतिगृह, कामियोंका मन हरनेवाला, मदनके माहात्म्यको प्रकाशित करनेवाला, विरहिणियोंके लिये मकरध्वज और रसिकोंके लिये विशुद्ध रस संजीवक है। इसे सुनो। २२।

अइणेहिण भासिउ रइमइवासिउ,
सवणसकुलियह अमियसरो ।
लइ लिहइ वियक्खणु अत्थह लक्खणु,
सुरइसंगि जु विअड्ढ नरो ॥ २१ ॥

---

इस संदेश रासककी रचना अति स्नेहपूर्वक की गई है, यह प्रेम और शृङ्गार-की भावनाओंसे परिपूर्ण है, कर्णपुटोंमें अमृत सरोवर या अमृतमय स्वरकी भाँति सुखद लगनेवाला है। इसके अर्थ और लक्षणोंको वही विचक्षण अपने भावमें लेख पाता है, हृदयंगम कर पाता है जो सुरति संगमें विदग्ध है ॥ २१ ॥

## द्वितीयः प्रक्रमः

विजयनयरहु कावि वररमणि,
उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्कि, धयरट्ठपउहरि।
दीणाणहिं पहुणिहइ, जलपवाह पवहंति दीहरि।
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिसपवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु॥ २४॥

फुसइ लोयण रुवइ दुक्खत्त,
धम्मिल्लपमुक्कमुह विज्जंभइ अणु अंगु मोडइ।
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह करसाह तोडइ।
इस मुद्धह विलवंतियह महि चलणेहि छिहंतु।
अद्धड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु॥ २५॥ *

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।

---

विजयनगरकी कोई ऐसी सुन्दरी रमणी जो ऊँचे, स्थिर और स्थूल स्तनों-वाली है, जिसकी कटि भिड़के समान पतली है, जिसकी गति हंसके समान है और जिसका मुखमण्डल दीन हो गया है, दीर्घतर अश्रुजल प्रवाह करती हुई पथ निहार रही है। स्वर्णके समान अंगोंवाली उस रमणीका शरीर विरहाग्निसे इस प्रकार श्यामल हो गया है मानों राहु द्वारा चन्द्रमा सम्पूर्ण ग्रस्त कर लिया गया हो। २४।

वह आँखें पोंछ रही है और दुःखसे आर्त होकर रो रही है, उसकी बिथुरी हुई लटें मुखपर छाई हुई हैं, वह जम्हाई लेती है और अपने कोमल अंगोंसे अँगड़ाई लेती है, विरहानलसे संतप्त होनेके कारण वह लम्बी-लम्बी साँसें लेती है और अँगुलियाँ तोड़ती है। इस प्रकार विलाप करती हुई उस मुग्धाने एक पथिक-को जाते हुए देखा जो इतने वेगसे जा रहा था कि मालूम होता था कि वह पृथ्वीको चरणोंसे केवल छू भर रहा है और आधा उड़ा जा रहा है। २५।

उस पथिकको देखकर वह प्रियोत्कंठिता (अपनी स्वाभाविक) मंथर गति छोड़कर सीधे ही उतावलीसे चल पड़ी। उतावलीसे चलनेके कारण उस नायिकाके

तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणरव पसरि ॥ २६ ॥
तं जं मेहल ठवइ गंठि णिटठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय ।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय ॥ २७ ॥
पडि उट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर संझसिय,
तं सिय सच्छ णियंसण मुद्धह विवलसिय ।
तं संवरि अणुसरिय पहियपावयणमण,
फुडवि णित्त कुप्पास विलग्गिय दर सिहण ॥ २८ ॥
छायंती कह कहव सलज्जिर णियकरिहि ।
कणयकलस झंपंती णं इंदीवरिहि ।
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिरगिरवयणि,
कियउ सद्दु सविलासु करुण दीहरनयणि ॥ २९ ॥
ठाहि ठाहि णिमिसद्धु सुथिरु अवहारि मणु,
णिसुणि किंपि जं जंपउँ पहिय पसिज्जि खणु ।

---

चंचल रमण भारसे करधनी छूटकर गिर पड़ी और उसकी किंकिणियोंका स्वर फैल गया । २६ ।

करधनीको उस सुभगाने सुदृढ़ गाँठ बाँधकर ठीक किया ही कि तबतक उसकी स्थूल मुक्ताओंवाली नवीन हार लता टूट गई । ज्यों-त्यों कुछ उठाकर कुछ छोड़कर वह फिर चली ही थी कि पैरोंमें फँसकर रास्तेमें नूपुर छितरा गया ।२७।

जब वह सविलक्षा, सलज्जा और उत्क्षिता विरहिणी गिरकर उठी तो उस मुग्धाका श्वेत और स्वच्छ शिरोवस्त्र हट गया । उसे ठीक करके पथिकके पास पहुँचनेकी इच्छासे वह चली ही थी कि उसकी रेशमी चोली फट गई और स्तन कुछ-कुछ दिखलाई पड़ने लगे । २८ ।

उस लज्जावतीने जैसे-तैसे उन्हें अपने हाथोंसे ढँक लिया मानों इंदीवरोंने स्वर्ण-कलशोंको ढाँप लिया हो । फिर पथिकके पास पहुँचकर दीर्घनयना विरहणीने गद्गद् वाणीसे विलासपूर्वक करुण शब्द किया ( बोली ) । २९ ।

ठहरो ! ठहरो ! आधे क्षणके लिये जो कुछ मैं कहती हूँ उसे सुस्थिर हो और मन लगाकर सुनो, हे पथिक ! क्षण भरके लिये पसीज जाओ अर्थात् दया

एय वयण आयन्नि पहिउ कोऊहलिउ,
नेय णिअत्तउ ता सु कमद्धवि णहु चलिउ ॥ ३० ॥

कुसुमसराउह रूवणिहि विहि णिम्मविय गरिट्ठ ।
तं पिक्खेविणु पहिय णिहि गाहा भणिया अट्ठ ॥ ३१ ॥*

पहिउ भणइ विवि दोहा तसु सु वियड्ढपरि ।
इकु मणि विंभउ थियउ स रूविणि पिक्खि करि ॥ क्षेपक *

कि नु पयावइ अंधलउ अहव वियड्ढलु आहि ।
जिणि एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पइ पाहि ॥ क्षेपक *

अइकुडिल माइपिट्ठुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला ।
किसणत्तणंमि अलया अलिउलमाल व्व रेहंति ॥ ३२ ॥*

रयणीतमविद्दवणो अमियंझरणो सुपुण्णसोमो य ।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिंबं ॥ ३३ ॥

लोयणजुयं च णज्जइ रविंदल दीहरं च राइल्लं ।
पिंडीरकुसुमपुंजं तरुणिकवोला कलिज्जंति ॥ ३४ ॥

---

करो । ये वचन सुनकर पथिक कौतूहलमें पड़ गया, वह न लौटा ही और न आधा कदम भी आगे ही बढ़ा । ३० ।

कामदेवके साक्षात् अस्त्रके समान, रूपकी निधि और स्रष्टाकी उत्कृष्ट कृति उस सुन्दरीको देखकर नेही पथिकने आठ गाथायें पढ़ीं । ३१ ।

उस ( विधि ) के वैदग्ध्यपर उस पथिकने एक दूसरा दोहा भी पढ़ा, क्योंकि उस रूपिणीको देखकर उसके मनमें एक विस्मय था ।

क्या प्रजापति अंधा है अथवा अरसिक ( नपुंसक ? ) है, जिसने इस प्रकारकी स्त्रीका निर्माण करके अपने पास ही नहीं रख ली । (इस दोहाको मन ही मनमें पढ़नेके बाद पथिकने आठ गाथाओंको स्पष्ट स्वरमें पढ़ा )

अत्यन्त कुटिलत्वमें पिशुन जनकी भाँति, विविध तरंगितामें सलिल कल्लोलकी भाँति और कालिमामें अलिकुलमालाकी भाँति अलक शोभित हो रहे हैं । ३२ ।

रात्रिके तमका नाश करनेवाले अमृतस्रावी पूर्णचन्द्रके समान उस रमणीका मुख निष्कलंकतामें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान है । ३३ ।

दीर्घतर रागयुक्त लोचन युगल मानों अरविंद दल हैं, और तरुण कपोल दाड़िमकुसुम पुंजकी भाँति सुन्दर हैं । ३४ ।

कोमल मुणालणलयं अमरसरुपन्न वाहुजुयलं से।
ताणंते करकमलं णज्जइ दोहाइयं पउमं॥ ३५॥
सिहणा सुयण-खला इव थड्ढा निच्चुन्नया य मुहरहिया।
संगमि सुयणसरिच्छा आसासहि वेवि अंगाइँ॥ ३६॥
गिरिणइ समआवत्तं जोइज्जइ णाहिमंडलं गुहिरं।
मज्झं मच्चसुहं भिव तुच्छं तरलग्गइ हरणं॥ ३७॥
जालंधरिथंभजिया उरू रेहंति तासु अइरम्मा।
वट्टा य णाइदीहा सरसा सुमणोहरा जंघा॥ ३८॥
रेहंति पउमराइ व चलणंगुलि फलिहकुट्टि णहपंती।
तुच्छं रोमतरंगं उव्भिन्नं कुसुमनलएसु॥ ३९॥
सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइँ अंगाइँ तीइवि सुसविसेसं।
को कवियगाण दूसइ सिट्ठं विहिणावि पुणरुत्त॥ ४०॥
गाहा तं निसुणेविणु रायमरालगइ,
चलणंगुट्ठि धरत्ति सलज्जिर उल्लिहइ।

---

इसके बाहु अमरसर ( मानसरोवर )में उत्पन्न कोमल मृणाल नालके समान हैं। इन बाहुओंके आखिरी किनारेपर कमलके समान हाथ ऐसे लग रहे हैं मानों द्विधाभूत ( एकके दो कर दिए गए ) पद्म हों। ३५।

दोनों स्तन सुजन और खलकी तरह हैं; स्तब्ध नित्य उन्नत और मुखरहित ( छिद्र रहित ) होनेके कारण खलकी भाँति हैं और मिलने पर ( संगममें ) सुजनकी भाँति वे दोनों ( स्तन ) अङ्गोंको आश्वस्त करते हैं। ३६।

नाभिमण्डल पर्वतीय नदीके आवर्तके समान गम्भीर है और कटि मर्त्य सुखकी भाँति सूक्ष्म है जो तरल गतिका हरण करनेवाली है, अर्थात् जिसके कारण वह तेजीसे चल नहीं पाती है। ३७।

उसके अति रम्य उरु कदली स्तम्भसे बढ़कर हैं। सरस और सुमनोहर जंघायें वृत्ताकार और नातिदीर्घ हैं। ३८।

चरणोंकी उँगलियाँ पद्मराजिकी तरह हैं। नखपंक्ति स्फटिक खंडोंकी भाँति है और कोमल रोम तरंग उद्भिन्न कुसुम नालकी भाँति हैं। ३९।

शैलजा पार्वतीको उत्पन्न करके स्रष्टाने उससे भी कुछ अधिक विशेषताओंके साथ इस नायिकाके अंगोंको प्रकटित किया है। कवियोंको कौन दोष दे सकता है जब स्वयं ब्रह्माने ही पुनरुक्तिकी सृष्टि की। ४०।

इन गाथाओंको सुनकर वह राजमरालगामिनी लज्जावती पैरके अँगूठेसे

तउ पंथिउ कणयंगि तत्थ बोलावियउ,
कहि जाइसि हिव पहिय कहँव तुह आइयउ ॥ ४१ ॥
णयर णामु सामोरु सरोरुहदलनयणि,
णायरजणसंपुन्नु हरिस ससिहरवयणि ।
धवलतुंगपायारिहि तिउरिहि मंडियउ,
णहु दीसइ कुइ मुक्खु सयलु जणु पंडियउ ॥ ४२ ॥
विविहविअक्खण सत्थिहि जइ पवसीइ नरु,
सुम्मइ छंदु मणोहरु पायउ महुरयरु ।
कहव ठाइ चउवेइहिँ वेउ पयासियइ,
कह बहुरुवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥ ४३ ॥
कह व ठाइँ सुदवच्छ कत्थ वर नलचरिउ,
कत्थव विविहविणोइहि भारहु उच्चरिउ ।
कहव ठाइ आसीसिय चाईहिँ दयवरहिँ,
रामायणु अहिणवियइ कत्थवि कयवरिहि ॥ ४४ ॥ ॐ
के आयण्णहिँ वंस वीण काहल मुरउ,
कह पयवण्णणिबद्धउ सुम्मइ गीयरउ ।

---

धरती कुरेदनी लगी । इसके बाद उस कनकांगीने पथिकको बुलाया और पूछा "हे पथिक ! अब तुम कहाँ जाओगे और कहाँसे आ रहे हो ?" । ४१ ।

( पथिक बोला ) कमल दल नयने ! मेरे नगरका नाम साम्बपुर है । शशधर वदने । वह नगर सुखी ( ? ) नागर जनोंसे भरा है और धवल तुंग प्राकारों और त्रिपुरोंसे मण्डित है । वहाँ कोई मूर्ख नहीं दीखता; उस नगरके सभी जन पंडित हैं । ४२ ।

यदि चतुर व्यक्तियोंके साथ नगरमें प्रवेश किया जाय तो मधुरतर मनोहर प्राकृत छन्द सुनाई देते हैं । किसी स्थानपर चारों वेदोंके ज्ञाता वेदकी व्याख्या करते हैं, कहीं विविध रूपोंसे निबद्ध रासक पढ़े जाते हैं । ४३ ।

कहीं सुदवच्छ, कहीं सुंदर नलचरित और कहीं विविध विनोदपूर्वक महाभारतकी कथायें पढ़ी जाती हैं । कहीं त्यागी ब्राह्मण आशीर्वाद देते हैं और कहीं मायावी नट रामायणका अभिनय करते हैं । ४४ ।

कुछ लोग वंशी, वीणा, काहल और मुरज सुनते हैं, कहीं पद वर्ण ( या प्राकृत वर्ण निबद्ध) गीत रव सुना जाता है । कहीं वे लोग जो समर्थ हैं उन

आयण्णहि सुसमत्थ पीणउन्नयथणिय,
चल्लहिं चल्ल करंतिय कत्थवि णट्टणिय ॥ ४५ ॥ ❀

नर अउव्व विभंविय विविहनडनाडइहिँ,
मुच्छिज्जहि पविसंतय वेसावाडइहिँ ।
भमिहि कावि मयविंभल गुरुकरिवरगमणि,
अन्न रयणताडंकिहि परिघोलिर सवणि ॥ ४६ ॥ ❀

अवर कहव णिवडुब्भरघणतुंगत्थणिहिँ,
भरिण मज्झु णहु तुट्टइ ता विंभिउ मणिहिँ ।
कावि केण सम हसइ नियइमइकोइणिहि,
छित्तुच्छताभिच्छ तिरच्छिय लोइणिहि ॥ ४७ ॥ ❀

अवर कावि सुवियक्खिण विहसंतिय विमलि,
णं ससि सूर णिवेसिय रेहइ गंडयलि ।
मयणवट्टु भिअणाहिण कस्सव पंकियउ,
अन्नह भालु ( भारु ) तुरक्कि तिलक आलंकियउ ॥ ४८ ॥

---

पीनोन्नत स्तनी नर्तकियोंके ( गीत ) सुनते हैं जिनका कटिवस्त्र नृत्य करते समय चंचल हो उठता है । ४५ ।

अपूर्व नर विविध नट नर्तकियाँको देखकर विस्मित हो जाते हैं । लोग वेश्या-बाड़ामें प्रवेश करते ही मूर्च्छित हो जाते हैं । विशाल गजके समान मंथर चलनेवाली कोई नर्तकी या वेश्या मदविह्वल होकर घूमती है । किसी अन्यके (कानोंमें पहने हुए ) रत्न ताटंक हिलते हैं । ४६ ।

और कहीं निपट उभरे हुए घनतुंग वक्षस्थलोंवाली सुंदरी भ्रमण कर रही हैं, बड़े स्तनोंके भारसे कमर टूट नहीं जाती यही देखकर मनमें आश्चर्य होता है, किसी व्यक्तिके साथ उन कजरारी तिरछी आँखोंसे, जिनमें बनावटी कोपका भाव है, हँस-हँसकर बात कर रही हैं । ४७ ।

कोई अन्य सुविचक्षणा जब विमल हँसी हँसती है तो उसके कपोल प्रदेश ऐसा लगता है, मानों चन्द्रमें सूर्य प्रविष्ट हो गया है ( यहाँ चन्द्र उसका मुख है और हँसीसे उत्पन्न शोभा सूर्य है । ) किसीका मदनपट्ट मृगनाभिसे चर्चित है, किसीने अपना भाल ( या स्तन भार ? ) तिरछे तिलकसे अलंकृत कर रखा है । ४८ ।

हारु कसवि थूलावलि णिट्ठुर रयणभरि,
लुलइ मग्गु अलहंतउ थणवट्टह सिहरि ।
गुहिर णाहिविवरंतरु कस्सवि कुंडलिउ,
तिवल तरंग पसंगिह रेहइ मंडलिउ ॥ ४९ ॥

रमणभारु गुरुवियडउ का कट्ठहि धरइ,
अइ मल्हिरउ चमक्कउ तुरियउ णहु सरइ ।
जंपंती महुरक्खर कस्सव कामिणिहिँ,
हीरपंतिसारिच्छ डसण झसुरारुणिहिँ ॥ ५० ॥॰

अवर कहव वरमुद्ध हसंतिय अहरयलु,
सोहालउ कर कमलु सरलु बाहह जुयलु ।
अन्नह तरुणि करंगुलि णह उज्जल विमल,
अवर कवोल कलिज्जहि दाडिमकुसुमदल ॥ ५१ ॥

भमहजुयल सन्नद्धउ कस्सव भाइयइ,
णाइ कोइ कोयंडु अणंगि चडाइयइ ।
इक्कह णेवर जुयलह सुम्मइ रउ घणउ,
अन्नह रयणनिबद्धउ मेहल रुणझुणउ ॥ ५२ ॥

---

किसीका मजबूत और स्थूल मुक्ताओं वाला हार मार्ग न पानेके कारण स्तनपट्टके शिखरपर लोटता है, किसीका गम्भीर नाभिविवर कुण्डलाकार है और त्रिवली तरंगोंसे मण्डलित है । ४९ ।

कोई रमणी गुरुविकट रमण भार ( नितम्ब ) को अत्यन्त कष्टसे धारण कर रही है, जिससे उसकी गतिमें विस्मयकारक या आश्चर्यजनक लीलायित गति आ गई है । वह शीघ्रतासे चल नहीं पाती । मधुर अक्षर बोलती हुई किसी कामिनीके हीरपंक्ति सदृश दाँत पान खानेके कारण आरक्त दिखाई पड़ते हैं । ५० ।

हँसती हुई किसी दूसरी वर मुग्धाके अधर दल, कर कमल और सरल बाहु युगल शोभित होते हैं । अन्य तरुणीके हाथोंकी अँगुलियोंके नख उज्ज्वल और विमल हैं, दूसरीके कपोल दाड़िम कुसुम दलके समान लग रहे हैं । ५१ ।

किसीके सन्नद्ध भ्रूयुगल ( चढ़ी हुई भौंहें ) ऐसे भाते हैं मानों अनंगने कोप करके धनुष चढ़ाया हो । एककी नूपुरोंका घनरव सुनाई पड़ता है तो दूसरीकी रत्ननिबद्ध मेखलाकी रुनझुन । ५२ ।

चिक्कणरउ चंवाइहिँ लीलंतिय पवरु,
णवसर आगमि णज्जइ सारसि रसिउ सरु ।
पंचमु कइव झुणंतिय झीणउ महुरयरु,
णायं तुंबरि सज्जिउ सुरपिक्खणइ सरु ॥ ५३ ॥

इम इक्किक्कह तत्थ रूवु जोयंतयह,
झसुर पिंकि पय खलहि पहिहि पवहंतयह ।
अह बाहिरि परिभमणि कोइ जइ नीसरइ,
पिक्खि विविह उज्जाणु भुवणु तह वीसरइ ॥ ५४ ॥

अथ वनस्पति नामानि—

ढल्ल[1] कुंद[2] सयवत्तिय[3] कत्थव रत्तबल[4],
कइव ठाइ वर मालइ[5] मालिय[6] तह विमल ।
जूही[7] खट्टण[8] वालू[9] चंवा[10] वउल[11] घण,
केवइ[12] तह कंदुट्टय[13] अणुरत्ता सयण ॥ ५५ ॥

माउलिंग[14] मालूर[15] मोय मायंद[16] मुर[17],
दक्ख[18] भंभ[19] ईखोड[20] पीण आरु[21] सियर[22] ।
तरुण ताल[23] तंमाल[24] तरुण तुंबर[25] खयर[26],
संजिय[27] सइवत्तिय[28] सिरीस[29] सीसम[30] सयर[31] ॥५६॥

---

लीला पूर्वक चलती हुई किसी रमणीके चमड़ेके जूतोंसे सुन्दर मधुर शब्द होता है जैसे नव-शरदके आगमनपर सारस शब्द करते हों । कोई अन्य रमणी जब झानी ( कोमल ) मधुर पंचम ध्वनि करती है तो मालूम होता है कि तुम्बरने देवताओंके सम्मुख अपना स्वर सजाया है । ५३ ।

इस प्रकार वहाँ एक-एकका रूप देखते हुए पथिकके पैर पानकी वहती हुई पीकमें फिसल जाते हैं । इसके बाद यदि कोई घूमनेके लिये बाहर निकलता है तो विविध उद्यानोंको देखकर सारा संसार भूल जाता है । ५४ ।

१. (?) २. कुन्द, ३. शतपत्रिका, ४. रक्तोत्पल, ५. मालती, ६. मल्लिका (बेला), ७. जुही, ८. (?), ९. एलवालु, दालचीनी १०. चम्पा, ११. बकुल, १२. केतकी, १३. नीलकमल, १४. मातुलिंग, १५. मालूर, १६. माकन्द, १७. मुर, १८. द्राक्षा, १९. मंभ, २०. अखरोट, २१. आरू, अरवी, २२. शतावरि, २३. ताल, २४. तमाल, २५. तूमड़ा, लौकी, २६. खदिर, खैर, २७. संजीविनी २८. शतपत्रिका, २९. शिरीष, ३०. शीशम, ३१. सकल, सब ।

पिप्पल[१] पाडल[२] तुय[३] पलास[४] घणसार[५] वण,
मणहर तुज्ज[६] हिरन्न[७] मुज्ज[८] धय[९] वंसवण[१०] ।
नालिएर[११] निंबोय[१२] निंबिजिय[१३] निंब[१४] वड[१५],
ढक्क[१६] चूय[१७] अँबिलिय[१८] कणय[१९] चंदण[२०] निवड ॥ ५७ ॥

आमरुय[२१] गुल्लर[२२] महूय[२३] आमलि[२४] अभय[२५] ।
नायवेलि[२६] मंजिट्ठ[२७] पसरि दह दिसह गय ॥ ५८ ॥

मंदार[२८] जाइ तह सिंदुवार[२९],
महमहइ सुवालउ[३०] अतिहि फार ।
किंकिल्लि[३१] कुंज[३२] कुंकुम[३३] कवोल[३४],
सुरयार[३५] सरल सल्लइ[३६] सलोल ।
वायंब[३७] निंव[३८] निंबू[३९] चिनार[४०],
सिमि[४१] साय[४२] सरल सिय देवदार[४३] ॥५९

लेसूड[४४] एल[४५] लंबिय[४६] लवंग,[४७]
कणयार[४८] कइर[४९] कुरब्रय[५०] खतंग[५१]
अंबिलिय[५२] कयंब[५३] बिभीय[५४] चोय[५५],
रत्तंजण[५६] जंवुय[५७] गुरु असोय[५८] ॥ ६० ॥

जंबीर[५९] सुहंजण[६०] नायरंग[६१],
विज्ज[६२]उरिय अयरूय[६३] पीय रंग ।

---

१. पीपल, २. पाटल, ३. पुज, ४. पलाश, ५. घनसार, ६. तूज, ७. धतूरा, ८. भूर्ज ९. धाय, १०. बाँसका वन, ११. नारियल, १२. (?) १३. नेउंजी, १४. नीम, १५. बरगद, १६. ढाक, १७. आम, १८. आमला, १९. धतूरा, २०. चन्दन, २१. आमड़ा, आम्रातक, २२. गूलर, २३. मधूक, महुआ, २४. इमली, २५. अभया, हरीतिकी, २६. नागबेलि, २७. मँजीठ, २८. मंदार, २९. सिधुँवार, ३०. वालू, दाल चीनी ? ३१. कंकेलि, ३२. कुंज, ३३. कुंकुम, ३४. कपित्थ, कद्वेल, ३५. देवदारु, ३६. सल्लकी, ३७. वायविडंग, ३८. नीम, ३९. नींबू, ४०. चिनार, ४१. शमी, ४२. शाक, ४३. देवदार, ४४. लसोढ़ा, ४५. इलाइची, ४६. लम्बी ? ४७. लंवग, ४८. कनेर, ४९. कैर, ५०. कुरबक, ५१. खतंग ?, ५२. अमिया, ५३. कदम्ब, ५४. विभीतिका, ५५. चोवा, ५६. रक्तांजन, ५७. जामुन, ५८. अशोक, ५९. जम्भीर, ६०. सहजन, सुरवाञ्जन, ६१. नारंगी, ६२. बीजौरा नींबू, ६३. अगरु ।

नंदण जिमि सोहइ रत्तसाल[1],
जिह पल्लव दीसइ जणु पवाल ॥ ६१ ॥
आरिठ्ठिय[2] दमणय[3] गिद[4] चीड़[5],
जिह आलइ दीसइ सउणि भीड ।
खज्जूरि[6] वेरि[7] भाहण[8] सयाइं,
वोहेय[9] डवण[10] तुलसीयलाइं[11] ॥ ६२ ॥
नाएसरि मोडिम पूगमाल ।
महमहइ छम्म मरुअइ विसाल ॥ ६३ ॥
अन्नय सेस महीरुह अत्थि जि ससिवयणि,
मुणइ णामु तह कवणु सरोरुहदलनयणि ।
अह सव्वइ संखेविणु निवड निरंतरिण,
जोयण दस गंमिज्जइ तरुछायंतरिण ॥ ६४ ॥
पुरउ सवित्थरु वन्नउ अद्धउ जइवि ( नवि ? )
करि अज्जु गमणु महु भगा धू अत्थवइ रवि ॥ क्षेपक॰
तवण तित्थु चउदिसिह मियच्छि बखाणियइ,
मूलथाणु सुपसिद्धउ महियलि जाणियइ ।
तिहु हुंतउ हउँ इक्कणि लेहउपेसियउ,
खंभाइत्तिहि वच्चउँ पहु आएसियउ ॥ ६५ ॥ ॰

---

१. रक्तशाल, २. अरिष्टिका, ३. दमनक, दौना, ४. गेंदा, ५. चीड़, ६. खजूर, ७. बेर, ८. बगरेण ?, ९. बहेड़ा, १०. दमनक, दौना, ११. तुलसीदल ।

हे शशवदने ! जो शेष अन्य वृक्ष हैं, उनका नाम हे कमलदल नयने ! कौन जानता है ? संक्षेपमें यही समझो कि इन सब वृक्षोंकी निविड़ निरंतर छायामें दस योजन तक जाया जा सकता है । ६४ ।

पुरका मैंने सविस्तार वर्णन किया यद्यपि वह ( वर्णन ) आधा भी नहीं हुआ । ( विरहिणी बोली ) हे पथिकः आज गमन करके भागो नहीं, रवि निश्चित रूससे अस्तमित हो रहा है ।

हे मृगाक्षि ! तपन तीर्थ चारों दिशाओं में विख्यात है । सम्पूर्ण पृथ्वीपर लोग उसे सुप्रसिद्ध मूलस्थान के नामसे जानते हैं । वहाँसे मैं गोपनीय लेखका उपदेश ग्रहण करके अर्थात् गोपनीय लेखके संकेतको समझकर और उसे लेकर प्रभुसे आदेशित होकर खम्भात जा रहा हूँ । ६५ ।

एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भववयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलुब्भवनयणि।
तोड़ि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु,
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरिय चिरु ॥ ६६ ॥
रुइवि खणद्धु वि फुसवि नयण पुण वज्जरिउ,
खंभाइत्तिहि णामि पहिय तणु जज्जरिउ।
तहँ मह अच्छइ णाहु विरहउल्हावयरु,
अहिय कालु गम्मियउ ण आयउ णिद्दयरु ॥ ६७ ॥
पउ मोडवि निमिसिद्धु पहिय जइ दय करहि,
कहउँ किंपि संदेसउ पिय तुच्छक्खरहि।
पहिउ भणइ कणयंगि कहह किं रुन्नयणि,
किं झिज्झहि दिण रयणि उव्विण्णियमियनयणि ॥ ६८ ॥
जसु णिग्गामि रेणुक्करडि कइअ ण विरहदवेण।
किम दिज्जइ संदेसडउ तसु णिट्ठुरइ मणेण ॥ ६९ ॥
पाणी तणइ विओइ कादमि ही फाटइ हियउ।
जइ इम माणसु होइ नेहु त साचउ जाणियइ ॥ क्षेपक

---

वह चन्द्रमुखी, कमलाक्षी मुग्धा ये वचन सुनकर दीर्घोष्ण श्वास लेती हुई हाथकी उँगुलियाँ तोड़कर करुण गद्‌गद् शब्द करती हुई वायु-प्रताड़ित कदलीकी भाँति देरतक थरहराती रही। ६६।

क्षणार्द्ध रोकर और नयनोंको पोंछकर फिर बोली हे पथिक! खम्भातका नाम सुनकर शरीर जर्जर हो गया। वहाँ विरहका विध्मापक ( विरहाग्निको धौंक कर प्रज्वलित करनेवाला ) मेरा पति है। अधिक काल बीत गया किंतु वह निर्दय नहीं आया। ६७।

हे पथिक! यदि आधेक्षण पैर मोड़कर अर्थात् बैठकर दया करो तो प्रियको थोड़े अक्षरोंमें मैं कुछ संदेश कहूँ। पथिक कहता है कि हे कनकांगि! कहो, रोनेसे क्या ( लाभ )। उद्विग्न मृग नेत्रे! तुम दिन रात क्षीण क्यों होती जाती हो?। ६८।

( विरहिणी बोली ) जिसने प्रियके चले जानेपर विरहकी आगसे मुझे ख़ाक नहीं कर दिया उस निठुर मनसे कैसे संदेश दें। ६९।

पानीसे वियोग होनेपर कीचड़का हृदय फट जाता है, यदि ऐसा मनुष्य हो तब नेह सच्चा जानिए।

कंतु कहिव्वउ भंति विणु धू पंथिय जाणाइँ।
अज्जवि जीविउ कंत विणु तिणि संदेसइ काइँ॥ क्षेपक

जसु पवसंत ण पवसिया मुइअ वियोइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंती पहिय पियासु॥ ७० ॥

लज्जवि पंथिय जइ रहउँ हियउ न न धरणउ जाइ।
गाह पढ़िज्जसि इक्क पिय कर लेविणु मन्नाइ॥ ७१ ॥

तुह विरहपहरसंचूरिआइँ विहडंति जं न अंगाइँ।
तं अज्ज-कल्ल-सघंडण-ओसहे (आसहे ?) णाह तग्गंति॥७२ ॥❀

ऊसासडउ न मिल्हिवउँ दज्झण अंग भएण।
जिम हउँ मुक्की वल्लहइ तिम सो मुक्कु जमेण॥ ७३ ॥❀

कहवि गाह इह पंथिय मण्णाएवि पिउ।
दोहा पंच कहिज्जसु गुरुविणएण सउ॥ ७४ ॥

पिअविरहानलसंतविअ जइ वच्चउ सुर लोइ।
तुह छड्डिवि हियअट्ठियह तं परिवाडि ण होइ॥ ७५ ॥❀

---

हे पथिक ! मैं निश्चित जानती हूँ कि प्रेम ( भंति ) के बिना ( प्रियको ) 'कंत' कहना ( उचित नहीं है )। जो आज भी कंतके बिना जीवित है उसके संदेश देनेसे क्या ?।

जिसके प्रवास करते समय मैंने भी प्रवास नहीं किया, जिसके वियोगमें मैं मरी नहीं, पथिक ! उस प्रियको संदेश देते हुए लज्जा आती है। ७०।

पथिक ! यदि लज्जा करके रह जाऊँ ( संदेश न दूँ ) तो हृदय नहीं धारण किया जाता। हाथ पकड़के मनाकर प्रियसे एक गाथा कहना। ७१।

हे नाथ ! तुम्हारे विरहके प्रहारसे संचूर्णित अंग यदि टूटकर अलग नहीं हो जाते तो उसका कारण यह है कि आज या कल मिलनेकी आशाकी औषध उन्हें टूटकर गिरने नहीं देती। ७२।

अंगोंके दहनके भयसे मैं उच्छ्वास नहीं छोड़ती। जैसे मैं प्रिय द्वारा छोड़ दी गई हूँ वैसे ही वह ( साँस ) भी यमराजसे छोड़ दिया गया है। ७३।

पथिक ! यह गाथा कहकर और प्रियको मनाकर अत्यन्त विनयके साथ पाँच दोहे कहना। ७४।

प्रिय ! तुम्हें हृदयस्थित छोड़कर यदि तुम्हारी विरहाग्निसे संतप्त होकर सुर-लोक चली जाऊँ तो यह ( शिष्ट जनकी ) परिपाटी नहीं होगी। ७५।

कंत जु तइँ हिअयट्ठियइ विरह विडंबइ काउ ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ परपरिहव संताउ ॥ ७६ ॥

गरुअउ परिहसु किन सहउ पइ पउरिसुनिलए ण ।
जिहि अंगिहि तूँ विलसयउ ते दद्धा विरहेण ॥ ७७ ॥*

विरह परिग्गह छावडइ पहराविउ निरविक्खि ।
तुट्टी देह ण हुउ हियउ तुय संमाणिय पिक्खि ॥ ७८ ॥*

मह ण समत्थिम विरह सउ ता अच्छउँ विलवंति ।
पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति ॥ ७९ ॥*

संदेसडउ सवित्थरउ हउँ कहणहँ असमत्थ ।
भण पिय इक्कति बलियडइ बेवि समाणा हत्थ ॥ ८० ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।
जो कालंगुलि मूँदडउ सो बाँहडी समाइ ॥ ८१ ॥

तुरिय णियगमणु इच्छंतु तत्तक्खणे,
दोहया सुणवि साहेइ सुवियक्खणे ।

---

कंत ! हृदयमें तुम्हारे स्थित होते हुए भी विरह कायाको कष्ट देता है । सत्पुरुषोंको दूसरोंसे पराभवका संताप मरणसे भी अधिक होता है । ७६ ।

पौरुष निलय तुम्हारे रहते हुए क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ ( अर्थात् सह रही हूँ ) कि जिन अंगोंसे तुमने विलास किया था उन्हें विरहने जला दिया । ७७ ।

विरहके चपेटोंसे शरीरपर निरपेक्ष प्रहार हुआ है, उससे देह तो टूट गई है, परन्तु हृदयको तुमसे सम्मानित देखकर वह ( विरह ) उसे ( हृदयको ) घायल नहीं कर सका । ७८ ।

विरहके सामने मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है, इसलिये मैं रोती रहती हूँ । पालन करनेवाली धाय ( पाली ) तो केवल रो सकती है, धन्या ( दुल्हन ) तो पतिके द्वारा ही ले जाई जाती है । ७९ ।

संदेश सविस्तर है और मैं कहनेमें असमर्थ हूँ । प्रियसे कहना कि ( विरह जन्य दुर्बलताके कारण ) एक ही वलयमें दोनों हाथ समा जाते हैं । ८० ।

संदेश सविस्तर है किन्तु मुझसे कहा नहीं जाता जो कनिष्ठिका उँगुलीकी मुँदरी थी उसमें मेरी बाँह समा जाती है । ८१ ।

उसी क्षण अपने शीघ्र गमनकी इच्छा करते हुए पथिकने दोहोंको सुनकर

कहसु अह अहिउ जं किंपि जंपिव्वउ,
मग्गु अइदुग्गु मइ मुंधि जाइव्वउ ॥ ८२ ॥
वयण णिसुणेवि मणमत्थसरवट्टिया,
मयउसरमुक्क णं हरिणि उत्तट्ठिया ।
मुक्क दीउन्ह नीसास उससंतिया,
पढिय इय गाह णियणयणि वरसंतिया ॥ ८३ ॥
अणियत्तखलं जलवरिहगेण लज्जंति नयण नहु धिट्ठा ।
खंडववणजलणं विय विरहग्गी तवइ अहिययरं ॥ ८४ ॥ ❀
पढवि इय गाह भियनयण उव्विन्निया,
भणइ पहियस्स अइकरुणदुक्खिन्निया ।
कढिण नीसास रइआससुहविग्घिणे,
विन्नि चउपइय पभणिज्ज तसु निग्घिणे ॥ ८५ ॥
तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ,
तहि खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ ।

---

कहा कि हे सुविचक्षणे ! अब और भी जो कुछ कहना है कह डालो; हे मुग्धे ! मुझे जिस मार्गसे जाना है, वह अत्यन्त दुर्गम है । ८२ ।

ये वचन सुनकर वह कामदेवके बाणोंसे विद्ध ( व्याप्त ) हो गई, जैसे शिकारीके छोड़े वाणसे हिरणी उद्त्रस्त हो गई हो । दीर्घोष्ण श्वास छोड़कर उच्छ्वास लेती हुई और अपने नेत्रोंसे ( आँसुओंकी ) वर्षा करती हुई उसने यह गाथा पढ़ी । ८३ ।

मेरे धृष्ट नेत्र, जिसका गिरना कभी निवृत्त नहीं होता, ऐसी जलवर्षा करनेसे कभी लज्जित नहीं होते, यद्यपि विरहाग्नि इस वर्षासे बुझती नहीं है बल्कि खाण्डव बनमें लगी हुई अग्निके समान और तेज जलती है । ८४ ।

यह गाथा पढ़कर अति करुण दशावाली, दुःखिनी, उद्विग्न मृगोंकी जैसे नेत्रोंवाली विरहिंणीने कठिन निःश्वास लेकर पथिकसे कहा कि रतिकी आशाके सुखमें विघ्न डालनेवाले उस निर्दयसे दो चउपइय कहना । ८५ ।

हे कापालिक ! तुम्हारे विरहने विरहिणीको कापालिनी बना दिया है । तुम्हारा स्मरण करती हुई मैं मोहकी विषम समाधि में स्थित रहती हूँ, जिस प्रकार कापालिकके हाथमें हमेशा कपाल रहता है, उसी प्रकार मेरे बाएँ करपर स्थित मेरा सर क्षणभरके भी लिये नहीं हटता । कापालिक क्षणभरके लिये भी सिद्धासन और खट्वांग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार मैं भी शय्यासन और खाटका

सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय ॥ ८६ ॥❀
ल्हसिउ अंसु उद्धसिउ अंगु विलुलिय अलय,
हुय उव्विंबिर वयण खलिय विवरीय गय ।
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणावरिय,
हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय ॥ ८७ ॥
तुहु पुण कज्जिहि आवलउ लिहिवि न सक्कउ लेहु ।
दोहा गाह कहिज्ज पिय पंथिय करिवि सणेहु ॥ ८८ ॥
पाइय पिय बडवानलहु विरहग्गिहि उप्पत्ति
जं सित्तउ थोरंसुयहि जलइ पडिल्ली झत्ति ॥ ८९ ॥
सोसिज्जंत विवज्जइ सासे दीउण्हएहि पसयच्छी ।
निवडंत बाहभर लोयणाइ धू जइ ण सिंचंति ॥ ९० ॥ ❀
पहिउ भणइ पडिउंजि जाउ ससिहरवयणि,
अहवा किवि कहणिज्ज सु कहु महु मियनयणि ।
कहउ पहिय किण कहउ कहिसु किं कहिययण,
जिण किय एह अवत्थ णेह-रइ-रहिययण ॥ ९१ ॥

---

पावा कभी नहीं त्यागती ( हमेशा खाटपर एक किनारे पड़ी रहती हूँ ) । ८६ ।

मेरे तेजका ह्रास हो गया है, अंग धँस गये हैं, केश छिटके हैं, मुख मण्डल फीका पड़ गया है, गति स्खलित और विपरीत हो गई है, कुंकुम और स्वर्णके समान देह की कांति काली हो गई है । हे निशाचर ! तुम्हारे विरहमें मुग्धा मैं निशाचरी हो गई हूँ । ८७ ।

तुम कार्यके लिये आकुल हो और मैं लेख ( पत्र ) लिख नहीं सकती । पथिक ! स्नेह करके प्रियसे दो गाथा कह देना । ८८ ।

हे प्रिय ! विरहाग्निने बड़वानलसे उत्पत्ति पाई है जो स्थूल आँसुओसे सिक्त होते रहनेपर भी तीव्रतासे जलती रहती है । ८९ ।

वह प्रसृताक्षी दीर्घ उष्ण श्वासों द्वारा सुखाई जाती हुई मर जाती यदि लोचनोंसे निरन्तर झड़नेवाली अश्रुधारा उसे निश्चित रूपसे न सींचती रहती । ९० ।

पथिक कहता है कि हे शशधर वदने । मुझे विदा दो जिससे मैं जाऊँ, अथवा हे मृगनयने ! जो कुछ भी कहना हो वह मुझसे कहो । ( विरहिणीने कहा कि ) हे पथिक ! कहूँ कि न कहूँ । तुम्हीं कहो स्नेह और प्रेमसे रहित जिस प्रियने यह अवस्था कर दी उससे कहनेसे क्या ( लाभ ) ? । ९१ ।

जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिया,
अत्थलोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्हिया ।
संदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थु तह डोमिलउ ॥ ९२ ॥

तइया निवडंत णिवेसियाइँ संगमइ जत्थ णहु हारो ।
इन्हि सायर-सरिया-गिरि-तरु दुग्गाइँ अंतरिया ॥ ९३ ॥

णिय दइयह उक्कंखिरि किवि विरहाउलिय,
पिय आसंगि पहुत्तिय संगम्म बाउलिय ।
ते पावहिँ सुविणंतरि धन्ना तणु फरसु,
आलिंगणु अवलोयणु चुंवणु सुरयरसु ।
इम कहिय पहिय तसु णिद्दयह जइय कालि पवसियउ तुहु ।
तसु लइ मइ तगि णिंद णहु को पुणु सुविणइ संगसुहु ॥ ९४ ॥ ❀

पियविरहविओए संगमसोए दिवसरयणि झूरंत मणे,
णिरु अंगु सुसंतह वाह फुसंतह अप्पह णिद्दय किंपि भणे ।

---

जिसके द्वारा मैं विरहके कुहरमें इस प्रकार डाल दी गई हूँ, जिस अकृतार्थ-ने अर्थ लोभवश मुझे अकेली छोड़ दिया है ( उससे कहनेसे क्या )। मेरा संदेश सविस्तर है, तुम उतावले हो। पथिक ! प्रियसे गाहा, वत्थु तथा डोमिलक कहना। ९२।

उस समय संयोगकी अवस्थामें निबिड़ आलिंगनके अवसरपर ( हमारे बीच ) हारका भी अन्तर नहीं रहने पाता था, अब सागर, सरिता, पर्वत, वृक्ष और दुर्गोंका अन्तर पड़ गया है। ९३।

अपने पतिसे मिलनेकी उत्कंठामें विरहाकुलितायें प्रियके शयन कक्षमें पहुँच-कर उनके संगमके लिये बावली ( हो जाती हैं ) और वे धन्यायें स्वप्नमें प्रियके शरीर का स्पर्श और आलिंगन, अवलोकन, चुंबन और सुरति-रस पाती हैं। उस निर्दय से हे पथिक। यह कहना कि जिस दिन से तुम गए हो उसी समयसे मुझे नींद ही नहीं ( आती है ) फिर स्वप्न में संग-सुख कौन पाए अर्थात् नींद न आने के कारण मुझे स्वप्न में भी तुम्हारा संग-सुख नहीं मिलता। ९४।

हे निर्दय ! प्रिय विरहजन्य वियोगसे संगमके सोचसे दिन रात चिंतित रहनेवाले मन से अपने आपके बारेमें ( जिसके अंग निरंतर सूखते जा रहे हैं, जिसे आँसू पोछते रहना पड़ता है ) मैं कुछ भी क्यों न कहूँ ( उससे क्या लाभ है ! ) ( परंतु चिंता है ) उस प्रियके 'रूप' नामक वस्तु की- जिसे प्रियने

तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय मोहवसण बोलंत खणे,
मह सामिय वक्खरु हरि गउ तक्खरु जाउँ सरणि कसु पहिय भणे ॥ ९५॥ ❀

इहु डोमिलउ भणेविणु निसि तमहरवयणि,
हुइय णिमिस णिप्फंद सरोरुहदलनयणि ।
णहु किंहु कहइ ण पिक्खइ जं पइ अवरु जणु,
चित्तु भित्ति णं लिहिउ मुंध सच्चविय खणु ९६ ॥

ओसासंभमरुद्धसास ओरुन्नमुह,
वम्महसरपडिभिन्न सरवि पिय संगसुह ।
दर तिरच्छि तरलच्छि पहिउ जं जोइयउ,
णं गुणसद्द उतट्ठि कुरंगि पलोइयउ ॥ ९७ ॥

पहिउ भणइ थिरु होहि धीर आसासि खणु,
लइवि वरक्किय ससि सउन्नु फुंसहि वयणु ।
तस्स वयणु आइन्नि विरहभरभज्जरिय,
लइ अंचलु मुहु पुंछिउ तहव सलज्जरिय ॥ ९८ ॥

---

अपने सुंदर शरीर से ( सतनु-निवेशित ) लगाया, प्रीति पूर्वक निहारा ( भावेन प्रेक्षित ) वह 'रूप' वस्तु (उपस्कर ) विरह रूपी चोर उस समय चुरा ले गया जब मैं मोहबस ( बेहोशीकी हालतमें, समब बिता रही थी । हाय ! लुटी हुई ( प्रहता ) अब मैं किसकी शरण जाऊँ । ९५ ।

यह डोमिलक कहकर वह चन्द्रवदनी-कमलदलनयना, क्षण भरके लिये निस्पंद होगई । वह न कुछ कहती है, न देखती है, मानों वह कोई और ही जन हो क्षण भरके लिये भित्तिमें लिखित चित्रकी उपमाको उसने सत्य कर दिया । ९६ ।

उच्छ्वास और संभ्रमसे उसका गला रुँध गया । रोती हुई मुखवाली, कामदेवके बाणोंसे प्रतिभिन्न प्रियके संयोगकालीन सुखोंका स्मरण करती हुई उस विरहिणीने किञ्चित् तिरछी चंचल आँखोंसे पथिककी ओर इस प्रकार देखा मानों धन्वाकी डोरीका शब्द सुनकर त्रस्त हिरणीने देखा हो । ९७ ।

पथिक विरहिणीसे कहता है कि स्थिर हो, धीरज धरो, क्षणभरके लिये आश्वस्त हो, वस्त्रसे सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान अपना मुख पोंछ डालो । उसकी बात सुनकर विरहके भारसे टूटी हुई उस लज्जावतीने आँचलसे अपना मुँह पोंछ डाला । ९८ ।

पहिय ण सिज्झइ किरि बल सह कंदप्प सउ,
रत्तउ जं च विरत्तउ निद्दोसे य पिउ ।
णेय सुणिय परवेयण निन्नेहह चलह,
मालिणिवित्त कहिज्जइ इक्कइ तह खलह ॥ ९९ ॥
जइ विरइ विरामे णट्ठसोहो मुणंती,
सुहउ तइय राओ उग्गिलंतो सिणेहो ।
भरवि नवयरंगे इक्कु कुंभो (इक्कि कुंभे ?) धरंती,
हियउ तह पडिल्लो बोलियंतो विरत्तो ॥ १०० ॥

जइ अंबरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहह होइ अंग अब्भंगियइ ।
अह हारिज्जइ दविणु जिणिवि पुणु भिट्टियइ,
पियह विरत्तउ हियउ पहिय किम वट्टियइ ॥ १०१ ॥
पहिउ भणइ पसयच्छि धीरि मणु पंथि धरु,
संवरि णिरु लोयणह वहंतउ नीरुभरु ।
पावासुय बहुकज्जि गमहि तहि परिभमहि,
अकियइ णियइ पओयणि सुन्दरि ! णहु वलहि ॥ १०२ ॥

---

( विरहिणी कहती है ) हे पथिक ! कामदेवके सामने मेरा बल नहीं सधता। बिना किसी दोषके अनुरक्त प्रिय विरक्त हो गया । उस स्नेहहीनने चलते हुए मेरी वेदना नहीं सुनी । उस खलसे एक मालिनीवृत्त कहना । ९९ ।

यदि विरह और विरतिकी अवस्थामें मैं ( अपने हृदयको ) नष्टसौख्य मानती अर्थात् यदि मैं समझती कि मेरे हृदयका सुख नष्ट हो जाएगा तो उस समय सुखको उगलता हुआ जो राग और स्नेह था उसे किसी कुसुम्भी रंगके एक घड़ेमें भरकर रख लेती और वह अपने रागहीन ( विरक्त ) हृदयको उसमें डालकर डुबो लेता । १०० ।

यदि वस्त्र रंगको छोड़ दे तो उसे फिर रंग लिया जाए, यदि अंग स्नेहहीन ( रूखा ) हो जाए तो तैलाभ्यंग ( मालिश ) करके उसे चिकना बना लिया जाए, द्रव्य जुयेमें हार जाइए तो जीतकर उसे पुनः प्राप्त कर लिया जाए किन्तु प्रियका विरक्त हृदय किस प्रकार लौटाया जाए । १०१ ।

पथिक कहता है कि हे प्रसृताक्षि ! धैर्य धरो, मनको रास्तेपर लाओ लोचनों-से निरन्तर बहते हुए नीर भारका संवरण करो, प्रवासी विविध कार्योंसे जाते हैं और उनके पूर्त्यर्थ घूमते रहते हैं । हे सुन्दरी ! वे अपने प्रयोजनको बिना ( पूरा ) किए नहीं लौटते हैं । १०२ ।

ते य विएसि फिरंतय वम्महसरपहय,
णियघरणिय सुमरंत विरहसुवसेय कय ।
दिवसरयणि णियदइय सोय असहंत भरु,
जिम तुम्हिहि तिम मुन्धि पहिय झिज्झंति नरु ॥ १०३ ॥

एय वयण आयन्निवि दीहरलोयणिहिँ ।
पढ़िय अडिल वियसेविणु मयणाकोअणिहिँ ॥* अर्द्धम्
जइ मइ णत्थि णेहु ताकं तह,
पंथिय कज्जु साहि मह कंतह ।
जं विरहग्गि मज्झ णक्कंतह,
हियउ हवेइ मज्झ णक्कंतह ॥ १०४ ॥*

कहि ण सवित्थरु सक्कउँ मयणाउहवहिय,
पहिय अवत्थ अम्हारिय कंतह सउँ कहिय ।
अंगभंगु णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्गि चलंतिहि आलसिहि ॥ १०५ ॥*

धम्मिलह संवरणु न घणु कुसुमिहि रयउँ,
कज्जलु गलइ कवोलिहि जं नयणिहि धरउँ ।

---

हे मुग्धे ! कामदेवके बाणोंका प्रहार सहते हुए, अपनी गृहिणीका स्मरण करते हुए, विरहके वशीभूत वे विदेशमें फिरते हैं । दिन रात प्रियाके शोक-भार को न सह पाते हुए जिस प्रकार तुम ( व्याकुल ) हो उसी प्रकार वे भी नितांत क्षीण होते रहते हैं । १०३ ।

ये वचन सुनकर दीर्घतर नेत्रोंको विकसित करके उस विरहिणीने मदन चेष्टा युक्त अडिल्ल पढ़ा ।

यद्यपि मैं सोचती हूँ कि मेरे प्रति कंतका स्नेह नहीं है फिर भी पथिक ! प्रिय से मेरा संदेश ( कार्य ) कहना कि मैं विरहाग्निके बीच नाकतक पड़ी रहती हूँ। मेरा हृदय ( दिनसे लेकर ) रातके अन्ततक अर्थात् रात दिन जलता रहता है । १०४ ।

मैं मदनके बाणोंसे व्यथित हूँ । विस्तारपूर्वक संदेश नहीं कह सकती । मेरी यह अवस्था कंतसे कहना । ( मेरे ) अंग टूट गए हैं, नितान्त अनरति ( बेचैनी ) व्याप्त है मार्गमें आलस्य पूर्वक चलती हुई मेरी गति विह्वलांगी हो गई है । १०५ ।

जूड़ेको बाँधकर मैं उसे कुसुमोंसे नहीं सजाती हूँ, जो कज्जल नयनों में धारण

जं पियआसासंगिहि अंगिहि पलु चडइ,
विरहहुयासि झलक्कि पडिल्लिउ तं झडइ ॥ १०६ ॥
आसाजलि संसित्त विरह उन्हत्त जलंतिय,
णहु जीवउँ णहु मरउँ पहिय अच्छउँ धुक्खत्तिय ।
इत्थंतरि पुण पुणरवि पहिय धरेवि मणु,
फुल्लउ भणियउ दीहरच्छि णिय णयण फुसेविणु ॥ १०७
सुन्नारह जिम मह हियउ पिय उक्खि करेइ ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जलि सिंचेइ ॥ १०८ ॥
पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु मह म करि,
रुयवि रुयवि पुणरत्त वाह संवरिवि धरि ।
पहिय ! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमणु,
मइ न रुन्नु विरहग्गिधूम लोयणसवणु ॥ १०९ ॥
पहिउ भणइ पसयच्छि तुरिउ कि न वज्जरिहि,
रवि दिणसेसु पहुत्तु पडुंजहि दय करिहि ।
जाहि पहिय तुह मंगलु होउ पुणन्नवउ
पियह कहिय इक मडिल अन्नु तह चूडिलउ ॥ ११० ॥❀

---

करती हूँ वह कपोलोंपर गलता है । प्रियके (आगमनकी) आशासे जो मांस शरीर-पर चढ़ता है वह विरहाग्निकी ज्वालासे शीघ्र झड़ (सूख) जाता है । १०६ ।

आशाके जलसे संसिक्त और विरहकी ऊष्मासे जलती हुई मैं न जीती हूँ न मरती हूँ, बल्कि हे पथिक ! धुकधुकाती रहती हूँ । इस बीच मनमें पुन पुनः धैर्य धारण करके और अपनी आँखें पोंछकर दीर्घाक्षीने एक फुल्लक कहा । १०७ ।

सुनारकी तरह मेरा हृदय पहले प्रियकी उत्कंठा उत्पन्न करता है, फिर विरह की अग्निमें ( मुझे ) जलाकर आशाके जलसे सींचता है । १०८ ।

पथिक कहता है कि रो रोकर और फिर रोकर रास्तेमें जाते हुए मेरा तुम अमंगल मत करो, धैर्य पूर्वक आँसुओंको रोको । ( विरहिणी बोली ) पथिक ! तुम्हारी इच्छा पूरी हो, ( तुम्हारा ) आजका गमन सिद्ध हो । मैं रोती नहीं हूँ बल्कि विरहाग्निके धुयें से मेरे लोचन स्रवित हो रहे हैं । १०९ ।

पथिक कहता है कि हे प्रसृताक्षि ! जो कुछ कहना है शीघ्रतापूर्वक कहो । सूर्य दिनान्त ( अस्ताचल ) पर पहुँच गया । दया करके मुझे आज्ञा दो । ( विरहिणी बोली ) हे पथिक ! तुम्हारा नित्य नवीन मंगल हो । ११० ।

तणु दीउन्ह सासि सोसिज्जइ,
अंसु जलोहु णेय सोसिज्जइ ।
हियउ पडिक्कु पडिउ दीवंतरि,
पडिउ पतंगु णाइ दीवंतरि ॥ १११ ॥⁕

उतरायणु वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिओइउ ।
दुन्निय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ ॥११२॥⁕

गयउ दिवसु थिउ सेसु पहिय ! गमु भिल्हियइ,
णिसि अत्थमि बोलेवि दिवसि पुणु चल्लियइ ।
बिंबाहरि दिणबिंब जुन्ह गोसिहि बलइ;
रयणि तोइ जाइहउँ कज्जि हउँ आवलइ ।
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय ! इच्छहि गयणु,
चूडिल्लउ खडहडउ पियह गाहाइ भणु ॥ ११३ ॥⁕

फलु विरहग्गि पवासि तुअ,
पाइअ अम्हिहि जाइ पियह भणु ।

---

शरीर तो दीर्घोष्ण श्वासोंसे सूख गया किन्तु ( उसीसे उत्पन्न होनेवाले ) अश्रु नहीं सूखते। मेरा हृदय फड़क कर द्वीपान्तरमें जा पड़ा है मानों पतंग दीपमें जा पड़ा हो । १११ ।

उत्तरायणमें दिन बढ़ता है और दक्षिणायनमें रात बढ़ती है यह पूर्व नियोजित है, जिसमें दोनों बढ़ते हैं वह तीसरा विरहायण भी होता है ( टीकाकारोंने भी = च पदसे एक चौथे अयनके ध्वनित होनेकी कल्पना की है। उनका कहना है कि विरहायण तो वह है जिसमें दिन और रात दोनों बढ़ते हैं, लेकिन एक चौथा सुखायन होता है जिसमें ये दोनों घटते हैं ।)

पथिक दिवस स्थितशेषपर पहुँच गया है अर्थात् बहुत थोड़ा शेष रह गया है, अब जाना छोड़ो, रात्रि यहीं बिताकर दिनमें फिर चलना । ( पथिकने उत्तर दिया ) बिंबाधरे ! सूर्य प्रभात में जलने लगता है, मैं अपने कार्यके लिये अत्यन्त आकुल हूँ इसलिये रातको भी चला जाऊँगा। ( विरहिणीने कहा ) यदि इस स्थान पर रहते ( रुकते) नहीं हो और जानेकी इच्छा करते हो तो प्रियसे चूडिल्लक, खडहडक और गाथा कह देना । ११३ ।

प्रिय से जाकर कहना कि तुम्हारे प्रवासमें मुझे विरहाग्निका फल प्राप्त हुआ

चिरु जीवंतउ लद्ध वरु,
हुअउ संवच्छर तुल्लउ इक्कु दिणु ॥ ११४ ॥
जइ पिम्मविओइ विसुंठलयं हियय़ं,
जइ अंगु अणंग सरेहि हयं णिहुयं ।
जइ वाहजलोह कवोलरयं णयणं,
जइ णिच्च मणंमि वियंभिययं मयणं ॥ ११५ ॥

ता पहिय ! केम णिसि समए पाविज्जइ निव्वुइय तह णिद्दा ।
जीविज्जइ जं पिय विरहणीहि दिवसेहि तं चुज्जं ॥ ११६ ॥

पहिउ भणइ कणयंगि ! सयलु जं तुम्हि कहिउ,
अन्नइ जं मइ दिट्ठु पयासिसु तं अहिउ ।
पउमदलच्छि ! पलुट्टहि इच्छहि णियभुवणु,
हउँ पुणि मग्गि पयट्टउँ भंजि म मह गमणु ।
पुव्वदिसिहि तमु पसरिउ रवि अत्थमणि गउ,
णिसि कट्ठिहि गम्मियइ मग्गु दुग्गमु सभउ ॥ ११७ ॥

पहिय वयण आयन्निवि पिम्मविओइरिय,
ससि उसासु दीहुन्हउ पुण खामोयरिय ।

---

है, वह फल है चिरजीवी होनेका वरदान जिस से एक दिन संवत्सरके तुल्य लगता है । ११४ ।

यदि प्रिय के वियोगमें हृदय विसंस्थुलित ( व्याकुल ) हो गया है, अंग कामदेवके बाणों द्वारा पूर्ण रूपसे घायल कर दिए गए हैं, नयनोंसे अश्रुप्रवाह गालोंपर आता रहता है और यदि मनमें मदन नित्य जम्हाई लेता रहता है । ११५ ।—

तो हे पथिक ! रात्रिमें आराम कैसे मिले और नींद कैसे आए ? प्रिय विरहिणियाँ कुछ दिन जीलेती हैं यही आश्चर्य है । ११६ ।

पथिक कहता है कि हे कनकांगि ! तुमने जो कुछ कहा है और मैंने जो कुछ देखा है उससे भी अधिक कहूँगा । हे कमलदलाक्षि ! अब वापस जाओ और अपने घर ( जाने) की इच्छा करो । मैं पुनः मार्गमें प्रवृत्त हो जाऊँ, मेरा जाना मत रोको । पूर्व दिशामें अन्धकार फैल गया, सूर्य अस्ताचल पर गया । रातमें चलना कष्ट पूर्ण होता है मेरा मार्ग दुर्गम और भयावह है । ११७ ।

पथिकके वचन सुनकर प्रेम वियोगिनी क्षामोदराने पुनः दीर्घोष्ण उच्छ्वास लिया । उसके कपोलोंपर जो अश्रुकण जैसे तैसे रह गए थे, वे ऐसे लग रहे थे

अंसुकणोहु कवोलि जु किम्मइ कुइ रहइ,
णं विद्दुम पुंजोवरि मुत्तिउ सुइ सहइ।
कहइ रुवइ विलवंती पियपावासहइ,
भणइ कहिय तह पियह इक्कु खंधउ दुवइ ॥ ११८ ॥
मह हियय रयणनिही महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं।
उम्मूलियं असेसं सुहरयण कडिढयं च तुह पिम्मे ॥ ११९ ॥
मयण समीर विहुय विरहाणलदिट्ठिफुलिंगणिब्भरो,
दुसह फुरंत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल दुद्धरो।
अणरइछारुछित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए,
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढए ॥ १२० ॥ ❀
खंधउ दुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ,
णेय पिम्म परिवरिउ पहिउ मण रंचियउ।
तह जंपइ मियनयणि सुणिहि धीरयसु खणु,
किहु पुच्छउँ ससिवयणि पयासहि फुड वयणु ॥ १२१ ॥ ❀

---

मानों विद्रुम-पुंजके ऊपर श्वेत मौक्तिक हों। प्रियके प्रवाससे आहता वह कहती है, रोती है और विलाप करती है, उसने पथिकसे कहा कि हे पथिक ! उस प्रिय से एक स्कन्ध (खन्धक) और द्विपदी कहना। ११८।

मेरा हृदय रूपी रत्ननिधि ( समुद्र ) तुम्हारे प्रेमके गुरु मन्दरसे नित्य मथित हो रहा है। उसने सभी सुखरत्नोंको अशेष रूपसे उन्मूलित करके काढ़ लिया है। ११९।

मदनसमीरसे धौंकी हुई विरहाग्नि आँखसे निकली हुई चिनगारियोंसे भर गई और मेरे हृदयमें स्फुरित होती हुई जल रही है। निरन्तर ज्वालासे उसका धारण करना कठिन हो गया है ( असह्य हो गया है ) बेचैनीका क्षार अर्थात् कोयला क्षिप्त होते रहनेसे यह विरहाग्नि और भी तीव्र हो उठती है और मुझे जलाती और डराती रहती है। ( फिर भी ) यह आश्चर्य है कि तुम्हारी उत्कंठा-के कारण मेरा सरोरुह ( = १ कमल, २ स्वरारोह = साँस चलनेकी प्रक्रिया ) बढ़ता रहता है। १२०।

स्कन्धक और द्विपदी सुनकर ( पथिक ) के अंग-अंग रोमाञ्चित हो गए और वह नेय-प्रेम अर्थात् नायिकाके प्रेमका स्वयं अनुभव करके प्रेमानुभूतिसे परिवेष्टित हो गया और उसका मन भी रँच गया, अनुरक्त हो गया।

उसने कहा कि हे मृगनेत्रे ! क्षण भर धैर्य पूर्वक सुनो। हे शशिवदने ! कुछ पूछता हूँ उसका उत्तर स्पष्ट वचनोंमें दो। १२१।

णवघणरेहविणग्गय निम्मल फुरइ करु,
सरय रयणि पच्चक्खु झंरतउ अमियभरु ।
तह चंदह जिणणत्थु पियह संजणिय-सुहु,
कइय लग्गि विरहग्गि धूमि झंपियउ मुहु ॥ १२२ ॥
बंककडक्खिहि तिक्खिहि मयणाकोयणिँहि,
भणु वट्टहि कइ दियहि झुरंतिहिँ लोयणिहिँ ।
जालंधरिव सकोमलु अंगु सुसंतियह,
हंस सरिस सरलाइ गयहि लीलंतियह ॥ १२३ ॥
इम दुक्खह तरलच्छि काँइ तणु अप्पियइ,
दुसहु विरहकरवत्तिहि अंगु करप्पियइ ।
हरिसुयवाणखुरप्पिहि कइ दिणु भणु पहउ,
भणु कइ कालि पउत्तउ सुन्दरि ! तुअ सुहउ ॥ १२४ ॥
पहिय वयण आयन्निवि दीहरलोयणिहि ।
पढ़ियउ गाह चउक्कउ मयणाकोयणिहि ॥ १२५ ॥
आएहि पहिय किं पुच्छिएण मह पियपवासदियहेण ।
हरिऊण जत्थ सुक्खं लद्धं दुक्खाण पडिवट्टं ॥ १२६ ॥

---

नवघन रेखासे निकला हुआ, निर्मल किरणोंको स्फुरित करता हुआ, शरद रजनीका जो प्रत्यक्ष अमृतस्रावी चन्द्रमा है, उसको जीतने समर्थ, (अर्थात् उससे बढ़कर) प्रियके लिए सुख उत्पन्न करनेवाला, तुम्हारा मुख विरहाग्निके धूमसे कबसे आच्छादित है ? ॥ १२२ ॥

यह बताओ कि तीक्ष्ण वक्रिम कटाक्ष और मदन-चेष्टायुक्त लोचनोंसे कितने दिनोंसे जल बरसा रही हो ? हंस सदृश लीलायित गतिको सरल बनाकर कदली-के समान कोमल अंगोंको कबसे सुखा रही हो ? ॥ १२३ ॥

तरलाक्षि ! तुमने अपने आपको इस तरह दुःखको कबसे अर्पित कर रखा है । दुःसह विरह करपत्र (आरे) से तुम्हारे अंग कबसे चीरे जा रहे हैं । कामदेवके तीक्ष्ण बाणों द्वारा तुम्हारे मनपर कितने दिनोंसे प्रहार हो रहा है ? हे सुन्दरी ! कहो तुम्हारे सुभगको गए कितना समय हुआ ॥ १२४ ॥

पथिककी बात सुनकर दीर्घतर-लोचनाने मदनचेष्टापूर्वक चार गाथायेँ पढ़ीं । १२५ ।

सुनो पथिक ! मेरे प्रियके प्रवासके उस दिवसको पूछनेसे क्या जिस दिन मैंने सुख खोकर दुखोंका प्रतिपक्ष पाया । १२६ ।

ता कहसु तेण किं सुमीरएण विच्छेयजालजलणेण ।
जं गओ खणद्धमत्तो णामं मा तस्स दियहस्स ॥ १२७ ॥

जत्थ गओ सो सुहओ तद्दिह दिवसाउ अम्ह अणियत्ती ।
णिच्छउ हियए पंथिय कालो कालुव्व परिणमइ ॥ १२८ ॥

मुक्काऽहं जत्थ पिए डज्झउ गिम्हानलेण सो गिम्हो ।
मलयगिरिसोसणेण य सोसिज्जउ सोसिया जेण ॥ १२९ ॥

---

तो कहो, वियोगकी आग प्रज्वलित करनेवाले उस ( दिन ) को स्मरण करनेसे क्या लाभ, जिस दिन क्षणार्धमें प्रिय चला गया । उस दिनका नाम भी मत लो । १२७ ।

जिस दिनसे वह सुभग गया है उसी दिनसे मुझे बेचैनी ( अनिवृत्ति ) है, निश्चय ही हृदयमें समय कालकी भाँति लगता है । १२८ ।

जिसमें मैं प्रियसे त्यक्त हुई वह ग्रीष्म ग्रीष्माग्निसे जल जाए और जिसके द्वारा मैं शोषित की गई वह ( ग्रीष्म ) मलयगिरि समीरसे सूख जाए । १२९ ।

# तृतीयः प्रक्रमः

## अतो ग्रीष्म वर्णनम्

णवगिम्हागमि पहिय णाहु जं पवसियउ,
करवि करंजुलि सुह समूह मह णिवसियउ।
तणु अणुअंचि पलुट्टि विरहहवितवियतणि,
वलिवि पत्त णिय भुयणि विसंठुल विहलमणि॥ १३०॥*
तह अणरइ रणरणउ असुहु असहंतियहँ,
दुस्सहु मलयसमीरणु मयणाकंतियहँ।
विसमझाल झलकंत जलंतिय तिव्वयर,
महियलि वणतिण दहण तवंतिय तरणिकर॥ १३१॥
जम जीहह जिम चंचलु णहयलु लहलहइ,
तडतडयडि धर तिडइ ण तेयह भरु सहइ।
अइउन्हउ वोमयलि पहंजणु जं वहइ,
तं झंखरु विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ॥ १३२॥
पिउ चावइहि भणिज्जइ नवघणकंखरिहिँ,
सलिलनिवहु तुच्छच्छउ सरइ तरंगिणिहिँ।

---

हे पथिक! नव ग्रीष्मके आगमनपर नाथ जब प्रवासी हुए तो मेरा सुख समूह भी करांजलि (प्रणाम) करके चला गया। अपने शरीरको (किसी प्रकार) पीछे खींचकर विक्षिता विसंस्थुला (व्याकुल), विह्वलमना और विरहाग्निसे तपती हुई शरीरवाली मैं लौटकर घर पहुँची। १३०।

मैं अनरतिका कष्ट और असुख सहन नहीं कर पाती थी। मुझ मदना-क्रान्ताके लिए मलय समीरण दुःसह हो गया। झलझलाती हुई विषम ज्वालासे तीव्रतर जलती हुई पृथ्वीके वन-तृणको जलानेवाली सूर्य-किरणें तपती थीं।१३१।

नभतल यमकी चंचल जिह्वाके समान लहलहाता था, धरा तेजके भारको न सह पानेके कारण तड़तड़ शब्द करके चिटक जाती थी। व्योमतलमें जो अति उष्ण प्रभंजन बहता था वह झंखर विरहिणियोंके अंगोंको छूकर उन्हें जलाता था। १३२।

नवघनकी उत्कठासे चातक 'पिउ' शब्द कहते हैं। नदियोंका जलप्रवाह

फलहारिण उन्नमियउ अइसच्छयइ सुहि,
कुंजरसवणसरिच्छ पहल्लिर गंधवहि ॥ १३३ ॥
तह पत्तिहि संसग्गिहि चूयाकंखिरिय,
कीरपंति परिवसयइ णिवड णिरंतरिय ।
लइ पल्लव झुल्लंति समुट्ठिय करुण झुणि,
हउ किय णिस्साहार पहिय साहारवणि ॥ १३४ ॥
हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
तं सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ ।
ठविय विविह विलवंतिय अह तह हारलय,
कुसुममाल तिवि मुवइ झाल तउ हुइ सभय ॥ १३५ ॥
णिसि सयणिह जं खित्तु सरीरह सुह जणणु,
विउणउ करइ उवेउ कमलदलसत्थरणु ।
इम सिज्जह उट्टंत पडंत सलज्जिरिहि,
पढ़िउ वत्थु तह दोहउ पहिय सगग्गिरिहि ॥ १३६ ॥
वियसाविय रवियरहि तविहि अरवियतवणि,
अमियमओ विहु जणइ दाह विसजम्मगुणि ।

---

स्वच्छ और तुच्छ ( पतला ) होकर बहता है । ( सहकार वनमें आम्रवृक्ष ) फल-भारसे झुक गए और अधिक सुंदर लगने लगे । हाथियोंके कान जैसे हिलते हुए गंधवह ( शेष अग्रिम छंदके अर्थमें ) । १३३ ।—

पत्तोंके साथ लगे हुए आम्र फलकी उत्कंठासे निबिड़ निरंतर ( एकदम सटी हुई ) कीर पंक्ति बैठी हुई है । वे ( कीर ) पल्लवके साथ झूलते हैं तो करुणध्वनि उठती है । पथिक ! सहकार वनने मुझे निस्साधार ( बेसहारा ) कर दिया । १३४ ।

शीतलताके लिए जो हरिचंदनका लेप किया तो सर्पों द्वारा सेवित होनेके कारण वह स्तनोंको तपाता रहा । इसके बाद विविध विलाप करती हुई मैं जब हारलता और कुसुम माला को वहाँ धारण करती तो वे भी ज्वाला उत्पन्न करने लगे और मैं डर गई । १३५ ।

रात्रिमें यदि शय्या पर शरीर सुखके लिए कमल-दल बिछा दिए गये तो वह दुगना उद्वेग उत्पन्न करने लगे । इस प्रकार शय्यापर उठती पड़ती हुई मुझ सलज्जाने गद्गद वाणी से यह वस्तु तथा दोधक पढ़ा । १३६ ।

रविकरों द्वारा बिकसित किए जानेके कारण अरविंद तपते हैं । विषके साथ

दंसिउ दुसहु भुअंगि अंगि चंदणु तवइ,
खिवइ हारु हारुब्भवु कुसुम सरिच्छयइ ।। १३७ ।।

तणु वणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चच्चंति ।
पुण वि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति ।। १३८ ।।

## अथ वर्षा वर्णनम्

इम तवियउ वहु गिंमु कट्ठि मइ बोलियउ,
पहिय ! पत्तु पुण पाउसु धिट्ठ ण पत्तु पिउ ।
चउदिसि घोरंधारु पवन्नउ गरुयभर,
गयणिगुहिरु घुरहुरइ सरोसउ अंबुहरु ।। १३९ ।।

पउदंडउ पेसिजइ झाल झलकंतियइ,
भयभेसिय अइरावइ गयणि खिवंतियइ ।
रसहि सरस वव्वीहिय णिरु तिप्पंति जलि,
बयह रेह णहि रेहइ घवघण जंतितलि ।। १४० ।।

---

जन्म लेनेके कारण अमृतमय चन्द्रमा भी दाह उत्पन्न करता है । दुःसह भुजंगोंसे दंशित होनेके कारण चंदन अंगोंको तपित करता है । कुसुमके बाणों द्वारा क्षत ( कामदेवसे पीड़ित ) लोगोंके घावमें, क्षारोद्भूत होनेके कारण, हार कष्ट पहुँचाता है । १३७ ।

लोग जो देहको ( शीतलताके लिए ) घनसार, चन्दनसे चर्चित करते हैं वह व्यर्थ है । प्रियकी विरहाग्नि प्रिय द्वारा ही बुझती है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं । १३८ ।

## वर्षा वर्णन

इस प्रकार ग्रीष्म बहुत तपा ( जिसे ) मैंने कष्टपूर्वक बिताया । पथिक ! फिर पावस आ पहुँचा किन्तु धृष्ट प्रिय नहीं आया । चारों दिशाओंमें गुरुभारको प्राप्त ( सघन ) घोर अन्धकार छा गया मेघ गगनमें रोषपूर्वक घुमड़ने लगे । १३९ ।

गगनमें भयप्रद, भीषण विद्युत्के चमकनेसे ज्वालाके झलकनेपर पगडण्डी दिखलायी पड़ती है, जलसे नितान्त तृप्त पपीहे सरस शब्द करते हैं । नवमेघोंके नीचे जाती हुई बकपंक्ति शोभित होती है । १४० ।

गिंभ तविण खर ताविय बहु किरणुकरिहिँ,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिँ ।
पयहत्थिण किय पहिय पहिहि पवंहतियहि,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयहि ॥ १४१ ॥ ॐ

णिवड लहरि घण अंतरि संगिहिँ दुत्तरिहिँ,
करि कलयलु कल्लोलिहि गज्जिउ वरसरिहिँ ।
दिसि पावासुय थक्किय णियकज्जागमिहिँ,
गमियइ णाविहिँ मग्गु पहिय ण तुरंगमिहिँ ॥ १४२ ॥

कद्दमलुल धवलंग विहाविह सज्झरिहि,
तडिनएवि पय भरिण अलक्ख सलज्जरिहि ।
हुउ तारायणु अलखु वियंभिउ तम पसरु,
छन्नउ इन्दोएहि निरंतर धर सिहर ॥ १४३ ॥

---

ग्रीष्मतापसे खरतम किरणोंके सम्पर्कके कारण बादलोंसे झरता हुआ पानी पोखरियोंमें समा नहीं रहा है। ये पोखरियाँ रास्तोंपर बढ़ते हुए पथिकोंको पैर हाथमें लेनेको मजबूर कर रही हैं अर्थात् पोखरियोंका पानी रास्तेपर आ जानेके कारण पथिकोंने जूते अपने हाथोंमें लिए हैं। पद-पदपर आसमानको जलानेवाली बिजली रास्ता दिखा रही है। १४१। (विशेष अर्थ के लिये भूमिका देखिए।)

निबिड़ लहरोंके घनान्तर (सघन) संयोगसे दुस्तर बनी हुई नदियाँ कल-कल शब्द करती हुई गरजती हैं। प्रवासी दिशाओंमें रुक गए। अपने कार्यवश लोग नावसे जाते हैं, मार्गपर घोड़ोंसे नहीं। १४२।

(यहाँ पृथ्वी रूपी नायिकाका मेघ रूपी पतिके आगमनकी अवस्थाका वर्णन किया गया है।) पृथ्वी कर्दमसे लिपटी हुई धवलांगिनी बनी है (जो चंदन लिप्त धवलांगिनी नायिकाके समान है)। विविध भाँतिसे सज्झरी बनी हुई है (पृथ्वी पक्षमें झड़ी युक्त और नायिका पक्षमें सज्झरी = वासक सज्जा)। विद्युत्की हल्की झाँकीसे पानी भरे हुए मेघके द्वारा न देखने वाली लज्जावती बधूके समान बन गई है, जिससे तारे (बधूपक्षमें आँखकी तारायें और पृथ्वीपक्ष में आँखकी तारे) दिखाई नहीं देते। चारों ओर अन्धकार फैल गया है। इन्द्र गोपियों (वीर बहूटियोंसे) आच्छादित है (जिस प्रकार नायिका कौसुंभ वस्त्रोंसे अपनेको आच्छादित कर लेती है) और इस प्रकार (समागमोत्कंठासे) सिहर रही है। १४३।

बगु मिल्हवि सलिलद्दहु तरुसिहरिहि चडिउ,
तंडवु करिंथि सिंहडिहि वर सिहरिहि रडिउ ।
सलिल निवहि सालूरिहि फरसिउ रसिउ सरि,
कलयलु किउ कलयंटिहि चडि चूयह सिहरि ॥ १४४ ॥

णाय णिवड पहरुद्ध फणिंदिहिँ दह दिसिहिँ,
हुइय असंचर मग्ग महंत महाविसिहिँ ।
पाडलदलपरिखंडणु नीरतरंग भरि,
ओरुन्नउ गिरि सिहरिहि हंसिहि करुण सरि ॥ १४५ ॥

मच्छरभय संचडिउ रन्नि गोयंगणिहि,
मणहर रम्मियइ नाहु रंगि गोयंगणिहि ।
हरियाउलु धरवलउ कयंविण महमहिउ,
कियउ भंगु अंगंगि अणंगिण मह अहिउ ॥ १४६ ॥

विसमसिज्ज विलुलंतिय अइदुक्खिन्नियइ,
अलिउलमाल विणग्गय सरपडिभिन्नियइ ।
अणिमिसनयणुव्विन्निय णिसि जागंतियइ,
वत्थु गाह किउ दोहउ णिँद अलहंतियइ ॥ १४७ ॥

---

बगुले जलाशयोंको छोड़कर तरुशिखरोंपर चढ़ गए । ताण्डव करते हुए मोर शिखरोंपर बोलने लगे । मेढक जलाशयोंमें परुष स्वर करने लगे । आमके शिखरपर चढ़कर कोकिलोंने कल-कल शब्द किया । १४४ ।

नागों और फणीन्द्रों ( फणयुक्त सर्पों ) से दसों दिशाओंके पथ रुद्ध हो गए । अत्यधिक जलके कारण मार्गोंपरका संचरण बन्द हो गया । नीरतरंगभारसे पाटल दल परिखण्डित हो गए । पर्वतकी चोटियोंपर हंसोंने करुण स्वरसे रोदन किया । १४५ ।

मच्छरोंके भयसे गौओंका समूह रन्न ( ऊँचा स्थल ) पर चढ़ गया । गोपाङ्गनायें अपने पतियोंके साथ मनोहर क्रीडायें करती हैं । हरिताकुल धरावलय कदंबसे सुगंधित हो गई । अनंगने मेरे अंग-अंगको और अधिक भंग कर दिया । १४६ ।

विषम शय्यापर लोटती हुई, अति दुःखिनी, भौंरोंके समूह द्वारा किए जानेवाले स्वरबाणोंसे विद्धा, निद्रालाभ न कर पानेके कारण रात भर पलक न गिराकर जागती हुई मुझ उद्विग्नाने वस्तु, गाथा और दोहा रचा । १४७ ।

झंपवि तम बद्दलिण दसह दिसि छायउ अंबरु,
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंबरु ।
णहह मग्गि णहवल्लि तरल तडयडिवि तडक्कइ,
दद्दुर रडणु रउद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ ।
निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु,
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरु।१४८।*

उल्हवियं गिम्हहवी धाराणिवहेण पाउसे पत्ते ।
अच्चरियं मह हियए विरहग्गी तवइ अहिअयरं ॥ १४९ ॥

गुणणिहि जल बिंदुब्भविय ण गलत्थिय लज्जंति ।
पहिया जं थोरंसुइहि थण थट्टा डज्झंति ॥ १५० ॥

दोहउ एहु पढेवि विरहखेआलसिहि,
ओ आगइ अइखिन्नी मोहपरावसिहि ।
सुविणंतरि चिरु पवसिउ जं जोइअउ पिउ,
संजाणिवि कर गहिवि ताम मइ भणिउ इहु ॥ १५१ ॥

किं जुत्तं सुकुलग्गयाण मुत्तूण जंचि इह समए ।
तडतडण तिव्व-घण घडणसंकुले दइय वंचंति ॥ १५२ ॥*

---

दसो दिशाओंमें बादलोंने आकाशको अंधकारसे आच्छन्नकर लिया । घोर गर्जन करते हुए सघन कृष्णमेघ उन्नमित हो आए ( आकाशमें सघन भावसे छा गए ) । आकाश मार्गमें 'तड़तड़' करके चंचल विद्युत् तड़क रही है । दादुरोंके रहनेका रौद्र शब्द कोई सह नहीं पाता है । मेघोंका निपट निरन्तर क्रम रूईके छोटे-छोटे पहलोंके सज्जित समूहकी भाँति लगता है ( या बादल रणक्षेत्रमें उतरने-वाले दुर्द्धर भटोंकी तरह हैं दे. भू० ३।१४८ ) पथिक ! ऐसे समयमें, मैं शिखर-स्थित कोयलकी दुःसह कूक कैसे सहूँ । १४८ ।

ग्रीष्मकी अग्निवर्षाके आनेपर धारा समूह द्वारा बुझा दी गई किन्तु आश्चर्य की बात है कि मेरे हृदयकी विरहाग्नि और अधिक तपती है । १४९ ।

यह दोहा पढ़कर विरहके कष्टोंके कारण आलसी और मोहसे परवश अतिखिन्ना मैंने चिर प्रवसित प्रियको स्वप्नमें देखा । ( स्वप्नको सत्य ) जानकर मैंने उस समय उनका हाथ पकड़कर यह कहा । १५१ ।

प्रिया क्या उच्च कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंके लिए 'तड़तड़' शब्द करते हुए तीव्र घन घटासंकुल, इस समयमें, अपनी स्त्रीको छोड़कर जाना उचित है ? ।१५२।

णवमेहमालमालिय णहम्मि सुरचाव रत्तदिसि पसरो ।
घणछन्न जम्म इंदोइएहि पिय पावसं दुसहं ॥ १५३ ॥
रायरुद्ध कंठग्गि विउद्धी जं सिवणि,
कह हउँ कह पिउ पत्थरंगि जु न मुइय खणि ।
जइ णहु णिग्गउ जीउ पाववंधिहि जडिउ,
हियउ न किग किरि फुट्ट णाइ वज्जिहि घडिउ ॥ १५४ ॥
ईसरसरि सालूरि कुणंती करुण सरि,
इहु दोहउ मइ पढ़िय निसह पच्छिमपहरि ॥ १५५ ॥
जामिणि जं वयणिज्ज तुअ तं तिहुयणि णहु माइ ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी झिज्झइ सुहसंगाइ ॥ १५६ ॥

## अथ शरद वर्णनम्

इम विलवंत कह्व दिण पाइउ,
गेउ गिरंत पढंतइ पाइउ ।
पिय अणुराइ रयणि रमणीइव,
गिज्जइ पहिय मुणिय रमणीइव ॥ १५७ ॥

---

नव मेघ-मालोंसे मण्डित आकाशमें इन्द्रधनुष और पृथ्वीतलको सघन आच्छादित किए हुए इन्द्रगोपोंसे दिशाओंका प्रसार आरक्त हो गया है । प्रिय ! ( इस प्रकारका ) पावस दुःसह है । १५३ ।

रागरुद्धकण्ठाग्रा ( अनुरागसे रुँधे हुए कण्ठवाली ) मैं जब स्वप्नसे जगी तो कहाँ मैं और कहाँ प्रिय ! मेरे अंग प्रस्तरके बने हुए थे जो उसी क्षण मर नहीं गई । यदि पापबन्धसे जटित जीव नहीं निकला तो हृदय ही क्यों नहीं फूट गया । मानों यह भी वज्रका बना हुआ है । १५४ ।

कामोद्दीपक स्वरमें तालाबमें मेढ़की ( सालूरि ) करुण क्वणन कर रही थी ( उस समय ) रात्रिके पिछले प्रहरमें मैंने यह दोहा पढ़ा । १५५ ।

हे यामिनी ! तुम्हारी जो वचनीयता है वह तीनों भुवनोंमें नहीं अमा ( अँट ) सकती । तुम दुखमें चौगुनी बढ़ती हो और सुख संगमें क्षीण होती हो ।१५६ ।

## शरद वर्णन

इस प्रकार विलाप करती, गीत गाती और प्राकृत पढ़ती हुई मैंने कुछ दिन बिताए । प्रियके अनुरागवश जिन रमणीक रातोंमें गान गाया जाता था वे कर-पत्रके समान लगीं ।१५७ ।

जामिणि गमियइ इम जग्गंतह,
पहिय पियागमि आस तगंतह ।
गोसुयरंत मिल्हि सिज्जासणु,
मणि सुमरंत विरहणिन्नासणु ॥ १५८ ॥
दक्खिण मग्गु णियंतह भत्तिहिं,
दिट्ठ अइत्थि रिसिउ मइ झत्तिहि ।
मुणिउ सु पाउसु पुणु परिगमिअउ,
पिउ परएसि रहिउ णहु रमिअउ ॥ १५९ ॥
गय विद्दरवि बलाहय गयणिहिं,
मणहर रिक्ख पलोइय रयणिहिं ।
हुयइ वासु छम्मयलि फणिंदह,
फुरिय जुन्ह निसि निम्मल चंदह ॥ १६० ॥
सोहइ सलिलु सरिहिँ सयवत्तिहिं,
विविह तरंग तरंगिणि जंतिहि ।
जं हय हीय गिंभि णवसरयह,
तं पुण सोह चडी णवसरयह ॥ १६१ ॥
हंसिहि कंदुट्टवि घुट्टिवि रसु,
किउ कलयलु सुमणोहरु सुरहसु ।

---

हे पथिक ! मैं इस प्रकार जागती हुई और प्रियके आगमनकी आशा ताकती हुई रातें बिताती । प्रातःकाल शय्यासन छोड़कर मनमें विरहनाशक प्रियका स्मरण करती हुई—। १५८ ।

और भक्तिपूर्वक दक्षिण दिशाकी ओर देखती हुई मैंने सहसा अगस्त्य ऋषि ( तारा ) को देखा ( तब ) मैंने सोचा कि पावस बीत गया, प्रिय परदेशमें ही रमा रहा, आया नहीं । १५९ ।

आकाशमें बादल विदीर्ण होकर चले गए । रात्रिमें मनोहर तारे दिखलाई पड़ने लगे । फणीन्द्रोंका वास पृथ्वीके नीचे हो गया । रात्रिमें निर्मल चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना स्फुरित होने लगी । १६० ।

सरोवरोंका जल शतपत्रिकाओंसे शोभित हो गया और नदियोंका बहते हुए विविध तरंगोंसे । नव सरोवरोंकी जो शोभा ग्रीष्म द्वारा हर ली गई थी वह नवशरदागमनसे फिर लौट आयी । १६१ ।

हंसोंने कमलका रस घूँट ( पी ) कर रभसपूर्वक मनोहर कल-कल शब्द

उच्छलि भुवण भरिय सयवत्तिहि॑,
गय जलरिलि पडिलिय तित्थिहि॑ ॥ १६२ ॥
धवलिय धवलसंखसंकासिहि,
सोहहि सरहतीर संकासिहि ।
णिम्मलणीर सरिहि॑, पवहंतिहि॑,
तड रेहंति विहंगमपंतिहि॑ ॥ १६३ ॥
पडिबिंबउ दरसिज्जइ विमलिहि,
कद्दमभारु पमुक्किउ सलिलिहि ।
सहमि ण कुंज सद्दु सरयागमि,
मरमि मरालागमिण हु तग्गमि ॥ १६४ ॥ ❀
झिज्झउँ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि,
खिज्जउँ खज्जोयहि॑ खज्जंतिहि ।
सारस सरसु रसहि॑ किं सारसि !
मह चिर जिण्ण दुक्खु किं सारसि ॥ १६५ ॥
णिठ्ठुर करुणु सद्दु मणमहि लव,
दड्ढा महिल होइ गयमहिलव ।
इम इक्किक्कह करुण भणंतह,
पहिय ण कुइ धीरवइ खणंतह ॥ १६६ ॥

---

किया । शतपत्रोंसे भुवन उच्छल रूपसे भर गया । जलके रेले ( प्रवाह ) वेगसे तीर्थों ( घाटों ) पर पहुँच गए । १६२ ।

श्वेत शंखोंके समान श्वेत कासोंसे सरोवरके तीर शोभित हो गए । प्रवहमान निर्मल नीरसे युक्त नदियोंके तट विहंगम पंक्तियोंसे शोभित हो गए । १६३ ।

कर्दमभारसे प्रयुक्त विमल जलमें प्रतिविम्ब दिखलाई पड़ता है । शरदके आगमनपर कुंजोंका शब्द मैं सहन नहीं कर पाती हूँ । मरालोंके आगमन और गमनसे भी, ( दोनोंसे ) मैं मरती हूँ । १६४ ।

पथिक ! जलके छीजने ( कम होनेके ) साथ-साथ मैं भी छीजने लगी । खद्योतोंके चमकनेके साथ मैं खीझने ( खिन्न होने ) लगी । सारस सरस शब्द करते हैं । हे सारसि ! मेरे चिरजीर्ण दुखका स्मरण क्यों कराती हो । १६५ ।

( हे सारसि ! ) निष्ठुर करुण शब्दोंको मनमें ही लिए रहो, क्योंकि वे शब्द सुनकर विरहदग्धा महिलाएँ गत महोत्सव ( उदास ) हो जाती हैं । हे पथिक ! इस प्रकार एक-एक ( सारसीसे ) करुण शब्द बोलती हुई मुझको कोई क्षणभरके भी लिए धीरज नहीं बँधाता । १६६ ।

अच्छहि जिह सन्निहि घर कंतय,
रच्छिहि रमहि ति रासु रमंतय।
करिवि सिँगारु विविह आहरणिहिँ,
चित्तविचित्तहिँ तणु पंगुरणिहिँ ॥ १६७ ॥
तिलु भालयलि तुरक्कि तिलक्किव,
कुंकुमि चंदणि तणु चच्चक्किव।
सोरंडहिँ करि लियहि फिरंतिहि,
दिव्व मणोहरु गेउ गिरंतिहि ॥ १६८ ॥
धूव दिंति गुरुभत्ति-सइत्तिहि,
गोआसणिहिँ तुरंग चलत्थिहि।
तं जोइवि हउँ णिय उव्विन्निय,
णेय सहिय मह इच्छा उन्निय ॥ १६९ ॥
तउ पिक्खिय दिसि अहिय विचित्तिय,
णाय हुआसणि जणु पक्खित्तिय।
मणि पज्जलिय विरह झालावलि,
णंदिणि गाह भणिय भमरावलि ॥ १७० ॥
सकसाय णवब्भिस सुद्ध गले,
धयरट्ठ-रहंग रसंति जले।

---

घरपर जिनके कन्त साथ हैं, वे स्त्रियाँ विविध आभरणों और चित्र विचित्र वस्त्रोंसे शरीरका शृंगार करके गलियोंमें रास खेलती हुई घूमती हैं। १६७।

भालतलको चटकीले तिलकसे तिलकित कर, शरीरको कुंकुम चंदनसे चर्चित करके हाथोंमें सोरण्डक लिए, घूमती हुई स्त्रियाँ दिव्य मनोहर गीत गाती हुई—। १६८।

बड़ी भक्तिके साथ गोशाला और तुरंगशालामें धूप देती हैं। उन्हें देखकर मैं नितान्त उद्विग्न हो गई। मैं यह ( स्त्रियोंकी क्रीड़ा ) सहन नहीं कर पाई और मेरी इच्छा ( प्रिय विषयक ) बढ़ गई। १६९।

इसके बाद जब मैंने अधिक बिचित्र ( रंग बिरंगी ) दिशाओंकी ओर देखा तो मानों अग्निमें फेंक दी गई। मनमें विरहकी ज्वालायें प्रज्वलित हो उठीं। मैंने नंदिनी गाथा और भ्रमरावलि पढ़ी। १७०।

नव कमल नाल ( खाकर ) कषायित शुद्ध गलेसे हंस और चक्रवाक जलमें बोलते हैं। उनका बोलना शरद श्री के नूपुरकी क्षीण ध्वनिकी तरह लगता है जो

गइ दंति चमक्करिणं पवरं,
सरयासिरि णेवर झीण सरं ॥ १७१ ॥
आसोए सरइ महासिरीहि पयखलिर वेयवियडाए।
सारसि रसिऊण सरं पुणरुत्त रुयाविया दुक्खं ॥१७२॥
ससिजुन्ह निसासु सुसोहियय धवलं,
वरतुंगपयार मणोहरयं अमलं।
पियवज्जिय सिज्ज लुलंत पमुक्करए,
जमकुट्ट सरिच्छ विहावि हए सरए ॥ १७३ ॥
अच्छहि जिह नारिहिँ नर रमिरइ,
सोहइ सरह तीर तिह भमिरइ।
वालय वर जुवाण खिल्लंतय,
दीसहिँ घरि घरि पडह वजंतय ॥ १७४ ॥
दारय कुंडवाल तंडव कर,
भमहि रत्थि वायंतय सुन्दर।
सोहहि सिज्ज तरुणि जण सत्थिहि,
घरि घरि रमियइ रेह पलत्थिहि ॥ १७५ ॥
दिंतिय णिसि दीवालिय दीवय,
णवससिरेह सरिस करि लीअय।

---

उसकी ( शरदश्री ) की गतिको चमत्कार और शोभा प्रदान करती है। १७१।

अश्विन मासमें पानीके स्खलनके वेगसे विकट बनी हुई नदियोंमें सारसोंने शब्द करके दुखसे मुझे फिर रुला दिया। १७२।

रात्रिमें शशि ज्योत्स्नाने धवलगृहोंको सुशोभितकर दिया और वरतुंग-प्राकारोंको अमल मनोहर कर दिया। मैं रतिसे वञ्चित, प्रियसे शून्य शय्यापर लोटती हुई हत शरदकी रात्रिको, जो यमराजके प्रहारके सदृश घातक है बिताती हूँ। १७३।

जिन नारियोंके रमते हुए कंत साथ हैं, उन भ्रमण करती हुई स्त्रियोंसे सरोवरके तट शोभित हैं। बालक, वर युवक खेल रहे हैं। घर-घर पटह बजता दिखाई ( सुनाई ) पड़ता है। १७४।

स्त्रियाँ कुण्डलाकार नाचती और सुन्दर वाद्य बजाती हुई गलियोंमें घूमती हैं। तरुणिजनोंसे शय्यायें शोभित हैं। घर-घर पर्यस्त रेखायें ( पूरे हुए चौक ) सुंदर लगती हैं।१७५।

दीपावलीके अवसरपर रात्रिमें ( स्त्रियाँ ) दीपदान करती हैं। वे हाथोंमें

मंडहि भुवण तरुण जोइक्खहिँ,
महिलिय दिंति सलाइय अक्खिहिँ ॥ १७६ ॥
कसिणंवरिहिँ विहाविह भंगिहिँ,
कड्डिय कुडिल अणेगतरंगिहिँ ।
भियणाहिण मयवट्ट मणोहर,
चच्चिय चक्कावट्ट पयोहर ॥ १७७ ॥
अंगि अंगि घणु घुसिणु विलत्तउ,
णं कंदप्प सरिहि विसु खित्तउ ।
सज्जिउ कुसुमभारु सीसोवरि,
णं चंदट्ठु कसिणघणगोवरि ॥ १७८ ॥
झसुरु कपूर बहुलु मुहि छुद्धउ,
णं पच्चूसिहि दिणपहु बुद्धउ ।
रहसुच्छलि कीरइ पासाहण,
वर रय किंकिणीहिँ सिज्जासण ॥ १७९ ॥
इमि किवि केलि करहि संपुन्निय,
मइ पुणु रयणि गमिय उव्विन्निय ।
अच्छइ घरि घरि गीउ रवन्नउ,
इक्कु समग्गु कट्ठ महु दिन्नउ ॥ १८० ॥

---

नव शशि रेखाके समान दीप लेती हैं। तरुण ( सुन्दर ) दीपकोंसे गृह मण्डित हैं। महिलायें आँखोंमें सलाई देती हैं ( आँजन लगाती हैं )। १७६।

स्त्रियाँ विविध भंगिमाओंसे पहने हुए काले कपड़ोंसे शोभित हैं, जिनपर अनेक कुटिल लहरियाँ कढ़ी हैं। उनके चक्रावर्त पयोधर और मनोहर मदन पट्ट ( हृदय प्रदेश ) मृगनाभिसे चर्चित हैं। १७७।

उन्होंने अंग-अंगमें कपूरका सघन लेपकर लिया है वह ऐसा लगता है मानों कंदर्पने बाणोंसे ( शरीरमें ) विष फैला दिया है। शीश भाग कुसुम भार सज्जित है मानों घने काले रंग वाले गोपुरपर चन्द्रमा स्थित हो। १७८।

उनका मुख, कपूर-बहुल पान डाल लेनेसे ऐसा लगता है मानों प्रत्यूष वेलामें सूर्य उगा हो। प्रसाधन अतिशीघ्रता ( जल्दबाजीमें ) से किया जाता है और शय्यासन पर किंकिणियोंका सुन्दर शब्द सुनाई पड़ता है। १७९।

इस प्रकार कोई पुण्यवती केलि करती है और मैं रोते हुए उद्विग्नता पूर्वक बिताती हूँ। घर घर रमणीय गीत होता है। सारा दुख अकेले मुझे ही दिया गया है। १८०।

पुण पिउ समरिउ पहिय ! चिरग्गउ,
णियमणि जाणि तहवि सूरग्गउ ।
घण जलबाहु वहुल मिल्हेविणु,
पढ़िय अडिल मइ वत्थु तहेविणु ॥ १८१ ॥
णिसि पहरद्धु णेय णंदीयइ,
पिय कह जंपिरी उणंदीयइ ।
रय णिमिसिद्धु अद्धु णंदीयइ,
विद्धी कामतत्ति णं दीयइ ॥ १८२ ॥
कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,
अह कलरउ न कुणंति हंस फल सेवि रविंदह ।
अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण ।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्तु घण कुसुमभरु,
अह मुणिउ पहिय ! अणरसिउ पिउ सरइ समइ जु न सरइ घरु ॥ १८३ ॥

## अथ हेमंत वर्णनम्

सुरहि गंधु रमणीउ सरउ इम वोलियउ,
पावासुय अइधिट्ठि ण वलि घरु संभरिउ ।

---

पथिक ! फिर मैंने चिरगत प्रियका स्मरण किया और अपने मनमें सूर्योदय-का समय जानकर, बहुत आँसू बहाती हुई यह अडिल और वस्तु पढ़ा । १८१ ।

रात्रिमें आधे पहर भी नींद नहीं आती, प्रिय सम्बन्धी कथाकी जल्पना करती रहनेवालीको आनन्द ( सुख ) नहीं मिलता, आधे निमिष भी चैन नहीं मिलती । कामतता ( मदनके बाणोंसे ) विद्धा क्या विदीर्ण नहीं हो जाती ।१८२।

क्या उस देशमें रात्रिमें निर्मल चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना नहीं स्फुरित होती या कमलके फलों ( कमल गट्टा ) का सेवन करके हंस कलरव नहीं करते या कोई रागसे सुललित प्राकृत नहीं पढ़ता, या कोई उस कापालिकके सामने भावपूर्वक पञ्चम नहीं छेड़ता, या प्रत्यूष बेलामें ओससिक्त घनकुसुमभार महकता नहीं । या पथिक ! मैं यह मान लूँ कि प्रिय अरसिक हो गया है, जो वह शरद काल में भी घरका स्मरण नहीं करता है । १८३ ।

## हेमंत वर्णन

सुरभिगंधसे रमणीय शरद इस प्रकार व्यतीत हुआ । अति धृष्ट, खल, प्रवासी

इम अच्छउ जं करुण मयणपडिभिन्नसरि,
अवलोइय धवलहर सेय तुस्सारभरि ॥ १८४ ॥

जलिउ पहिय ! सव्वंगु विरहहवि तडयडवि,
सरपमुक्क कंदप्प दप्पि धणु कडयडवि ।
तं सिज्जहि दुक्खित्त ण आयउ चित्तहरु,
पर मंडलु हिडंतु कवालिउ खलु सबरु ॥ १८५ ॥

तह कंखिरि अणियत्ति णियंती दिसि पसरु,
लइ ढुकउ कोसिल्लि हिमंतु तुसार भरु ।
हुइय अणायर सीयल भुवणिहि पहिय ! जल,
ओसारिय सत्थरहु सयल कंदुट्टदल ॥ १८६ ॥ ❀

सेरंधिहिँ घणसारु ण चंदणु पीसियइ,
अहरकओलालंकिहिँ मयणु सँमीसियइ ।
सीहंडिहिँ वज्जियउ घुसिणु तणि लेवियइ,
चंपएलु मियणाहिण सरिसउ सेवियउ ॥ १८७ ॥

णहु दलियइ कप्पूर सरिसु जाईहलह,
दिज्जइ केवइ वासु ण पयडउ फोफलह ।

---

ने घरका स्मरण नहीं किया । इस प्रकार कामदेवके बाणोंसे प्रतिभिन्न ( अवस्था-में ) मैंने तुषार भारसे श्वेत धवल गृहोंको देखा । १८४ ।

पथिक ! विरहाग्निसे 'तड़ तड़' करके सर्वांग जल उठा । कंदर्प दर्प पूर्वक धनुष कड़ कड़ाकर बाण छोड़ने लगा । मुझ दुःखार्ताकी शय्याके निकट वह चित्तहर नहीं आया । परदेशमें ही वह कापालिक खल, शबर घूमता रहा ।१८५।

मुझ उत्कंठिता, बेचैनके दिशा प्रसारको देखते-देखते हेमंत तुषार भारका उपायन ( भेंट ) लेकर आ पहुँचा । पथिक भुवनमें शीतल जलका अनादर हो गया । बिछौनेपरसे सकल कमल दल हटा दिए गए । १८६ ।

सैरन्ध्रियाँ ( दासियाँ ) कपूर और चंदन नहीं पीसतीं । अधर और कपोलके अलंकरणोंमें मोम मिला दिया जाता है ( जिससे कि वे फटें न ) या अधर कपोल और कमर ( लंक ) में मदन बढ़ गया ( श्लेष से, संमीसियइ (१) मिलाया जाता है, (२) बढ़ता है ) शरीर पर श्रीखण्ड रहित कुंकुमका लेप किया जाता है, चंपक तैलका मृगनाभिके साथ सेवन किया जाता है । १८७ ।

जातीफलके साथ कर्पूर नहीं दला जाता है सुपारींमें केतकीका बास नहीं

भुवणुप्परु परिहरवि पसुप्पइ जामिणिहि,
ओयरइहि पल्लंग विछाइय कामिणिहि ॥ १८८ ॥

धूइज्जइ तह अगरु घुसिणु तणि लाइयइ,
गाढ़उ निवडालिंगणु अंगि सुहाइयइ ।
अन्नह दिवसह सन्निहि अंगुलमत्त हुय,
महु इक्कह परि पहिय ! णिवेहिय वम्हजुय ॥ १८९ ॥

विलवंती अलहंत निंद निसि दीहरिहि ।
पढ़िय वत्थु तह पंथिय इक्कल्लिय घरिहि ॥ १९० ॥

दीहउसासिहि दीहरयणि मह गइय णिरक्खर !
आइ ण णिद्दय ! णिंद तुज्झ सुयरंतिय तक्खर !
अंगिहिँ तुह अलहंत धिट्ठ ! करयलफरिसु,
संसोसिउ तणु हिमिण हाम हेमह सरिसु ।
हेमंति कंत ! बिलवंतियह, जइ पलुट्टि नासासिहसि,
तं तइय मुक्ख ! खल ! पाइ मइ मुइय विज्ज किं
आविहसि ॥ १९१ ॥

---

दिया जाता । रात्रिमें भवनके ऊपरी भागमें सोना छोड़कर कामिनियोंने ( घरके अंदर ) उपवरकमें पलँग बिछाए । १८८ ।

अगरुका धूप दिया जाता है, तनपर कुंकुमका लेप किया जाता है, अंगोंको गाढ़ निबिड़ आलिंगन द्वारा सुख दिया जाता है । अन्य दिवसोंकी तुलनामें ये दिन अँगुलि मात्र रह गए । हे पथिक ! एक मेरे लिए एक दिनमें ब्रह्माका एक युग निविष्ट हो गया । १८९ ।

पथिक ! दीर्घतर रात्रिमें निद्रालाभ न कर पाती हुई और विलपती घरमें अकेली मैंने यह वस्तु पढ़ा । १९० ।

हे निरक्षर ! दीर्घोच्छ्वास लेते हुए मेरी दीर्घरात्रि बीती, हे तस्कर ! निर्दय ! तुम्हारा स्मरण करती हुई मुझे नींद नहीं आयी । हे धृष्ट ! तुम्हारे करतलोंका स्पर्श न पानेसे हेमन्तने मेरे शरीरको उसी प्रकार सुखा डाला है जैसे घाम हेम ( ठण्ढक ) को सुखा डालता है । हे कन्त ! हेमन्तमें विलपती हुई को वापस आकर ( यदि इस समय ) आश्वासन नहीं दोगे तो हे मूर्ख ! खल ! पापी ! क्या मुझे मरा हुआ जानकर ( मेरे मरनेके बाद ) आओगे । १९१ ।

## अथ शिशिर वर्णनम्

इम कट्ठिहि मइ गमिउ पहिय ! हेमंतरिउ,
सिसिरु पहुत्तउ धुत्तु णाहु दूरंतरिउ ।
उट्ठिय झंखड गयणि खर फरसु पवणि हय,
तिणि सूडिय झडि करि असेस तहि तरुय गय ॥ १९२ ॥*

छायफुल्लफलरहिय असेविय सउणियण,
तिमिरंतरिय दिसा य तुहिण धूइण भरिण ।
मग्ग भग्ग पंथियह ण पवसिहि हिम डरिण,
उज्जाणिहि ढंखरिय असोसिय कुसुमवण ॥ १९३ ॥

तरुणिहि कंत पमुक्किय णिय केलीहरिहि,
सिसिर भइण किउ जलणु सरणु अग्गीहरिहि ।
उवभुंजहि केलीरसु अब्भिंतर भुयण,
उज्जाणह दुम्मिहिवि ण कीरइ किवि सयण ॥ १९४ ॥

मज्जमुक्क संठविउ विवह गंधक्करसु,
पिज्जइ अद्धावट्टउ रसियहि इक्खरसु ।

---

## शिशिर वर्णन

पथिक ! इस प्रकार कष्टपूर्वक मैंने हेमन्त ऋतु बिताई । शिशिर आ पहुँचा किन्तु धूर्त पति दूर अलग ही रहा । आकाशमें प्रखर, परुष पवनसे प्रताड़ित झंखर ( बवण्डर ) उठे, उनसे वृक्षोंके सभी पत्ते झड़कर टूट गए । १९२ ।

छाया, फूल और फलसे रहित वृक्ष पक्षियों द्वारा असेवित हो गए । कुहरे और धूमभारसे दिशायें अन्धकारसे ढँक गईं । पथिकोंके रास्ते बन्द हो गए, वे शीतके डरसे यात्रा नहीं करते । उद्यानोंमें अशोषित ( जो सूखा नहीं था ) कुसुमवन भी झाड़-झंखाड़ हो गया । १९३ ।

अपने कन्तोंको केलिगृहमें छोड़कर तरुणियोंने शिशिरभयसे अग्निगृहमें अग्निकी शरण ली । केलि रसका उपभोग घरके मध्य उपवरकमें किया जाने लगा । उद्यानमें वृक्षोंके नीचे कोई शयन नहीं करता । १९४ ।

लोगोंने मद्य ( पीना ) छोड़ दिया और विविध गन्धोंसे सुगन्धित किए हुए रसका सेवन शुरू किया, रसिक जन अर्द्धावर्त ( आधे पेरे हुए ) ईखका

कुंदचउत्थि वरत्थणि पीणुन्नयथणिय,
णियसत्थरि पलुटंति केवि सीमंतिणिय ॥ १९५ ॥ ❀
केवि दिंति रिउणाहह उपत्तिहि दिणिहि,
णियवल्लह कर केलि जंति सिज्जासणिहि ।
इत्थंतरि पुण पहिय ! सिज्ज इक्कल्लियइ,
पिउ पेसिउ मण दूअउ पिम्म गहिल्लियइ ॥ १९६ ॥
मइ जाणिउ पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ,
णहु मुणिअउ खलु धिट्ठ सोवि महु मिल्हिहइ ।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थवि रहिउ,
सव्व हियउ महु दुक्खि भरिउ पूरिउ अहिउ ॥ १९७ ॥
णट्ठ मूलु पिअसंगि लाहु इच्छंतियइ ।
णिसुणि पहिय ! जं पढिउ वत्थु विलवंतियइ ॥ १९८ ॥
मइ घणु दुक्खु सहप्पि मुणवि मणु पेसिउ दूअउ,
णाहु ण आणिउ तेण सुपुणु तत्थव रय हूअउ ।
एम भमंतह सुन्नहियय जं रयणि विहाणिय,
अणिरइ कीयइ कम्मि अवसु मणि पच्छुत्ताणिय ।

---

रस पीते हैं। वर-प्रार्थिनी पीनोन्नतस्तना कोई-कोई सीमन्तनियाँ ( स्त्रियाँ ) कुन्द चतुर्थीको अपने बिछौनोंपर लोटती हैं। १९५।

कोई ऋतुनाथके जन्मदिवसपर दान देती है, अपने प्रियके साथ केलि करने शय्यासनपर जाती हैं। पथिक इसी समय शय्यापर अकेली प्रेममुग्धा मैंने प्रियके पास अपने मनको दूत ( बनाकर ) भेजा। १९६।

मैंने जाना था कि वह प्रियको लाकर मुझे सन्तोष देगा। यह नहीं जाना था कि वह खल धृष्ट भी मुझे छोड़ देगा। प्रिय नहीं आया, उल्टे वह उस दूतको भी वहीं पकड़े रहा। मेरा सम्पूर्ण हृदय दुख-भारसे और अधिक पूरित हो गया। १९७ !

प्रियके संग ( साहचर्य ) के लाभकी इच्छा करती हुई मेरा मूल भी नष्ट हो गया। पथिक ! विलपती हुई मैंने जो वस्तु पढ़ा उसे सुनो। १९८।

मैंने घना दुख सहकर विचारपूर्वक मनोदूत भेजा। प्रिय नहीं आया और वह मनोदूत भी वहीं रत हो गया। इस प्रकार भरमती हुई शून्यहृदया मैंने रात बिताई। मैंने यह अनिरूपित कार्य किया, इसके लिए मनमें अवश्य पछताई। मैंने हृदय दिया किन्तु प्रिय नहीं आया। कहो, यह कौन ( कैसी )

मइ दिन्नु हियउ णहु पत्तु पिउ हुई उवम इहु कहु कवण,
सिंगत्थि गइय वाडव्वणी पिक्ख हराविय णिअसवण।। १९९ ।।✽

## अथ वसन्त वर्णनम्

ओ गयउ सिसिरु वणतिण दहंतु,
महुमास मणोहरु इत्थ पंतु।
गिरिमलयसमीरणु णिरु सरंतु,
मयणग्गि विओइहि विप्फुरंतु ।। २०० ।।
संकोवइ जणइ सुहं विआसु,
विअसंतु रवन्नउ दह दिसासु।
णवकुसुमपत्त हुय विविहवेसि,
अइ रेहइ णवसर रइविसेसि ।। २०१ ।।
बहुविविहराइ घणमणहरेहि,
सियसावरत्तपुप्फंवरेहि।
पंगुरणिहिँ चच्चिउ तणु विचित्तु,
मिलि सहियहि गेउ गिरंति णित्तु ।। २०२ ।।
महमहिउ अंगि बहु गंधमोउ,
णं तरणि (तरुणि) पमुक्कउ सिसिर सोउ।

---

उपमा हुई। खच्चरी सींगोंके लिए गई और देखो! कान भी गँवा आई। १९९।

## वसन्त वर्णन

इसके बाद वन तृणको जलाता हुआ शिशिर चला गया और यहाँ मनोहर मधुमास प्राप्त हुआ। वियोगियोंकी मदनाग्निको विस्फुरित करता हुआ मलयगिरि समीर निरन्तर चलने लगा। २००।

बसन्त ( तनमें ) संकोच और ( मनमें ) सुखका विकास उत्पन्न करता है। दसो दिशाओंमें रमणीयता विकसित हो रही है। नवीन कुसुम पत्र विविध वेशके हो गए। नव सरोवर रति विशेषसे अत्यन्त शोभित लगते हैं। २०१।

अत्यन्त मनोहर विविध रागोंसे और श्वेत सर्वरक्त पुष्पवरों और वस्त्रोंसे अपने शरीरको सजाकर स्त्रियाँ अपनी सखियोंके साथ नित्य गीत गाती हैं।२०२।

अनेक गन्ध आमोदसे अंग-अंग महकने लगे। मानों सूर्यने ( अथवा

तं पिक्खिवि मइ मज्झहि सहीय,
लंकोडउ पढ़ियउ वल्लहीय ॥ २०३ ॥
गयउ गिम्हु अइ दुसहु वरिसु उव्विन्नियइ,
सरउ गयउ अइकट्ठि हिमंतु पवन्नियइ ।
सिसिर फरसु वुलीणु कहव रोवंतियइ,
दुक्करु गमियइ एहु णाहु सुमरंतियइ ॥ २०४ ॥
वाहिज्जइ नवकिसलयकरेहिँ,
महुमास लच्छि णं तरुवरेहिँ ।
रुणझुण करेहि वणि भमरु छुद्ध,
केवयकलीहि रसगंधलुद्ध ॥ २०५ ॥
विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति,
कंटग्ग तिक्ख ते णहु गणंति ।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि,
णहु पाउ गणिज्जइ पिम्ममोहि ॥ २०६ ॥
महु पिक्खवि विंभिउ मणिहि हूउ
सुणि पहिय ! कहिउ रवणिज्ज रूउ ॥ २०७ ॥
पज्जलंत विरहग्गि तिव्व झालाउलं,
मयरद्धवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं ।

---

तरुणियोंने ) शिशिर शोकका त्याग कर दिया ( शीत कष्टसे मुक्ति मिल गई ) । यह देखकर प्रिय सखियों के बीच मैंने लंकोडक पढ़ा । २०३ ।

अति दुःसह ग्रीष्म गया, उद्विग्नतापूर्वक वर्षा बीती, अति कष्टसे शरद बीता । हेमन्त आया, परुष शिशिर रोती हुई मैंने किसी प्रकार बिताया । नाथका स्मरण करती हुई मेरे लिए इस बसन्तका बिताना दुष्कर है । २०४ ।

मानों मधुमास-लक्ष्मीको तरुवर अपने नव किसलय रूपी करोंसे ला रहे हैं । केतकी कलीके रस गन्धका लोभी क्षुब्ध भ्रमर वनमें रुनझुन करता है ।२०५।

वे भ्रमर तरुओंपर ( मधु ) चाटते हुए परस्पर बिंध जाते हैं । वे तीक्ष्ण कंटकाग्रोंकी परवाह नहीं करते । रसिक लोग रस लोभमें शरीर दे देते हैं । प्रेम मोहमें पाप ( अनुचित कार्योंकी ) परवाह नहीं की जाती है । २०६ ।

पथिक ! मधुमास देखकर मुझे मनमें विस्मय हुआ । मैंने जो रमणीयक छंद कहा उसे सुनो । २०७ ।

दुःसह दुस्तर गर्जमान मकरध्वजको, जो जलती हुई विरहाग्निकी तीव्र ज्वालासे उसी प्रकार आकुल है, जिस प्रकार वडवाग्निकी ज्वालासे समुद्र आकुल

सहवि दुसहु दुत्तर विचरिज्जइ सब्भयं,
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं ॥ २०८ ॥❀
किंसुयइ कसिण घणरत्तवास,
पच्चक्ख पलासइ धुय पलास।
सवि दुस्सह हूय पहंजणेण,
संजणिउ असुहु विसुहंजणेण ॥ २०९ ॥
निवडंत रेणु धरपिंजरीहि,
अहिययर तविय णवमंजरीहि।
मरु सियलु वाइ महि सीयलंतु,
णहु जणइ सीउ णं खिवइ तंतु ॥ २१० ॥
जसु नामु अलिक्कउ कहइ लोउ,
णहु हरइ खणद्ध असोउ सोउ।
कंदप्पि दप्पि संतविय अंगि,
साहार णाहु ण सहार अंगि ॥ २११ ॥
लहि छिद्दु वियंभिउ विरहघोरु,
करि तंडउ सुणिउ रडंत मोरु

---

रहता है और जो घनी तरंगोंके आवर्तसे उसी प्रकार भ्रमाकुल है, जिस प्रकार समुद्र हुआ करता है, सहकर भी सब लोग जोखिम उठाकर विचरण कर रहे हैं, किन्तु मेरा प्रिय मेरे स्नेहके लिए दुर्गम है, वह बिना किसी प्रकारके भय या जोखिमको उठाए, निर्भय होकर वाणिज्य कर रहा है। २०८।

किंशुकपर मानों कृष्ण घन रक्त ( काले गाढ़े रक्त )की वर्षा हुई है। पलाश निश्चित ही प्रत्यक्ष पलाश ( मांसाहारी ) है। प्रभञ्जनके कारण सब कुछ दुःसह हो गया है। सुखञ्जन ( सहजन ) भी असुख उत्पन्न करता है। २०९।

निरन्तर पुष्पपराग झड़ते रहनेसे धरा लाल और अधिकतर तप्त हो गई है। पृथ्वीको शीतल करती हुई वायु चलती है किन्तु वह शीत नहीं उत्पन्न करती, वह मानों ताप फैलाती है। २१०।

जिसे लोगोंने झूठा नाम दे रखा है वह अशोक आधे क्षणके भी लिए शोक नहीं हरता। कन्दर्प दर्प पूर्वक अंगोंको सन्तप्त करता है, सहकार अंगोंको सहारा नहीं देता। २११।

छिद्र ( अवसर ) पाकर घोर विरह जम्हाई लेता है, मोरोंका ताण्डव करके

सिहि चडिउ पिक्खि मायंदसाह,
सुणि पंथिय जं मइ पढ़िय गाह ॥ २१२ ॥
दूइज्जउ दूइय वरहिणीहिँ कयहरिस णट्टवरहम्मि ।
गयणे पसरियणवदुम घणभंती मुणिय पुण दुम्मं ॥ २१३ ॥
इह गाह पढ़िवि उट्ठिय रुवंत,
चिर जुन्न दुक्ख मणि संभरंत ।
विरहग्गि झाल पज्जलिअ अंगि,
जज्जरियउ वाणिहिँ तणु अणंगि ॥ २१४ ॥
खणु मुणिउ दुसहु जमकालपासु,
णव कुसमिहि सोहिउ दस दिसासु ।
गय णिवड णिरंतर गयणि चूय
णव मंजरि तत्थ वसंत हूय ॥ २१५ ॥
तहि सिहरि सुरत्तय किसणकाय,
उच्चरहि भरहु जणु विविह भाय ।
अइ मणहरु पत्तु मणोहरीउ,
उच्चरहिँ सरसु महुयर झुणीउ ॥ २१६ ॥

---

शब्द करना सुन पड़ता है। शिखीको माकन्द शाखापर चढ़े देखकर जो गाहा मैंने पढ़ी हे पथिक ! उसे सुनो। २१२।

नाट्य वर्हमें ( जो नष्ट विरहके समान है ) मयूरियोंको हर्ष करते हुए देखकर मुझे कष्ट हुआ। ( फिर मैंने सोचा कि ये आनन्द कल्लोल क्यों कर रहे हैं तो ) गगनमें प्रसरित नवद्रुममालाको मेघमालाकी भाँति देखकर मैं फिर दुखी हुई। २१३।

चिरजीर्ण दुखका मनमें स्मरण करती हुई विरहिणी यह गाहा पढ़कर रोती हुई उठी। उसके अंग विरहाग्नि ज्वालसे प्रज्वलित हो उठे और शरीरको अनंगने बाणोंसे जर्जरितकर दिया। २१४।

एक क्षणके लिए विरहिणीको यमके दुःसह काल पाश ( की वेदना ) का अनुभव हुआ। दसो दिशायें सुन्दर कुसुमोंसे शोभित हो गईं। गगनमें निबिड़ निरन्तर आम्रवृक्षोंका प्रसार हो गया। नव मंजरियोंसे वहाँ ( आकाशमें ) भी वसंत हो गया। २१५।

सुरक्तक वृक्षोंपर कृष्णकाया ( कोकिलायें ) विविध भावसे मानों भरतमुनि द्वारा बताए गए नियमोंके अनुसार ( गान ) उच्चारणकर रही हैं। अत्यन्त मनोहर ऋतु आ गई। मधुकर सरस ध्वनि करते हैं। २१६।

कारंड करहि तह कीर भाइ,
कारुन्न पउक्कउ तह कुणाइ ।
अइ एरिस मयणपरव्वसीउ,
कह कहव धरंती कट्ठि जीउ ॥ २१७ ॥

जलरहिय मेह संतविअ काइ,
किम कोइल कलरउ सहण जाइ ।
रमणीयण रत्थिहि परिभमंति,
तूरारवि तिहुयण बहिरयंति ॥ २१८ ॥

चच्चरिहि गेउ झुणि करिवि तालु,
नच्चीयइ अउव्व वसंतयालु ।
घड निविड हारि परिखिल्लरीहिँ,
रुणझुण रउ मेहल किंकिणीहिँ ॥ २१९ ॥

गज्जंति तरुणि णवजुव्वणीहिँ ।
सुणि पढ़िय गाह पिअकंखिरीहिँ ॥ २२० ॥

एआरिसंमि समए घणदिणरहसोयरंमि लोयंमि ।
अच्चहियं मह हियए कंदप्पो खिवइ सरजालं ॥ २२१ ॥

---

कीर प्रेम पूर्वक नृत्य करते हैं ( या नीड़ बनाते हैं ), वे कारुण्य प्रयुक्त शब्द करते हैं । ऐसेमें मदनपरवशा विरहिणियाँ अत्यन्त कष्ट पूर्वक किसी तरह प्राण धारण करती हैं ! २१७ ।

जल रहित मेघ कायाको संतप्त करते हैं । कोयलका कलरव कैसे सहा जाए ! रमणियाँ गलियोंमें घूमती हैं । तूर्य रवसे त्रिभुवन बहरा हो रहा है । २१८ ।

घन निबिड़ हार युक्त ( पहन कर ) नाना प्रकारकी आंगिक चेष्टाओंको करती हुई स्त्रियों द्वारा ताल करके चर्चरी गीत ध्वनिके साथ अपूर्व वसंत ताल नाचा जा रहा है । ( स्त्रियोंकी ) मेखलाओंकी किंकिणियोंका रुनझुन रव ( सुनाई पड़ता है ) । २१९ ।

नव यौवन तरुणियाँ गाजती है, अर्थात् प्रसन्न होती हैं । उसे सुनकर प्रियोत्कंठिताने यह गाहा पढ़ा । २२० ।

ऐसे समयमें, जबकि लोकमें दिन इतने रभसोत्कर ( उत्तेजक ) हो गए हैं, मेरे हृदयमें कंदर्प अत्यधिक ( तीव्रतासे ) बाणोंकी चोट करता है । २२१ ।

जइ अणक्खरु कहिउ मइ पहिय ।
घणदुक्खाउन्नियह मयणअग्गिविरहिणि पलित्तिहि,
तं फरसउ मिल्हि तुहु विणयमग्गि पभणिज्ज झत्तिहि ।
तिभि जंपिय जिम कुवइ णहु तं पभणिय जं जुत्तु,
आसीसिवि वरकामिणिहि वट्टाऊ पडिउत्तु ॥ २२२ ॥
तं पडुंजिवि चलिय दीहच्छि,
अइतुरिय इत्थंतरिय दिसि दक्खिण तिणिजाम दरसिय ।
आसन्न पहावरिउ दिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरसिय ।
जेम अचिंतिउ कज्जु तस सिद्धु खणद्धि महंतु ।
तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु (अणाइतु अंतु) ॥ २२३ ॥*

---

पथिक ! मैं सघन दुखसे उद्विग्न हूँ और विरहकी मदनाग्निसे प्रलिप्त ( पीड़ित ) हूँ । मेरे द्वारा उस अनक्षरके प्रति जो कुछ कहा गया है उसमेंसे कठोरताको त्यागकर विनय मार्गसे जो उचित पड़े वैसा ही कहना । ऐसा कहना जिससे प्रिय कोप न करे । जो उपयुक्त हो वही कहना । ( इसके बाद ) आशीष देकर वर कामिनीने बटोहीको बिदा दी । २२२ ।

उसे भेजकर दीर्घाक्षी अतिवेग पूर्वक चली । इसी बीच उसने दक्षिण दिशा की ओर ज्यों ही देखा उसे मार्गसे ढका हुआ जो ( मोड़के कारण दिखाई नहीं पड़ रहा था ) पति दिखलाई पड़ा । वह तुरन्त हर्षित होगई । जिस प्रकार आधे क्षणमें उसके कार्यकी अचिंतित महती सिद्धि हुई उसी प्रकार पढ़ने-सुनने वालोंके भी कार्य सिद्ध हों । अनादि अनन्त की जय हो ( या पाठकों और श्रोताओंके अनागत अंत ( क़यामतके दिन ) की जय हो ) । २२३ ।

# परिशिष्ट १

## अवचूरी

[ "ज" प्रति की अवचूरी नीचे दी जा रही है। प्रस्तुत अवचूरी अत्यन्त अशुद्ध संस्कृत में है। वह ज्यों की त्यों उपधृत की जा रही है।]

मा श्रूयतां। अपितु श्रूयतां।१०।

यदि मत्तंगजो दिग्गजः कवलदलबहलगंध दुःप्रेक्ष्यं झरति। अन्यच्च। ऐरापति ऐरावणो मत्तो भवति। तदा शेषगजाः किं मदं झरंतु मा माद्यंतु। अपितु माद्यंतु।११।

यदि पारिजातोस्ति। कीदृशाबहुविधं गंधाढ्य कुसुम आमोदः। सुरेन्द्रभुवने प्रफुल्लति। तर्हि शेषास्तरवो मा फुल्लंतु अपितु फुल्लंतु।१२।

यदि गंगा नाम नद्यस्ति सा त्रिलोके प्रगटित प्रभावा सागर सन्मुखा व्रजति तर्हि शेष सरितो मा व्रजन्तु। अपितु व्रजन्तु।१३।

यदि विमले विस्तीर्णे सरसि सूर्योद्गमे कमलिनी विकसति। तर्हि वृत्ति विलग्ना तुंबिनी बल्लिकी मा विकाशतु। अपितु विकाशतु।१४।

यदि भरतभावछंदे सा नवरंगिचंगिमातरुणी नित्यति। तर्हि ग्रामग्रथिला तालीशब्देन किं न नृत्यंतु। अपितु नृत्यंतु।१५।

यदि प्रचुर दुग्ध सन्मिश्रिता तंदुलानां क्षीरी उल्ललति। तर्हि धानकणीत्तुष-संयुक्ता खवडिया किं मा दडवड उमा शब्दं करोतु। अपितु करोतु।१६।

स्वकाव्यकरेण आत्मानमुत्साहयन्नाह।

या यस्य काव्ये शक्तिः सातेन लज्जां मुक्त्वा भणितव्या। यदि चतुर्मुखेन ब्रह्मणा भणितम् चत्वारो वेदाः कृताः, तर्हि अपरे कवयः किं कवित्वं मा कुर्वन्तु। अपितु कुर्वन्तु।१७।

कवित्वकरणे आत्मानं प्रोत्साह्य आत्मग्रंथस्य मनाग् रमणीयत्वं दर्शयन् अनौद्धत्येन रडबंधेन कवीन्नाह।

भो कवयः त्रिभुवने तन्नास्ति यद् युष्माभिर्न दृष्टम् न ज्ञातम् यच्चन श्रुतं। अतः सर्व्वविशेषज्ञानात्। युष्मत् कृतं विकटबंधं बिबिध विशेषं सुछंदं सरिसं श्रुत्वा अस्माकं मूर्खाणां स्पृष्टं कृतं काव्यं ललितहीनं ललितं वर्जितं श्रुत्वा कः स्थास्यति पुनः कः श्रोष्यति। अपि तु न कोऽपि। तर्ह्यग्रे कथं प्रवृत्तिस्तद् दृष्टान्तेनाह। यथा दुर्गतेः दरिद्रोपद्रुतैः छेकैः पत्राणि नागबल्ली दलान्यंलभमानैः पर्वतादौ बहुमूल्य-त्वात् शतपत्रिकाश्चाद्यात्। तथा ममकाव्यमपि पठिस्यंति।१८।

यस्याः प्रस्तारे आदौ पंचदशैकादश मात्रिकाणि पंच पदानि प्रान्ते दोधकः इति रड्डु लक्षणम् । दोधक लक्षणं अग्रे कथयिष्यते । ततः प्राञ्जलि निज ग्रंथ श्रवणार्थं पंडितान्नाह ।

भो बुधजनाः स्नेहं कृत्वा निजकवित्त विद्यायामाहात्म्यं प्रभावारूपं आत्मन रूपेण आत्मान मानेन पांडित्य प्रविस्तरणं मनुष्य लोके कौलिकेन तंतुवायुना प्रकाशितं कौतूहल भाषितं सर भावेन पामर जनेन मूर्खेण कृतं संदेश रासकं नाम कवित्व लक्षणं निःशब्दं कोलाहलं विहाय श्रुणत । ततो ग्रंथ पठनशीलस्य शिष्यामाह । १९ ।

यः कोपि समर्थः प्रज्ञावान संपतितं प्रातं इदं शास्त्रं पटति यस्य बुधस्य पंडितस्य हस्तं गृहीत्वा भणामि । ये जनाः पण्डितानां मूर्खाणां अंतर कुर्वन्ति जानन्ति । तेषां पुरतो एष न पठितव्यः यस्ते महा पण्डिताः । पद्धड़ी छन्दो यथा । २० ।

चत्वारिपादाः षोडश मात्रा आद्यार्द्धे उत्तरार्द्धे च यमकं ।

बुधाः मत्कृतेन काव्येन तिष्ठान्ति, न मनः कुर्वन्ति । अबुद्धत्वेन तत्र प्रवेशिनः न मूर्षाः न पंडिताः किंतु मध्यस्थाः तेषां पुरतः सर्व्वदैव पटतव्यः ।

अनुरागिणां रतिगृहं कामुकानां मनोहरं मदन मनस्कानां पथोदीपकरं । विरहिणीनां मकरध्वज रसिकानां रस संजीवन करं । विशुद्धंजनाः शृणुत । २१ ।

यतो तिस्नेहेन भाषितं रतिमतिवासितं । कर्ण शष्कुल्यौ यथा अमृतं अन्नचैतस्यार्थ लक्षणं स एव विचक्षणो लए भाव लिखति जानाति यः सुरति संगे विदग्धो भवति ना परः डोमिला छन्दो भवति । डुमिलाहि पयासण मत्त विसेसणय । लक्षण लक्षणात् गाथार्थः । २२ ।

## द्वितीय प्रक्रम

सा विक्रम पुरात् काचिदूरनायकाः उच्च स्थिर दृढ़ स्थूल कुचा भ्रमरी मध्यमध्यमार्ता राश्रगति विरहिणात्त्वत् दीनाननानैभयो दीर्घतर जल-प्रवाह प्रवहंती सती परदेश गतं प्रभुं पश्यति । पुनः की दृशी । तथा कनकांगया ? स्तथा श्यामलिमा प्रपन्नं । अतः उत्प्रेक्षात्कविः यथा ज्ञायतो ताराधिपतिः संपूर्णौ विडंवितो राहुणा ग्रस्त इति । तस्या विरहावस्थां व्यावर्णयन्नाह । २४ ।

लोचने उत्फुन्सति दुक्खार्ता रोदति धमिल्लोन्मुक्तमुखा विजृंभति । अंगं मोहयति विरहानल संतप्ता आश्वासति करशाखास्त्रोटति । एवं मुग्धा विलपंत्या महीचलणाभ्यां क्रामन् अर्द्धौद्विग्नेनगरमध्यं विहाय पार्श्वे एवं संचरन् पथि प्रवहन् पथिको दृष्टः । पथिकं दृष्ट्वा तया किं कृतमित्याह । २५ ।

तं पथिकं दृष्ट्वा पत्युत्कंठिता मंथर गमनं त्यक्त्वा यावदुत्सुक्यागत्या चलिता तावन्मनोहरं चलंत्या तस्याश्चपल रमणभर, त रसनां किंकिणीक्वणे प्रसरा त्रुटिता । २६ ।

छंदो यथा मत्त होहि चउरासी चहु पयचारि कल । सेविविहाण उछंदु केवि रासउ मुणहु ॥ एकविंशत्यामात्रिका चत्वारः पदाश्चिचतुकला त्रिषष्ठी योनयः पंच कल वर्जित्वा ॥ एतत् आभाणक छन्द लक्षणं ।

सा सुभग यावत्तां ग्रन्थौ स्थापयति तावता मुक्तामयी स्थूलावलि नव शर हार-लता त्रुटिता । ततस्तानि काचिन्मुक्ता फलान् संमीलयित्वा कानिश्चिदौ ? त्सुक्या त्यक्त्वा संचालिता । तावता नूपुरे चरणाभ्यां विलग्य पतितेत्यर्थः । २७ ।

यावत्पतित्वोत्थिता सविलासासल्लज्जासंज्ञसिता तावत श्वेतं स्वच्छं निवसनं शिरोवस्त्रं विवलसितं दूरीभूतं । तदपि संवरयित्वा पथिकप्रापनमनस्का यावत्सं-सृता तावता नेत्रपट्टवस्त्रमयं कूर्प्पासकं कंचुकं विदार्य कुचौ दरे छिद्रे विलग्नौ प्रकटौ जातावित्यर्थः । २८ ।

सा बाला सलज्जा पथिकं प्रति विरहिणीत्वं । करणं पद्मिनित्वात्सविलासं शब्दं कृतवती । किं कुर्वंती निजकराभ्यां कुचावाछादयंती । नु वितर्के कनक कलशा-विंदीवराभ्यामाछादिती । यतस्तस्या हस्तौ पुनः सकज्जल नेत्रस्पर्शात् आक्षालनाच्च श्यामलतां गतौ । ततो दीर्घनेत्रा सगद्गदगीर्धदना सन्निकटं प्राप्ता । २९ ।

निमेषार्द्धं सुस्थिरं यथा तिष्ठ-तिष्ठ मनस्यवधारयत् । किंचित्जल्पामि तच्छ्रव-णाभ्यां श्रृणु । क्षणं हृदये प्रसीद । तस्य एतानि वाक्यानि आकर्ण्य पथिकः कौतू-हलितः सन् न च क्रमार्द्धं निवृतो ना चाग्रे चलितः । क्षुब्धत्त्वात्तथैव संस्थितः इत्यर्थः । अतः परं पथिक चेष्टामाह । ३० ।

कुसुम शरायुध रूप निधिं विधिना गरिष्ठं कृतं तत्प्रेक्ष्यते पथिकेनाष्टो गाथा भणिता । ३१ ।

तस्या अलकाः शोभन्ते कीदृशाः अतिकुटिलामात्रया प्रधानाः यथा तरंगिणिषु शलिला कल्लोला विचक्रा कृष्णत्वेन अलिकुलकमला इव । ३२ ।

तस्या वदनं वासरनाथस्य प्रतिविंबमिव रराज । कीदृशं रजनी तमो विद्रा-वकः अमृतश्रावी संपूर्ण सोमस्य अकलंकमात्रा वासरनाथस्योपमानान्याः । ३३ ।

यस्याः लोचन युगं अरविंद दल दीर्घतरं रागाढ्यं शोभते । पिंडीर कुसुम पुंजवत् दाडिमी पुष्प गुच्छवत तस्याः कपोलौ दृश्येते । ३४ ।

तस्याः वाहुयुगलं अमरशर उत्पन्नं मानस सरसः संजातं मृणाल नलकं । मिथ्यश्रवर्ण कमलस्यभूमि मध्यस्थ दंडमिव कोमलं शोभते । तयोर्वाह्वोरंते यत् करकमलं तत् द्विधाभूतं पद्ममिवज्ञायते । ३५ ।

तस्याः कुचौ श्वजन खला इव शोभते। खलूपमानाह स्तब्धौ कठिनौ नित्योन्नतौ अप्रसूतत्वान्मुखरहितौ। तथा च संगमे स्वजन सदृक्षौ अंतरं वाह्यौ च अंगान्याश्वास यतः। अथावान्तर वाह्यांगं आश्वासयतः। ३६।

तस्याः नाभिमंडलं गिरिनद्योवर्त्त सदृशं गम्भीरं दृश्यते द्योततेव। अन्यच्च मध्य मर्त्यसुखमिव तुच्छं कदाचनेंद्रिय गोचरं कदाचन तरलगेत हरणं। अथवा तरलगतौ ह्यारिणं पदमिव।३७।

जालंधरी कदली तस्या जालंधरि स्तंभवत्। देशीत्वात्। कदली गर्भवत् उरू अतिरम्यं शोभतः च पुनः वृते नाऽतिदीर्घे तस्या जंघा सरसे सुमनोहरे राजतः।३८।

तस्याश्चरणांगुलयः पद्मरागखंडनीव शोभते। तथा च तासामंगुलीनामुपरि नखो पद्मरागोपरिस्थितो स्फटिकखंडानीव तथा च तास्वंगुलीषु उद्भग्नं कमल-नाल तंतुशदृशं रोमतरगं विचरत्। ३९।

विधिना शैलजा श्रृष्ट्वा तस्याः अंगानि तद्वत् ततोपि च सविशेषं यथा प्रगटितासि कृतानि। अतः आह। कः कवीन् दूषयति तद्विधिनापि पुनरुक्तं श्रृष्टं। तदनु किं कुत यथातदाह। ४०।

ततो गाथां श्रुत्वा राजहंसगत्या चलणांगुष्ठेन सलज्जि यथा उल्लिखत्या तया कनकांग्या पथिकः इति वालितः। हे पथिक क्व यास्यसि कुत आगतः। तत्पृष्टः पथिकः प्राह। ४१।

सामोरं मूलस्थानं नाम नगरं हे सरोरुहदलनयने हे कमलनेत्रे हे शशिधरवदने सामोरमूलस्थानं नाम नगरं वर्तते। धवलतुंगप्राकारैस्त्रिपुरैश्च मंडितं वर्त्तते। नागरजनैः संपूर्ण भरितं। तत्रकोपि मूर्खो न हि दृश्येत। सकलोऽपि जनो पंडितोस्ति। ४२।

यदि विचक्षणैः सह पुरांतः परिभ्रम्यते तदा मनोहर छंदसा मधुरं प्राकृतं श्रूयते। कुत्रापि चतुर्वेदिभिर्वेदः श्रूयते प्रकाश्यते वा। कुत्रापि बहुरूपकैर्निबद्धो रासको भाक्षते। ४३।

कुत्रापि सुदयवच्छकथा कुत्रापि नलचरित्रं कुत्रापि बिबिध विनोदैर्भारतं श्रूयेत। कुत्रापि आशिषा त्यागिभिर्द्विजवरैः भारतमुच्चार्यते। ४४।

केपिवंशवीणाकाहल मुरज शब्दान् आकर्ण्यंति। कुत्रापि प्राकृतवर्णैर्निबद्धो गीतरवः श्रूयते। कुत्रापि आकर्षणे सुखसमर्थाः पीनोन्नतस्तन्यः नर्त्तक्यः चल्लचल्ल शब्दं कुर्व्वंत्यः कुत्रापि परिभ्रमणं कुर्व्वंति। ४५।

यत्र नराः बिबिध नटनाटिकिभिः विस्मयंते यत्रवेश्याभिः वेश्यापाटके प्रवि-

शंतितो नीरोगणापि मूर्च्छेति । अन्या काश्चिद् वेश्या मदभिंभला गजगमना भ्रमति अन्या रत्नताडंकैः प्रतिबोलंत श्रवणा भ्रमति । ४६ ।

अपरा काचन् भ्रमति कीदृशी यत् तस्यां निवडोद्भर घनतुंगस्तनयो भारेण न त्रुटति तदाश्चर्यं अपरा काचित् केनापि सह निजक मदकौकुचभ्यां क्षिप्ततुच्छकज्जल तीर्यगस्थित लोचनाभ्यां दर मनाक् हसति । ४७ ।

अपरा कापि सुविचक्षणा विकंसती विमलनिर्म्मला हास्या भ्रमति । कीदृशी मन्ये शशिसूर्यं गंडयो निविष्टौ कस्याश्चन् मदनपट्टं कुचस्थलं मृगनाभिपंकांकितं वर्त्तते । अन्यस्या भालं तीक्ष्णेन तिलकेनालंकृतं वर्त्तते । ४८ ।

कस्याश्चनार्य स्तनपट्टशिखरे निष्ठुरे हारः प्रवेशमलयन् रत्नभारेण लोलति । कस्याश्चिन्नाभिविवरं गंभीरं कुंडलितं कुंडलाकारं वर्त्तते । पुनः कीदृशं नाभि विवरं त्रिवलीतरंग प्रसंगतो मंडलितमिव शोभते । ४९ ।

काचिद् रमणभारं गुरुविकटमतिस्थूलत्वात् कष्टेन विभर्ति । तस्याश्च-लंत्या उपानहाश्चमछब्दो अतिमंथरस्त्वरितं न सरति । अपरस्यामधुराक्षरं यथा जल्पंत्याः कामिन्याः हीरपंक्तिशदक्षो नागवल्लीदलारक्ता दशना शोभते । ५० ।

अपरस्या वरमुग्धायाः हंसत्या अधरदलं करकमलं बाहुजुगलं समं सोभाढ्यं वर्त्तते । तत्र कमलभ्रमो यथा । अधरंदल स्थानीयं करकमल स्थानीयं शरलं बाहुजुगलं दंडस्थानीयं । अन्यास्यापि नायिकायाः करांगुलीषु नखा उज्जला भांति । अपरस्याः कपोलौ दाडिम कुसुमदलौ कल्पते । ५१ ।

कस्याश्चिद् भ्रूयुगलं सन्नद्धश्लक्ष्णं भवति । मन्ये कोदंडसत्यं कमपि मदनेन चटाप्यते । एकस्यापि नूपुर युगले शब्दस्य घनो रवः श्रूयते अन्यस्याः रत्ननिबद्धः मेखला रुणझुणत्वकारः श्रूयते । ५२ ।

उपानहां चिक्कण शब्दः प्रवरं लीलंतीनां नायकानां प्रवर्त्तते । मन्ये नवशरदा-गमेन सारसेन रसितं । कस्याश्चित्क्वापि पंचमं कुर्वंत्या क्षीणो मधुरतरः स्वरो भाति स्म । मन्ये सुरप्रेक्षणे तुंबरेण श्वरः सज्जितः । ५३ ।

एवं कस्यास्तत्र रूपं पश्यतां पथि प्रवहतां पथिकानां नागवल्लीदलास्वादना-न्मुक्तरसेन पादास्खलंति । अथवहिः परिभ्रमणार्थं कोपि यदि निस्सरति तदा विविधोद्यानं दृष्ट्वा भुवनानि विस्मरंति । ५४ ।

अथ वनस्पती नामानि

अन्येपि शेषं महीरुहा वृक्षाः हे ससिवदनि ये संति तेषां नामानि हे कमलनेत्रे को वेत्ति अथ सर्व्वेपि संक्षेपेन निवडाघनानिरंतरास्संति । तेषां छायया दशयोज-नानि गम्यंते । ६४ ।

हे मृगाक्षि यत्र सामोरुपुरे तपनतीर्थे सूर्यकुण्डं प्रसिद्धं । चतुर्दिक्षु व्याख्यायते ।

तन्मूलस्थानं नाम प्रसिद्धं । सर्व्वैरपि नरामरैर्ज्ञायते । ततोहं लेखवाहकः एकेन प्रेषितः स्तम्भतीर्थे प्रभ्वादिष्टो व्रजामि । ६५ ।

सिंधोद्भववदना चंद्रमुखी सलिलोद्भवनयना कमलाक्षी एतानि वचनानि आकर्ण्य दीर्घोच्छ्वासं निश्वस्य करांगुली मर्दयित्वा सगद्गद्गीः प्रसरा वाताहता जालंधरी कदलीवत् चिरं मुग्धा थरहरिता कंपिता । ६६ ।

क्षणार्धं रुदित्वा नेत्रे मार्जयित्त्वा तया पुनरुक्तं । हे पथिक स्तंभतीर्थनाम्ना मम शरीरं जर्जरितं । तत्र विरहस्फेटको मम भर्ता वर्त्तते । तं विना मयाधिकः कालो निर्गमितः । परं स निर्द्दयो न समागतः । ६७ ।

हे पथिक यदि दयां कृत्वा क्षणार्द्धं पदं मोटयसि उपविशसि तदा किंचित् सन्देसकं प्रियाय तुच्छाक्षैरर्जल्पामि । पथिको भणति हे कनकांगि कथय रुदनेन किं । उद्विग्नमृगनेत्रे नितरां खिद्यमानो दृश्यते । ततो सा सलज्जत्वं प्रगटयंती प्राह । ६८ ।

यस्म निर्गमे विरहेनाहं रेणूत्करं भस्मपुंजं न कृता । अतस्तस्मै निष्ठुरेण मनसा संदेशकः कथं दीयते । यतः । ६९ ।

तेवार्थं दृढ़यन्नाह—

यस्य प्रवसंतो न प्रवसिता । अन्यच्च यस्य वियोगे न मृता अतस्तस्मै संदेशकं प्रियाय ददती लज्जे । ७० ।

हे पथिक लज्जां कृत्वा यदि तिष्ठामि तदा हृदयं धर्तुं न शक्नोमि अतः एकां गाथां प्रियं प्रति पठेः । करं गृहीत्वा प्रियं मनोयः प्रियं अनुकूल येतमाह । ७१ ।

हे नाथ त्वद्विरह प्रहार संचूरितानि अंगानि यन्न विघटते । तत्र किं कारणं । अद्यकल्ये संघटनं मेल इत्यौषध प्रभावेन तिष्ठंति । तद्वस्तु रक्षंती भर्त्ते आशिषा-माह । ७२ ।

अंग दहनभयादुच्छ्वासो न मुंचामि । ततः आशीः यथाहं वल्लभेन मुक्ता तथा स यमेन कृतांतेन मुच्यात् । ७३ ।

हे पथिक एतां गाथां प्रपठित्वा प्रिय मनायेः । पंच दोधकान् गुरुविनयेन सह कथये । ७४ ।

त्वां हृदयस्थितं मुक्त्वा त्वद्विरहानल संतप्ता यदि स्वर्गे व्रजामि तदा प्रतिपन्नं न भवति । यतोहं त्वत् सहचरी भार्याया भर्तृविरहकष्टे । भर्तुर्दूषणानित्याह । ७५ ।

हे कांत यदि त्वयि हृदयस्थितेपि सति विरहः काय देहं विडंबयति । तत्तवैव लज्जा । सत्पुरुषाणां परकृतः पराभवः संतापो मरणादधिकः । भर्तारं निंदति आह । ७६ ।

गुरुतरं पराभवं त्वयि पौरुषनिलयेपि सति किं न सहामि । अपितु सहा-

म्येव। यतः योरंगोस्तूं विलसितस्तान्यंगानि विरहेण दग्धानि। पुनर्भर्तृ पौरुषं प्रगटंत्याह। ७७।

विरहशत्रु परिग्रहेण शरीरे निरपेक्ष प्रहरितं परं हृदयं न प्रहतं। न स्फोटितं। किं कारणं। तद्युक्तं विलोक्य सामर्थ्यत्त्वात्। नान्यत्। आत्मनो समर्थतां भर्त्तुः समर्थतामाह। ७८।

मम विरहेण सह समर्थता नास्ति। अतो बिलपंती तिष्ठामि। यतो गोपालानां पूत्कारमेव प्रमाणं। परं धन गोकुलं स्वामिभिः भ्राम्येत। नान्यैः। आत्मनो दुर्व्वलतां दोधकद्वयेनाह। ७९।

हे पथिक संदेशकं सविस्तरं अहं कथयितुं न पार्यते। न समर्था। परं हे पथिक प्रियंप्रति भणेयः कथेयः एकस्मिन् वलके द्वौ हस्तौ समागतौ स्तः। ८०।

अथ एकोनाशीतिमस्य दोधकस्याधुना व्याख्यायते। हे पथिक संदेशकं सविस्तरं मया कथितुं न पार्यते न सक्येत। परं इति कथनीयं। यः करांगुल्यां मुद्रिका आशीत् स वाहु समायाति। ८१।

तस्मिन् क्षणे त्वरितं निजगगनमीप्सन् दोधको श्रुत्वा पथिकः कथयति। हे सुविचक्षणे अथ यत्किमप्यधिककथनीयमरित। तत्कथय। मया दुर्गो मार्गो गंतव्यः। ८२।

चंदायणच्छन्दलक्षण यथा :

सो चंदायणु छंदु फुडु जहि धुरि दोहा होइ
अह तिहि रहियउ मणहरणु बुहियण संसिउ सोइ
बुहियणि संसियउ सोविजणिज्जए-कामिणीमोहण पुरउ पढ़िज्जए
मत्त अडवीस सउजेणि वियरिज्जए सोविचंदायणो छंदुसलिहिज्जए

दोधकेनसह अष्टाविंशत्यधिकं शतं मात्राणां। दोधकेन विना अशीतिमात्रा प्रमितं मणहरनाम चन्द्रायण छंदः।

पुनः विरहावस्थां दरसयन्नाह

पथिक वचनं श्रुत्वा मन्मथशरव्याप्ता मृगायु आखेटकी सरोन्मुक्ता वितर्के हरिणीवदुस्थिता जाता। तदा दीर्घो स्वासं मुक्त्वा अन्यच्च उच्छ्वासंत्या निजनेत्राभ्यामश्रु वर्षंत्या एषा गाथा पठिता। नेत्रयोरविरल जलप्रवाहत्त्वमाह। ८३।

ममनेत्रे धृष्टो निष्टत्वलक्षणं। जलवर्षणेन न लज्जतः तदा किं विरहाग्निरूपशांतः तदाह। खंडव वन ज्वलनमिव विरहाग्निरधिकतरं तपति। यदा धनंजयः खांडव वनं ज्वालयितुं प्रवृत्तः। तदैको विद्याभृदागत्योपशमयितुं प्रवृत्तः। तदैव धनंजयेन तत्र विद्यतोग्निः क्षिप्तः। अधिकेददाह। ८४।

एतां गाथां पठित्वा अतिकरुणदुःखाकीर्णा उद्विग्नमृगनेत्रा पथिकस्य पुरतो

भणति । कठिननिश्वासमेवं विधं याद्रतं तस्य यदासासुखं तस्यं विघ्नं कारकाय तस्मै निर्घृणाय प्रियाय द्वे चतुःपदिके भणेः । ८५ ।

हे पथिक कपालेन चरंती कापालिकाः । तस्य संबोधनं । अहं तवविरहेण कापालिनी योगिनी कृता । कथं तव स्मरणं समाधौ मोहो विषमः समुत्थितः । मोहो मूर्च्छा मोहोस्नेह । ततः क्षणमपि कपालं वामकरान्नदूरीभवति । कपालं भिक्षुभाजनं कपालं मस्तकं । अन्यच्च । सज्जासनं न मुंचामि । शय्यायामासनं तथा खद्वागं न मुंचामि । खट्वांगं पल्यंकपादं योगियोगोपकरणं । ८६ ।

हे पथिक तं प्रियं वेद निशासु चरतीति निशाचर तस्य संबोधनं हे निशाचर मुग्धा तव विरहेण निशाचरी राक्षसीकृता । कथं । तेजोञ्झिसितं गतं । अंगं उद्घषितं । अलका विलुलिता । उब्बिवरवदना जाता । स्खलिता, विपरीता च गतिरभूत । कुंकुमं कनकशहक्षा कांति कालिमावृता । द्वितीयपक्षेप्येवं । ८७ ।

हे पथिक त्वं कार्याकुलः । उत्सुकः । लेखं लिखितुं न शक्नोमि । त्वं प्रियाय दोधकद्वयं गाथा प्रियाय भणे स्नेहं कृत्वा । विरहाग्नेरतिशायित्वं दोधकगाथाभ्यामाह । ८८ ।

हे पथिक प्रियमाह अहं एवं मन्ये विरहाग्नि वडवानलदुत्पत्तिः यत्स्थूलांश्रुभिः सिक्तः पडिल्ली देशीत्वादधिकं झगति ज्वलति । ८९ ।

हे पथिक प्रियं भणेः दीर्घोष्णैः श्वासैः सोष्यमाणासती सा प्रश्वताक्षी विपद्यते । परं यदिच्चेत् लोचनयोर्वाष्पभारैः ध्रुवं निश्चितं यदि सा न सिच्येत । ९० ।

पथिको भणति हे शशिधरवदने मां प्रेषय हे मृगनयने अथवा यत्किमपि कथनीयं तन्मम कथय । हे पथिक कथयामि किं न कथयामिव । परं कथयिष्ये तेन कथितेन एषावस्था कृता । ९१ ।

हे पथिक विरहकुहरे विरहगर्त्तायां येन अहं क्षिता । एवं कृत्वा क्षिता अर्थलोभात् । अकृतार्थिना एकाकिनी मुक्ता विरहगर्तायां क्षिता । संदेसकं सविस्तरः त्वं उत्सुकः परं तस्मै प्रियाय एकां गाथां एकां वस्तु डोमिलकं च वदे कथयेः । पूर्व सुखानुभवं स्मरयंती दुखं प्रगटयमाह । ९२ ।

तदा त्वयि निवडंत यथा निवेसित आवयोरंतरा हारो न संक्रांतः । इदानीं सागरसरीं गिरितरुदुर्गाश्च अंतरिता । विरहिणीनां विरह मनाक् सुखसंभावेमाह । तदा त्वं महान् दुखमाह । ९३ ।

या काश्चन् स्त्रियो निजदयितोत्कंठिता विरहाकुलित प्रियासंगे प्रसन्ना तत्संगमं व्याकुलिता भवंति । स्वप्नांतरे धन्यं तनुस्पर्शं आलिंगनं अवलोकनं चुंबनं दशनखडनं सुखं प्राप्नुंवति । हे पथिक तस्मै निर्दयाय एवं कथय । ममावस्थं त्व श्रृणु ।

यस्मिन् काले त्वं प्रवशितः तस्मात् लवा तत्क्षणात् मम निद्रा नास्ति। किं पुनः स्वप्नसंगमं सुखं। ग्रामो नास्ति कुतः शीमेतिन्यायात्। ९४।

वस्तुकच्छंद लक्षणं यथा

दो वेया सिहि जुयलं जुयाइ दुन्नि दुगं च वत्थूयउ

पनरस तेरस पनरस तेरस जुत्तो दिवड्ढ छंदो

चतुर्विंशति मात्रिकाणि चत्वारि पदानि पश्चात्पंचदश मात्रिकाणि त्रयोदश पंचदश त्रयोदश मात्रिकाणि चत्वारि पदानि। एष वस्तुक छंदः। अपरं नाम षटपदः। हृते सर्वस्वे किं कर्तव्यतामूढ़त्वमाह। ९४।

प्रिय विरहवियोगाय संगमसूचकाय रात्रिदिनं क्लिशयंतीति नितरामंगः शोषयंतीभि वाष्पानि मार्जयन्ती पथिक आत्मना निर्दयाय प्रियाय किं भणामि। परं त्वं त्वेवं वेदः यत्वां हृदये निवेश्य भावेन प्रेष्य मोहवशात् क्षणं तयोक्तं मम स्वामिनो वक्खरं रूपनामवस्तु विरहनाम तस्करो हृत्वा गच्छन्ति। प्रत्यहं तद्भण प्रिय कस्य शरणं व्रजामि। ९५।

एतत् डोमिलकमुक्त्वा चन्द्रवदना कमलनेत्रा निर्म्मेषा निष्पंदा जाता। न च किमपि कथयति। अपरं जनं नाप्रेक्षते। अत्र वितर्कौ भित्तौचित्रामलिखितैव सत्यार्ति शात्यर्थः। ९६।

उच्छ्वासंभमरुद्धनिश्वासया रुदितमुख्या मन्मथशरैः प्रतिभिन्नया अतिसंगम-सुखं स्मृत्वा तदनुगतोस्ति। वेत्ति ईषत् तिर्यक तरलाक्षिभ्यां पथिको दृष्टः मन्ये वितर्कें वा गुणशब्दोत्रस्तया कुरंग्या दृष्टः सः। अथ पथिकौ सौजन्यमाह। ९७।

पथिको भणति स्थिरा धीराभव क्षणं आश्वासय वरकिं पटी गृहीत्वा शशि-सम्पूर्णं मुखं मार्जिय। तद्वचनमाकर्ण्य विरहभरभग्नया सलज्जया वस्त्रांचलं आदाय मुखं प्रमार्जितं। आत्मनः सर्वथैवासमर्थतामाह। ९८।

हे पथिक किल इति संभावनायां मम वलं कदर्पेण समं न सिध्यति। यत्प्रिय निर्दोषेण दोषं विना रक्तो विरक्ता। तेन परवेदना न श्रुता न ज्ञाता। अतस्तस्मै खलाय निस्पृहाय एक मालिनी वृत्तं कथ्यते। अथ आत्मनो अवमर्शित्वमाह। ९९।

यदि विरतिवियोगे अहं श्वहृदयं नष्टसौख्यंमशास्यं। तदा यो रागो नवरंगे श्गेइमुद्दिमलंनाशीत तेनैकं कुंभं भृत्वा धारिष्यं। यतो हृदयं विरक्तं तत्र कुंभे षिप्वा स्वस्थमधारयिष्यंति। १००।

यदि वस्त्रं गतरंगं भवति तदा पुनः रंग्येत। अथ निस्नेहो अंगः शरीरं रौष्यं भवति तदा तैल्येन अभ्यंग्येत मर्द्यते। अथ द्रव्यं हार्यते पुनरपि जित्वा भिट्यते प्राप्येत हे पथिक प्रियस्य विरक्तं हृदयं कथं वर्त्तते। १०१।

पथिको भणति। हे प्रश्नताक्षि मनो धीरय मार्गे धरा लोचनाभ्यां बहु नीर

नितरां संवर । पथिका बहु कार्ये गच्छंति । तत्र परिभ्रमंति । अकृते निजे प्रयोजने हे सुंदरि न चलंति न व्याघुटंति । १०२ ।

ते च विदेशे भ्रमंति मन्मथ-शर-प्रहत-निज-गृहणीः स्मरंतो विरहेण वशीकृता दिवसरात्रौ निजदयिताशोकभरमसहंतो यथा यूयं तथा निरंतरं पथिका अपि क्षीयंते दुर्बला भवंति । १०३ ।

एतद्वचनमाकर्ण्य दीर्घतराक्षमदनोत्कौकुच्यया अडिल्ला पठिता । यदि कांतस्य मयि स्नेहो नास्ति । इत्यहं ताकं देशीत्वात् तर्कयामि । तथापि पथिक मम कांताय कार्यं संदेसकं साधय कथय । यदि विरहाग्निर्मम न कांतस्य अन्यच्च हृदयं मम ज्वालयति न कांतस्य । एकोर्थः । प्राकृत्वात् षष्ठी स्थाने चतुर्थी । यद् विरहाग्निर्ममध्यमानकांतं नासिकांतं यावत् नक्तान्तमाह । दिवसं रात्रिं प्रातः हृदयं ज्वालयति । द्वितीयोर्थः । अडिल्लछंदः । लक्षणं यथा । १०४ ।

हे पथिक अहं मदनायुध—बाधिता संदेशकं सविस्तरकं कथितुं न शक्नोमि परं इमं सकलं कांताय कथय । तमाह । अंगे भंगः नितरां अरतिः निशि उज्जागरः विह्लं-घलगतिः मार्गे चलंत्या आलस्येन । १०५ ।

धम्मिल्लस्य संवरणं कुसमैर्न रचितं । नेत्रयोर्धृतं कज्जलं कपोले मार्गे गलति । यत् प्रियाशासंगमे पलं मांसं देहे चटति तद्विरहाग्निना झलकितं भस्मीकृतं द्विगुणं झटति । १०६ ।

आसा (शा) जलेन सिक्ता विरहाग्निना ज्वलंती न च जीवामि न च म्रिये । किन्तु अग्निमिव धुक्खंती श्वसंती तिष्ठामि । अत्रांतरे पुनः पुनः मनो धीरयित्वा नेत्रे स्पृष्ट्वा फुल्लको भणितः । १०७ ।

हे प्रिय मम हृदयं स्वर्णकार इव वर्तते यथा स्वर्णकारः प्रियोत्कंठया अभीष्ट-लाभेच्छया स्वर्णमग्निना दग्ध्वा जलेन सिंचति तथा शरीरं स्वर्णं प्रियविरहाग्निना दग्ध्वा पुनः संगमाशाजलेन सिंचति । १०८ ।

पथिको भणति । व्रजतो ममामंगलं मा कुरु । रुदित्वा रुदित्वा पुनरश्रूणि संवर । सा प्राह । पथिक तवेप्सितं भवतु । अद्य गमनं सिद्ध्यतु । मया न रुदितं । विरहाग्नेर्धूमाधिकत्वाल्लोचनानां स्रवणं जातं । १०९ ।

पथिको भणति हे प्रसृताक्षि पथिक पुरतः किंतु वद । रविः दिनशेषं प्राप्तः । दयां कृत्वा मां विसर्जय । सा प्राह । हे पथिक व्रज तव पुनर्नवमांगल्यं भवतु । प्रियाय एकं अडिल्लं अन्यत् चूडिलकं च वदेः । ११० ।

तनुः दीर्घोष्णैः श्वासैः शोष्यते । अश्रुजलौघस्तु तस्मादुत्पन्नोपि न च शोष्यते इति महदाश्चर्यं । मम हृदयं द्वीपांतरे पतितं शून्यं जातमित्यर्थः । मन्ये पतंगो द्वीप मध्ये पतितः । सोपि म्रियते । मडिल्ल छंदः । १११ ।

उत्तरायणे दिवसा वर्द्धते रात्रयो हीयन्ते दक्षिणायने रात्रयो वर्द्धते न दिवसो। यत्र द्वावेव वर्द्धते तन्मन्ये एष तृतीयो विरहायनो जातः। द्वयोर्हानौ तुर्यः सुखायनः चकारात्। चूडियालक छंदः लक्षणं यथा। ११२।

हे पथिक दिवसो गतः स्थितशेषो जातः। गमनं मुच्यतां निशि अस्तमनं बोलयित्वा। दिवसे पुनश्चल्यतां। हे बिंबाधरे दिनबिंबज्योत्स्ना आतपः गतः गोसे प्रभातकाले ज्वलति। मयि औत्सुक्ये अतिकार्यं गम्यते। पुनः सा प्राह। यदि अस्मिन् स्थाने न तिष्ठसि तदा हे पथिक यदि गमनं इच्छसि तदा चूडिल्लकं च खडहडकं गाथां च प्रियाय भणेः। ११३।

हे प्रिय तव प्रवासे विरहाग्नेः फलं प्राप्तं इति गत्वा प्रियं भण। किं तत्। चिरंजीवी वरः प्राप्तः। यद् एकोपि वत्सरः संवत्सरतुल्यो जातः। ११४।

यदि अंगम् अनंगशरैः निभृतं यथाहितं यदि बाष्पजलौघः कपोले रतं नेत्रं यदि मनसि नित्यमपि मदनं जृंभति तथापि जीव्यते। ११५।

षडहड छंद लक्षणं यथा।

स गणा इय वीसय छंद धुयं भणियं
लहु चालिस बीस गुरू सुमणोहरयं रयणं।
खडहडणामे हि णिच्च प्रसिद्ध यथं
अइवल्लह णाम दुईय यतं कहियं॥

विंशति सगणा विंशति गुरवः चत्वारिंशत् लघवः। इति खडहडः। द्वितीयं नाम अतिवल्लभं।

तावत् हे पथिक निशि निर्वृतिर्न च। निन्द्रा कथं प्राप्तिः। यत् प्रियविरहिताभिः केचिद्दिवसा जीव्यंते। तदेवाश्चर्यं। ११६।

पथिको भणति हे कनकांगि यद् भवत्या सकलं कथितं अन्यत् यन्मया दृष्टं। तत् सविशेषं प्रकाशयिष्ये। हे पद्मदलाख्ये (क्षि ?) व्याघुट। निज भुवनं वांछय। अहमपि मार्गे प्रवर्त्तामि। मम गमनं मा भंजय। पूर्व्वदिक्षु (शि ?) तमः प्रसृतं। रविः अस्तमनं गतः। निशि कष्टेन गम्यते। मार्गो दुर्गमः समयश्च। ११७।

पथिकवचनं श्रुत्वा प्रेमवियोगितया क्षामोदर्या दीर्घोष्णश्वासो मुक्तः। तस्मिन्नवसरे अश्रुकणाग्रः कोपि कपोले तिष्ठति। तत् मन्ये विद्रुमपुंजोपरि मौक्तिकं शोभते। ततः प्रियप्रवासहता रोदिति विलपंती पथिकाय कथयति हे पथिक एकं स्कन्धकं दुवयं च प्रियं भर्तारं च वदेः। तमाह। ११८।

मम हृदयमेव रत्ननिधिः। तत्तव गुरुविरहमंदरेण नित्यं मथितं। उन्मूल्य सुखरत्नं समग्रं निष्काशितं। ११९।

दुपदी छंद लक्षणं यथा—

पढम गणे कलछक्कं चउकला पंचहुंति कमलंता ।
गुरुमज्झ सव्व लहुआ दुवईए वीअ छट्ठं सा ॥

मदनसमीरणेन विधूतो विरहानलः वर्तते । कीदृशः । दृष्टिस्फुलिंगैः निर्भ्भरः भृत इत्यर्थः । तीव्रं मम हृदये स्फुरन् ज्वलन् पुनः कीदृशो निरंतरज्वालादुर्द्धरः । पुनः अरतिरक्षायुक्तः मां परलोकाय प्रेरयति । तत् कुर्वंती तर्ज्जयति वर्द्धते । परमेतदाश्चर्यं । तवोत्कंठया सरोरुहं वर्द्धते । अत्रतु सरोरुहं श्वासः । ।१२०।

स्कन्धं द्विपदं च श्रुत्वा अंगं रोमांचितं । प्रेम नैव परिपतितं । पथिकः मनसि रंजितं । तं प्रति जल्पति । शृणु । क्षणं धीरा भव । हे शशिवदने किमपि पृच्छामि स्फुटं प्रकटं यदि प्रकाशयसि ।१२१।

नवघनरेखाविनिर्गत (:) निर्म्मलस्फुरत्करः शरद् रजन्यां प्रत्यक्षं अमृतभरं क्षरन् । एवंविधो यश्चन्द्रः तस्य जयनार्थं प्रियस्य संजनितसुखं । एवं विशिष्टं मुखं कं दिनमारभ्य विरहाग्निधूमेण झंपितं ।१२२।

वक्रकटाक्षतीक्ष्णाभ्यां मदनाकोचनाभ्यां एवंविधाभ्यां लोचनाभ्यां चरणकुन्द्रयां सारल्यं वर्त्तसे । जालंधरी कदलीवत् सकोमलं अंगं शोषयंती वर्त्तसे । हंससदृक्षा गतिः सरलां कृत्वा लीलयंती वर्त्तसे । प्रायः स्त्रियः सकामा वक्रगतयः ।१२३।

हे तरलाक्षि एवं पूर्वोक्तप्रकारेण त्वया भवत्या अंगं दुःखाय किमपि अर्प्यते । दुस्सहविरहकरपत्रेण अंगं किमिति कर्प्यते खंड्यते । हरिसुतस्य कंदर्पस्य क्षुरप्रैः कं दिनमारभ्य ते । तेन मनः प्राहतं । हे सुंदरि भण तव सुभगः भर्त्ता कस्मिन् दिने प्रस्थितः । १२४ ।

पथिक वचनं श्रुत्वा दीर्घाक्ष्या गाथाचतुष्कं पठितं । १२५।

हे पथिक आकर्णय । मत्प्रियप्रवासदिवसेन पृष्टेन किं । यस्मिन् सौख्यं त्याज्य दुःखाना प्रतिपक्षं प्राप्तं । १२६ ।

तावत्कथय तेन दिवसेन ज्वालितवियोगाग्निना स्मृतेन किं । यस्मिन् क्षणार्धमात्रे स गतः । अतस्तस्य दिवसस्य नाम मा गृह्णीयाः ।१२७।

यस्मिन् दिने स गतः तस्मात् दिनात् अस्माकं अनिर्वृत्तिः जाताः । निश्चितं हे पथिक अस्मात् हृदये कालः समयः काल इव परिणमति । १२८ ।

यत्र यस्मिन् दाघे अहं प्रियेण मुक्ता स ग्रीष्मः ग्रीष्मानलेण रौद्रविश्वानरेण दह्यतां । स ग्रीष्मः श्रीखंडशोषणेन शुष्यतु येन ग्रीष्मेन शोषिता । अतो ग्रीष्मं व्याचख्यासुराह । १२९ ।

## अतोग्रीष्मवर्णनं

हे पथिक नव ग्रीष्मागमे नाथः प्रवसितः तदैवावांजलिं कृत्वा हास्यनमस्कारं

कृत्वा सुखमपि प्रवसितं । तदनु व्याघुट्य विरहाग्नितापिततनुश्री बिसंस्थुला विह्लंघलमानसा गृहमागता । १३० ।

तथा अरतिं रणरणकिं असुखं च सहंत्या मम मदनार्त्ताया मलयसमीरणो दुस्सहो बभूव । तथा तरणिकरनिकरा विषमज्वालया ज्वलंतमहीतलवनतृणदाहकास्तां स्तपंतः । १३१ ।

वितर्कै र्चचलं नभस्तलं ज (य) मजिह्वावत् लहलहति । त्रडत्रड त्रडति धरा शुष्यते । शब्दं करोति । तेजो भरं न सहते । अत्युष्णं प्रभंजनो व्योमतले वहति । झंखरो डुंड्यालकनामा पवनः विरहिणीनामंगं स्पृष्ट्वा दहति । १३२ ।

युग्यम् । नवघनोत्कंठितैश्चातकैः प्रिय प्रिय इति शब्दो भण्यते स्म । तरङ्गिणीषु सलिलप्रवाहः तुच्छाच्छस्सरति स्म । अथ षट्सु पदेषु सहकारवर्णनम् । फलभारेणोन्नमितं शुभं सहकारवनमसितच्छायमधिकं शोभते । अन्यच्च—यत्र कुञ्जर श्रवणसदृशेषु गन्धवहेन प्रकम्पितेषु आम्रपत्रेषु चूतोत्कण्ठिता संसर्गिणी परिवारिता प्रघोलन्ती कीरपंक्तिर्वर्तते । ततः करुणध्वनिः समुत्थिता । तां श्रुत्वा अहं निराधारा जाता । तन्मन्ये हे पथिक सर्वरङ्गकेन अहं विरञ्जिता ।१३३।

हरिचन्दनं यावत् यत् शैत्यार्थे उरसि लेपितं तदप्यहिसेवितत्वात् कुचौ तापयति । तथा विविधं विलपन्त्या हारलतापि कुसुममाला च शैत्यार्थे उरसि न्यस्ते । ते अपि ज्वालां मुञ्चतः । ततो मरणशङ्किनी सभया जाता ।१३४।

निशि रात्रौ शयनीये शरीरसुखजनकं यत्कमलदलस्रस्तरणं कृतं तद्द्विगुणमुद्वेगं करोति । एवं शय्याया उत्तिष्ठन्त्या सलज्जया सगद्गदं यथा भवति तथा वस्तुको दोधकश्च मया पठितः ।१३५।

अरविन्दानि रविकरैर्विकसापितानि तपनगुणत्वात् तपन्ति इत्यपि अमृतमयूखो विषेण सह जन्मत्वाद् असुखं जनयति दाहयति च । चन्दनं भुजङ्गदशनैर्दष्टमतः अङ्गं क्षपयति । हारः क्षारोद्भवः अतोऽङ्गं क्षिपति । केषां कुसुमशरक्षतानाम् । राजीवचन्द्रचन्दनरत्नानि शिशिराण्युच्यन्ते, परं विरहाग्निज्वाला केनापि न विध्मामि । अतोऽङ्गानि परिहिंस्यन्ते ।१३६।

एतदलीकं यद् विरहार्त्ता तनुः शरीरं घनसारेण कर्पूरेण चन्दनेन चर्चयन्ती लिम्पयन्ती । पुनर्विरहाग्निः प्रियेणैव निर्भृतं विध्माति । इति ग्रीष्मवर्णना समाप्ता ।१३७।

## अथ वर्षा वर्णनमाह

—एवं ग्रीष्मो बहुतप्तः अत्युष्णः कष्टं कृत्वा मया निर्ग मितः तदनु वर्षा-

कालः प्रातः, धृष्टो न प्रियः। चतुर्दिक्षु घोरान्धकारः पवन्नो गुरुभरं प्रपन्नोऽम्बुधरो गगने सरोषं यथा गर्जति।१३८।

भयभीषणया एरावत्या विद्युतो गगनं द्योतयन्त्या ज्वालावद्देदीप्यमानया पगदण्डकश्चरणमार्गो दृश्येत। बब्बीहकाः सरसं रसन्ति नितरां जलेन तृप्यन्ति। अन्यच्च—नभसि नवघनतले गच्छन्ती बकानां श्रेणिः शोभते।१३९।

ग्रीष्मतपनं खरतप्तकिरणोत्कर्ष सम्बन्धि पयः पुष्करात् पतत् पुष्करीषु नदीषु न माति यतः सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः। तथा पर्व्व प्रवेशं च पथिकाः प्रयोभिः पदत्राणहस्ताः कृताः। गगने विद्युता करलः पगदण्डको दृश्यते नाऽन्यथा।१४०।

कल्लोलैर्निबिडलहरीघनान्तरसंसर्गेण दुस्तरैर्वरसरितासु गर्जितम् दिशः प्रवासतः स्थिताः। अथचेत् कार्यागमे प्रवासस्तदा नौभिर्गम्यते न तुरङ्गमैः पाठान्तरं।।१४१।।

धरा स्त्री मेघभर्त्रागमे यथा स्त्री भर्तृसङ्गमे श्रीखण्डविलेपनं करोति पार्श्वाच्छादयति सलज्जत्वात् तारायायतनेत्रे अलक्षे करोति आच्छादयति तमः प्रसरमीप्सति, कौसुम्भं वस्त्रं परिदधाति तथा धरास्त्री मेघभर्तृसङ्गमइति विचेष्टितमत्र भावः।१४२।

सलिलद्रहं त्यक्त्वा तरुशिखरे बकैरारूढम्। ताण्डवं नृत्यं कृत्वा शिखरिषु पर्वतेषु शिखण्डिभिर्मयूरैः रटितम्। सलिलेषु सालूरैः परुषस्वरेण शब्दितम्। कलकण्ठीभिः कोकिलाभिश्चूतशिखरमारुह्य कलकलशब्दं कृतं।१४३।

नागैः फणीन्द्रैश्च दशसु दिक्षु निबिडं यथा पन्था रुद्धः। महाविषैः पानीयैर्मार्गो असंबरो जातः। नीरतरंगभरेण पाडलदलपरिखण्डनं जातम्। हंसैः गिरिशिखरैः करुणस्वरेण 'उ' इत्यधिकं रुदितम्।१४४।

मत्सरभयात् गवांब्रजैः स्थले आरूढम्। गोपाङ्गनाभिर्मधुरं गीतं गीयते। हरिताकुलं धरावलयं कदम्बेन सुगन्धेति। अनंगेन ममधिकमङ्गभङ्गःकृतः।१४५।

विषमसज्जायां विलुलन्त्या अतिदुःखाकीर्णया अलिकुलमालाविनर्गतस्वरप्रतिभिन्नया अनमियनोद्विग्नया निशिजागर्तया निद्रामलंभंत्या मया वस्तुको गाथा दोधकश्च कृतः।१४६।

वर्द्दलेन तमसा अत्यर्थं झम्पित्वा आक्रम्य दशसु दिक्षु च वरं आकाशं छादितं। घन उन्नमितो घोरं यथा कृष्णाडंबरो घुरहरत्ति गर्जति।१४७।

नभोवल्लीविद्युत् नभोमार्गे तरले यथा तडत्कारं कृत्वा तडत्करोति। दर्दुराणां रटनं रौद्रं शब्दं कोऽपि सोढुं न शक्नोति। निबिडं निरन्तरं नीरधरं पथं मेघं दुर्धरधाररौघभरं हे पथिक कथं सहामि। अन्यच्च आम्रेस्थिताः कोकिला दुःसहं स्वरं रसंति।१४८।

हे पथिक ग्रीष्महविः पाउसे वर्षाकाले प्राप्ते सति धारानिवहेन मेघधारासमूहेन व्यापितः। परं मम हृदये एतदाश्चर्यं विरहाग्निरधिकतरः व्यापति।१४९।

गुणयुक्ता जलबिन्दूद्भवा मुक्ताहाराः किं न लज्जन्ते। यत् पथिक स्तनौ स्थूलाश्रुभिर्दह्येते परं न लज्जतः स्तब्धौ। स्तब्धानां कष्टेऽपि सज्जनानां दुःखं लज्जा च न भवति।१५०।

एतद्दोधकं पठित्वा विरहादलसयाऽतिखिन्नया मोहपरवशाया स्वप्नांते चिर प्रविसतः प्रियो दृष्टः। उपलक्ष्य करे गृहीत्वा मया एवं भणितः।१५१।

हे दयित किं सुकुलोद्गतानामिदं युक्तं यत्तडतडणतीव्रायां विद्युति घनघनमेघ शब्दसंकुले ईदृशे समये दयितां मुक्त्वा व्रजन्ति। १५२।

हे प्रिय प्रावृड् दुःसहा। कैः। नवमेघमालामालितनभसा धत्तू (?) रक्तदिशिप्रसरेण घनात्समुद्भूतैः सुरचाप-इन्द्रगोपकैः। किं विशिष्टैस्तैः। दिशिप्रसृतैः। पुनः किं घनच्छंनझंद्यें ? दुभिः। १५३।

रागरुद्धकंठाग्रा स्वप्ने प्रबुद्धे यदा पश्यामि क्व अहं क्व प्रियः। तं ज्ञात्वा यन्न मृता तन्मन्ये प्रस्तराङ्गी। यज्जीवो न निर्गतस्तन्मन्ये पापजटितः। यच्च हृदयं न स्फुटितं तन्मन्ये वज्रघटितम्। १५४।

ईषत्स्वरेण शालूरवद् मण्डूकवत् करुणस्वरं कुर्वन्त्या निशः पश्चिमप्रहरे एष दोधको मया पठितः। १५५।

हे यामिनि यत् तव वचनीयं तत् त्रिभुवनेऽपि न भाति। दुःखे चतुर्गुणा भवसि। सुखे क्षीत्वा क्षीयसि। १५६।

## अथशरद् वर्णनमाह

एवं विलवन्त्या गीतं रागेण गायन्त्या प्राकृतं पठन्त्या वर्षाप्रान्तदिनं प्राप्तम्। यस्मिन् रजनी रमणीकेव गीयते, सा रजनी मया अरमणिरिव करपत्रमिवज्ञाता। १५७।

एवं प्रियागमाशया जीवन्त्या गोसे प्रभाते सिज्जासनं (शय्यासनं) मुक्त्वा विरहनाशनं प्रियं स्मरन्त्या जागन्त्या रात्रिनिर्गमिता।१५८।

पत्याश्रितत्वाद् दक्षिणमार्गं भक्त्या पश्यन्त्या अगस्तमहर्षिः झटिति शीघ्रं दृष्टः। ज्ञातं वर्षा परिगमिता। परदेशे स्थितः प्रियः स न रमितः।१५९। इति वर्षा वर्णनं समाप्तं (?)।

बलाहका गगनं विदार्य गता। रजन्यां मनोहराणि ऋक्षाणि प्रलोकितानि। फणीन्द्राणां पाताले वासो जातः। चन्द्रस्य ज्योत्स्ना निर्मला स्फुरिता। १६०।

शत्रपत्रैः सरोवरेषु सलिलानि शोभन्ते । तरङ्गिणीषु गच्छन्तस्तरंगाः शोभन्ते । या च नवसरसां ग्रीष्मेण शोभा हृता सा शरदि चटिता । १६१ ।

हंसैः कमलकन्दोत्कंठितैस्तेषां रसं पीत्वा मनोहरकलकलः कृतः । शतपत्रैर्भुवनं भृतम् । जलप्रवाहस्तीर्थे स्वस्थाने पतितः । १६२ ।

धवलित धवलशंखसंकाशैः सदृक्षैः सत्काशैः सरसां तटाः शोभन्ते । निर्मलनीर सरसां तटा विहंगमपंक्तिभिः प्रविशद्भिः शोभन्ते । १६३ ।

सलिलैर्विमलैः प्रतिबिम्बं दृश्यते । कर्दमभारश्च मुक्तः क्रौंचं सहामि मरालागमे च मरामि । १६४ ।

सारसाः सरसं रसन्ति । तदा मयोक्तं—हे सारसि ममजीर्णदुःखं किं स्मारयसि । केषु सत्सु । जलेषु क्षयत्सु सत्सु खद्योतेषु द्योतत्सु । १६५ ।

हे सारसि निष्ठुरं करुण शब्दं मनोमध्ये लव । विरहार्त्ता स्त्री तव शब्देन गतमहोत्सवा भवति । एवं एकं प्रति करुणशब्दं भणन्त्या तथापि कोऽपि न धीरयति । १६६ ।

यासां स्त्रीणां सन्निधौ गृहे कान्ताः सन्ति ता रथ्यासु रासं रमन्त्यो भ्रमन्ति । विविधाभरणैः शृंगारं कृत्वा चित्रविचित्रैस्तदनु पंगुरणैर्वस्त्रैश्च । १६७ ।

गवासने तुरंगमशालासु नार्यो भालस्थले तिलकं तीक्ष्णं कृत्वा कुङ्कुमचन्दनाभ्यां तनुमर्चयित्वा सोरण्डकं क्रीड़ाभाजनं कृत्वा दिव्यं गीतं गायन्त्यो गुरुभक्तिसहिता धूंप ददति । तं सोरण्डकं दृष्ट्वाऽहमुद्विग्ना जाता । यतो नेच्छा पूर्णा जाता । १६८–१६९ ।

ततो दिशोऽधिकविचित्रा दृष्टा । अहं एवं जाने हुताशने न प्रक्षिप्ता । १७० ।

सकाषाया (नवभिसाहारः) शुद्धगला धृतराष्ट्राश्च रथाङ्गाश्च जले रसन्ति । गतिं चमत्कारकारणं कुर्व्वन्ति । शरच्छ्रियो मन्ये नूपूरं क्षीणस्वरं यथा वर्तते ।१७१।

अश्विनि मासे पदस्खलितवेन विकटासु महानदीषु सारसेन स्वरं कृत्वा दुःखं यथा पुनरुक्तं रोदिता । १७२ ।

शरत्काले शशिज्योत्स्ना या निशासु धवलगृहाणि वरतुंगप्राकाराणि च मनोहराणि जातानि । तदैव प्रियवर्जितायां मयि शय्यायां लुलंत्या यमकुट्टसदृक्षं-अन्तकप्रहारसदृशं यथा विहितम् ।१७३।

अथ कार्तिकं । यासां स्त्रीणां नरा रमन्तो वर्तन्ते ताभिर्भ्रमन्तीभिः सरसां तटाः शोभन्ते । बालका वर जुवानाः (युवानः ?) क्रीडन्तो दृश्यन्ते । गृहे गृहे पटहा वाद्यमाना दृश्यन्ते ।१७४।

दारकाः कुण्डलं कृत्वा मुखं वादयंतो । रथ्यासु भ्रमन्ति । तरुणीजनसार्थे सिज्या (शय्याः ?) शोभंते । गृहे गृहे प्रलिप्ते रेखा रम्यते ।१७५।

निशि रात्रौ दीपमालिकायां दीपाः प्रदीयन्ते। नवशशिरेखासदृशादीपाः करे गृह्यन्ते। तरुणज्योतिष्कैर्दीपैर्गृहं मण्डितं। इष्टाञ्जनशलाका अक्षिषु ददति ।१७६।

नानाविधैः कृष्णांबरैः तथा रचितघनवक्रअनेकविधिपत्रवल्लरीभि स्त्रियः शोभन्ते। मृगनाभिना मदनपट्टं हृदयं चर्चितं। तथा चक्रावर्तौ पयोधरौ च ।१७७।

सर्वांगं घनघुसृणविलुतं मन्ये कन्दर्पेण शरेषु विषं क्षितं। कुसुमभारः शीर्षोपरि सज्जितः मन्ये कृष्णघनगोपुरे चन्द्रस्यास्थानं जातम् ।१७८।

नागवल्लीदलानि कर्पूरबहुलानि मुखे क्षिप्तानि, अहमेवं मन्ये प्रत्यूषे रविः प्रबुद्धः। प्रसाधना रहसोच्छलेन क्रियते ।१७९।

एवं काश्चन् भाग्यवत्यः केलिं कुर्वन्ति। मया चोद्विग्नया रात्रिर्गमिता। गृहे गृहे गीतं प्रधानं वर्तते। एकं च समग्रं कष्टं मम प्रदत्तं ।१८०।

हे पथिक पुनरपि चिरप्रवसितः प्रियः स्मृतो निजमनसि, तथैव सूर्योद्गमं ज्ञात्वा घनजलवाष्पान् बहून् मुक्त्वा मया तदैव। "तु" इति वितर्के। अडिल्ला वस्तुकश्च पठितः ।१८१।

निशि प्रहरार्धमपि न निद्रीयते। प्रियकथायां जप्यमानायां नाऽऽनन्द्यते आत्मा निमेषार्धमपि रतये न दीयते। कामतप्ता विद्धा न दीर्यते ? अपितु दीर्यते ।१८२।

हे पथिक किं तस्मिन् देशे चन्द्रज्योत्स्ना निशि रात्रौ निर्मला न स्फुरति। अथ तस्मिन् देशेऽरविन्दानां फलसेविनो राजहंसाः कलरवं न कुर्व्वन्ति। अथवा सुललितभाषया प्राकृतं कोपि न भणति। अथ कापालिकप्रियभावेन पञ्चमरागं कोपि न करोति। अथ प्रत्यूषे उच्छ्वसितविकस्वरघनकुसुमभरो न परिमलायते। अथैवं ज्ञातं हे पथिक प्रियो नीरसो यः शरत्काले गृहस्य न स्मरति। इति शरद्वर्णनम् ।१८३।

## अथ हेमन्तवर्णनम्

सुरभिगन्धरमणीका शरदियं व्यतिक्रान्ता। पथिक मतिधिष्टेन धृष्टेन पतिना गृहं न स्मृतं। एवं करुणया मदनशरप्रतिभिन्नया धवलगृहाणि तुषारभरश्वेतानि दृष्टानि ।१८४।

हे पथिक विरहाग्निना तडतडेति शब्दं यथा सर्वांगं ज्वालितम्। कन्दर्पेण धनुषा कडयड इति शब्दं यथा शराः प्रमुक्ताः। ततः शय्यायां दुःखार्ता जाता। यतो मनोहरः सबरो निधर्मः परमण्डले भ्रमन् कापालिको नागतः ।१८५।

तथा च नाथोत्कंण्ठिता अनिवृत्तं निरन्तरं दिशिप्रसरं पश्यन्ती वर्तते। तदेवाह

हेमन्तः तुषारभरं कुशलेन ज्ञात्वा ढौकयामास। भुवने शीतलानि जलान्यनादराणि जातानि। सकलानि कमलदलानि स्वस्तराद् दूरीकृतानि।१८६।

सैरन्ध्रीभिर्घनसारं चन्दनं च न पीष्यते। अधरकपोलालङ्करणे मदनं संमिश्र्यन्ते। श्रीखण्डवर्ज्जितं घुसृणं कुंकुमं तनौ लेप्यते। चम्पकतैलं मृमनाभिना समं सेव्यते।१८७।

जातीफलेन सम्ं कर्पूरो न लिप्यते। पूगीफलानि केतकीवासः प्रगटी न दीयते। भुवनोपरि विभागं परिहृत्य यामिनीषु उपवरकं सुप्यते। कामिनीभिः पल्यङ्काः विस्तार्यन्ते।१८८।

अगरं धूप्यते। घुसृणं तनौ लिप्यते। गाढ़ालिंगनमंगेषु सुखायते। अत्रदिवसप्रमाणैरेते दिवसाअंगुलिमात्राः स्तोकमात्राः। ममैकस्याः परं वर्षाणां ब्रह्मयुग्गमिति निविष्टं मन्ये।१८९।

हे पथिक गृह एकाकिन्या विलपंत्या निद्रामलभन्त्या निशि दीर्घतरं वस्तुकः पठितः।१९०।

हे निरक्षर दीर्घोष्णश्वासैदीर्घा रजन्यो गताः। हे तस्कर निर्दय त्वां स्मरन्त्या निद्रा नागता। हे धृष्ट अंगेषु तव करस्पर्शमलभन्त्या ममाङ्गं हैमन्तेन धाम्ना हेमसदृशं शोषितम्। हे कान्त एवं हेमन्ते विलपन्ती मां व्याघुट्य यदि नाश्वासयसि तर्हि तस्माद् कारणाद् हे मूर्ख खल पापिन् मयि मृतायां अविद्यागत्य किं करिष्यसि।१९१।

## अथ शिशिर वर्णनम्

हे पथिक एवं मया हेमन्तर्तुः कष्टेन निर्गमिता। तावत् शिशिरधूर्तः प्राप्तः। खरपरुषपवनाहतो गगने झखडो महद्वातः उत्थितः। तेन सूडिता सन्तः अशेषास्तरवः पत्राणि मुक्त्वा गताः स्थिताः।१९२।

छायापुष्प फलरहिताःकेवलं शकुनिगणरहिता वृक्षा जाताः। दिशस्तुहिनेन धूम्रभरेण च तिमिरेण चान्तरिता जाताः। पथिकानां मार्गा भिन्नाः। हिमभयान्न प्रचलन्ति। उद्यानेषु गतकुसुमा वृक्षा ढङ्करवजाताः।१९३।

केलिगृहेषु कान्तान् मुक्त्वा कान्ता हिमभयेनाग्निं शरणं श्रयन्ते। भवनमध्येऽपवरके केलिरसमुपभुंजन्ते। केपि चोद्यानद्रुमेषु न स्वपन्ति।१९४।

मात्रायुक्तः अधिको गन्धोत्कर्षो विविधसंस्थापितो रसिकैरिक्षुरसः अर्धावर्तः पीयते। कुंदचतुर्थ्यां प्रवरेसेव काश्चन सीमन्तितन्यः पीनस्तन्यो निजस्त्रसारे लोलन्ति।१९५।

काश्चन ऋतुनाथ वसन्तोत्पत्तिदिने माघसुदिपंचम्यां ददति दानम्। निज-

वल्लभेन समं केल्यर्थं शय्यायां यान्ति। अस्मिन्नेकाकिन्या प्रेमग्रथिलया मनोदूतः पतिं प्रति प्रहितः ।१९६।

हे पथिक मया ज्ञातं एष मनोदूतः प्रियमानीय मां संतोषयिष्यति। मया न ज्ञातमेष खलो धृष्टो मनोदूतो मामपि मोक्ष्यति। प्रियो नागतः। एवं दूतं गृहीत्वा तत्रैव स्थिता। परमेतत् सत्यं मम हृदयं दुःखभारेणाधिकं शीतं ।१९७।

प्रियसंगमलाभमिच्छन्त्या मम मूलं नष्टम्। हे पथिक शृणु यद् वस्तुको विलपन्त्या पठितः ।१९८।

निजघनं दुखं ज्ञात्वा नाथं प्रति प्रहितः। नाथस्तेन नानीतः सोपि तत्रैव रतो यातः। एवं शून्यहृदयं यथा भ्रमन्त्या रजनी विभाता। अनिरूपितं कार्यं। अतोऽवश्यं मनसि पश्चात्तापो जातः। मया हृदयं दत्तं परं प्रियो न प्राप्तः। एषोपमा कथय केन समम्। तदाह शृंगार्थे गर्दभी गता पश्य श्रवणौ हारितौ। इति शिशिरवर्णनम्।

## अथ वसन्तवर्णनमाह

शिशिरो गतः मधुमासः प्राप्तः। वियोगिनां मदनाग्निः विस्फुरयन्निरंतरं मलयाचलः समीरणो वायौ ।२००।

हे पथिक यो वसन्तः सम्यक् केतकी शुभ्रं विकासं सम्यक् केतकी शुभं विकासं जणति उत्पादयति। पाठान्तरम् हे पथिक यो वसन्तो जनस्य तनुं संकोचयति प्रकटं सुखं जनयति। दशसु दिक्षु रम्यः विहसन् रम्यो जातः। नवकुसुमानि पत्राणि च विविधवेषाणि जातानि। रतिविशेषेण नवसरांस्यतितरां शोभन्ते ।२०१।

सखीभिर्मिलित्वा नित्यं गीतं गायन्तीभिः तनुर्बहु यथा चर्चितः। केन विविध-रागेण। पुनः कैः श्वेत सर्वरक्तपुष्पाडम्बरैर्घनमनोहरैः पङ्कुरणैश्च ।२०२।

बहु यथा गन्धामोदो महमहितः। मन्ये तरणिना सूर्य्येण शिशिरशोकस्त्यक्तः। पाठत्रयः पुरुषहिताभिस्तरुणीभिः स्त्रीभिः। तं प्रेक्ष्य वल्लभीनां सखीनां मध्ये मया लङ्कोडकः पठितः ।२०३।

अतिदुःसहो ग्रीष्मो निर्गमितः। वर्षा चोद्विग्नया निर्गमिता। शरदतिकष्टेन गता। हेमन्तः प्रपन्नः प्राप्तः। शिशिर फरस कठिनः बोलीनः। कथमपि रुदन्त्यैव दुःखकरो नाथं स्मरन्त्या गमितः ।२०४।

नु इति वितर्के तरुवरैर्नव किसलयकरैर्मधुमासलक्ष्मी शय्यते स्म। वने वने भ्रमराः रुणुरुणायंते, केतकीकलिकारसगन्धलुब्धा। २०५।

केतकीनां परम्परं मिलितैः कण्टकैर्विध्यन्ते, परं तथापि मधु लिहो मधुलिहन्ति।

कण्टकाग्राणि तीक्ष्णानि न गणयन्ति । तनुः रसिकेभ्यो रसलोभेन दीयते, प्रेममोहेन पापो न गण्यते ।२०६।

मधु प्रेक्ष्य मनसि विस्मयो जातः । हे पथिक श्रृणु खंनीक रूपं कथितं ।२०७।

प्रज्वलन्तविरहाग्निस्तीव्रज्वालाकुले मकरध्वजेऽपि गर्जन् लहरी घननिबिड-प्रभाकान्त्याकुले दुःसहे सहित्वा यथानुसरं विवर्ज्जते भ्रम्यते । मम स्नेहस्य किमपि दुर्गं निर्भयं यथा वणिज्यते व्याप्रियते ।२०८।

किंशुकं पुष्पं कृष्णघनवर्षासदृशं जातं । अतो मन्ये पलाशः प्रत्यक्षं पथपलाशः राक्षसः । सर्वे प्रभंजनेन पवनेन दुःसंह जातं सुहृञ्जजेननासुखं जनितं ।२०९।

नवमंजरीभिर्निपतद्रेणुना धरा पिञ्जरिताभिरधिकतरं तापिता । मरुच्छीतलो महीं शीतलयन् वाति । परं शीतं न जनयति । मन्ये किं तापं क्षपति ।२१०।

यस्यनाम लोकोऽशोक इति कथयति तदलीकं । यतो अशोकः क्षणार्धमपि मम शोकं न हरति । कन्दर्पदर्पसंतताङ्गीं मां नाथ एव साधारयति न सह कारः ।२११।

हे पथिक छिद्रे लब्ध्वा घोरो विरहो विजृम्भितः । मयूरस्ताण्डवं कृत्वा रटन् श्रुतः । शिखी मयूरो माकन्दशाखायां दृष्टः । हे पथिक श्रृणु या गाथा मया पठिता ।२१२।

हे पथिक वर्हे कृतहर्षाभिर्विरहिणीभिः मयूरीभिः । गगने प्रसरितनवद्रुमैः घनभ्रान्तिं ज्ञात्वा पुनर्दूये ।२१३।

हे पथिक एनां गाथां पठित्वा रुदन्ती उत्थिता । चिरं जीर्णदुःखं मनसि संभार-यन्ती । विरहाग्निज्वाला अङ्गे प्रज्वलिता । अनङ्गेन बाणैस्तनु जर्जरितम् । २१४ ।

क्षणं ज्ञातं यमकालपाशो दुःसहः । वरः प्रधानः कुसुमैर्दशाऽपि दिशः शोभन्ते । चूताः आम्रा निबिडाः निरन्तरा गगनं गताः नवा मञ्जर्यस्तय वसन्ते जाताः । २१५ ।

यस्मिन् समये नानाप्रकारैर्भरतभावं उच्चरन्ति तस्मिन् सुरक्तकवृक्ष शिखरे अत्यन्तमनोहरः समयः प्राप्तः । मधुकराः भ्रमराः सरसं सुमनोहरं शब्दं उच्चरन्ति । २१६ ।

तत्र वसन्ते कीराः शुकाः कारण्डकं नीरं कुर्व्वन्ति । तत्र कारुण्यप्रयुक्तं यथा कुर्व्वन्ति अइ अतिकोमलामंत्रणे । ईदृशे समये मदनपरवशाजीवं कष्टेन धरन्तीव । २१७ ।

जलरहितमेघैः काकाः सन्तापिताः । कोकिलानां कलरवः कथं सोढुं शक्येत । रमणीगणा रथ्यामार्गेषु भ्रमन्ति । तूर्यस्वरेण त्रिभुवनं बधिरीयते । २१८ ।

चच्चरे हट्टमार्गे गीतं नृत्वा, तालध्वनिं कृत्वा अपूर्वो वसन्तकालो नृत्येत । घननिबिडहाराभिः परिखेलन्तीभिर्मेखलाकिङ्किणीभी रुणझुणरवः क्रियते । २१९ ।

नवयौवनाः स्त्रियो गर्जन्ति । पतिकाङ्क्षया मयैषा गाथा पठिता । २२० ।

एतादृशे वसन्तसमये दिवसे घनं यथा रहसोत्करे लोके च याते सति कन्दर्पो मम हृदये अधिकतरं शरजालं क्षिपति । २२१ ।

यत् पथिक मया घनदुःखापूर्णया मदनाग्निना विरहेण च प्रलितया अनक्षरं कथितम् तत् कठोरकं परिहृत्य विनयमार्गे यथा झगिति भणेः । तथा कथयेः यथा न क्रुप्यति । तद्भणेः यद्युक्तं भवति । एवं कथयित्वा वरकामिन्या आशिषं दत्वा पथिको गमनार्थं प्रयुञ्जितः । २२२ ।

सा दीर्घाक्षी यावत्तं प्रेषयित्वा प्रेष्य अति त्वरितं चलिता । अस्मिन्नवसरे दक्षिणदिशि दृष्ट्वा तदैवासन्नं यथा पन्थानमावरन् तथा पतिर्दृष्टः । हर्षिता झगिति शीघ्रं जाता । अथ आशीर्वादं ग्रन्थकर्ता भणति यथा अचिन्तितं कार्यं तस्याः क्षणार्धमध्ये महत् सिद्धम् तथा पठतां शृण्वतां सिद्धयतु । अनाद्यनन्तपरमपुरुषो जयतु ।

इति श्री सन्देशरासकं समाप्तं । शुभं भवतु ।

सं० १६०८ वर्षे वैशाषसुदि १४ रविदिने श्री सरस्वतीपत्तने पातिसाह श्री इसिलेम स्याहि बिजयराज्ये । श्री बृहद्गच्छगगनांगण भास्कराणां पूज्याराध्य श्री श्री उदयराज्यसूरीद्रांणां विजयराज्ये । पू० श्री श्री श्री संयमराजसूरि शक्राणां विनेयेन वाचनाचार्थं श्री माणिक्यराजमिश्रवरैरालिख्यि स्वपठनाय विचारचतुरैः सुयुक्त्या शोध्यं । यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया । यदि शुद्धमुद्धं वा ममदोषो न दीयतां । शुभं भवतु लेखक पाठकानां श्रोतॄणां च । मांगल्यमस्तु । श्रीरस्तु । श्रीः ।

कुचावलोक्य तन्वंग्याः शिरः कंपयते युवा । तयोरंतर्निमग्नं हि दृष्टिमुत्पाट्य न्निव । इह पोथी हरष कीरति पा सि० साह आपणा पढिवाकै अर्थि संवत १७२० मिती वैसाष सुदि ५ सांगानेरि मे साः ? ? ? श्री श्री 'इह' पोथी पत्र ३१ अंके इकतीस पत्र इह पोथी का छै श्री श्री ।

# अर्थ-सूची

अ

अंग

अंगभंग = देह का टूटना

[अं] गुट्ठ = अँगूठा

अंगुल

अंचल

[अं] जुलि = अंजलि

अंतर = अंतराल, अभ्यंतर

[अं] तरिदय = अंतरित, अलग, दूर

[अं] धार = अंधकार

अंसु = (१) अंशु, किरण (२) अश्रु

अ = और

अइ = अति

अइ उन्हय = अति उष्ण

अइ खिन्नि = अति खिन्ना

अइ णेह = अति स्नेह

अइत्थि = अगस्त्य (नक्षत्र)

अइ दुग्ग = अत्यन्त दुर्गम

अइ धिट्ठि = अत्यन्त धृष्ट

अइ मणहर = अत्यन्त महोहर

अइ मल्हिरय = अत्यन्त लीलायुक्त

अइरावइ = (१) ऐरावत, (२) विद्युत्

अइसच्छयइ = अतिशय-छायायुक्त

अउव्व = अपूर्व

अकयत्थ = अकृतार्थ

[अ] क्करिस = उत्कर्ष

[अ] क्खर = अक्षर

अक्खि = अक्षि, आँख

अगर = अगुरु

[अ] ग्ग = आगे, अग्र

[अ] ग्गि = आग, अग्नि

अग्गीहर = अग्निवर

अचिंतिय = अचिंतित, सहसा

अच्चरिय = आश्चर्य

अच्चहिय = (१) अत्यधिक (२) अत्याहित

अच्छ = अस् = है

[अ] च्छि = अक्षि, आँख

अज्ज = आज

अट्ठ = आठ

अण = अन, निषेधार्थक

अणकिय = बिना किए

अणरइ = अरति, बेचैनी

अणरसिय = अरसिक

अणरुइ = अनिरूपित ! बिना विचारे

अणक्खर = अनक्षर, मूर्ख, निरक्षर

अणंग = अनंग

अणंतु = अनंत

अणल = अनल, आग

अणाइ = अनादि

अणुअंचि = खींचकर

अणुराय = अनुराग

अणुराइय = अनुरागी

अणुसरिय = अनुसरण किया

अणेग = अनेक

[अ] त्त = आर्त्त

अत्थ = अर्थ

अत्थम = अस्तमन, अस्त
अत्थमण = अस्तमन
अद्ध = (१) आधा, (२) अध्व, मार्ग
अद्धावट्टय = अर्द्धावर्तित, आधा
घेरा हुआ
अन्न = अन्य
अन्नइ = और भी
अप्प = (१)अर्पण, (२)अपना(आत्मन्)
अबुह = अबुध-मूर्ख, बुद्धिहीन
अबुहत्तण = अबुधत्व, मूर्खता
अब्भिंतर = अभ्यंतर
अमंगल
अमल
अमिय = अमृत
अमियमय = अमृतमय
अंबर = आकाश, वस्त्र
अंबुहर = अम्बुधर, बादल
अम्हारिय = हमारी
अरमणीय = आरा, करपत्र
अरविय = अरविंद, कमल
अरु = और
अरुण = लाल
अलंकरण = अलंकरण, प्रसाधन
अलय = अलक, केश
अलहंत = लाभ न कर पाते हुए
अलिय = अलीक, व्यर्थ
अलिक्कय = असत्य, व्यर्थ
अवत्थ = अवस्था
अवर = और, अपर
अवलोइय = अवलोकित
अवलोयण = अवलोकन
अवसु = (१) अवश, (२) अवश्य
अवहारि = सुनो
अस = आशा
असंचर = असंचरणशील, जहाँ आना
जाना बन्द हो गया है।
असमत्थ = असमर्थ
असहंतिय = न सहन कर पाती हुई
असुह = असुख, दुख
असेस = अशेष, सम्पूर्ण
असेविय = असेवित, रहित
असोय = अशोक
अह = अथ, इसके बाद
अहर = अधर
अहव = अथवा
अहिणवियइ = अभिनय किया जाता है
अहि = साँप
अहिय = अधिक

**आ**

आइ = (१) आदि, (२) आई
आइयय = आया
आइन्निहि = सुनते हैं = आकर्णयंति
[आ] उन्निय = आपूर्णित = भरा हुआ
[आ] उल = आकुल
आउह = आयुध
आएसियउ = आदिष्ट, आदेशित
आकंखिरिय = आकांक्षावाली
आकंतिय = आक्रान्त
आकोयण = आकोचन, फैलाव
आगइ = आगे
आगम = आगमन
[आ] डंबर = आडंबर, दिखावा
[आ] णण = आनन, मुख
आणि = लाकर

अभंगियइ=अभ्यंग = मालिश की जाती है।
आइय = आया
आयण्णहि = सुनते हैं या आकृष्ट करते हैं।
आयर = आदर
आलय = नीड़
आलंकियय = अलंकृत
आलसि = आलस्य
आलिंगण = आलिंगन
आवट्टय = आवर्तित = पेरा हुआ (इक्षु-रस)
आवरिय = आवृत, ढका हुआ, घिरा हुआ
आवलइ = आकुल
आविहसि = आओगे
आस = आशा
असणय = आसन
आसंगि = शयनकक्षमें
आसन्न = निकट
आसास = आश्वासन
आसीस = आशीष
आहरण = आभरण

इ

इंदीवर = नील कमल
इंदोअ = इन्द्रगोप
इअ = इव
इय = यह
इकट्ठ = इकट्ठे
इक्कति = एकही, एकत्र
इकलिय = अकेली
इक्क = एक
इक्कि्क = एक एक
इक्खु = ईख
इच्छ = इच्छा
इणि = इस
इत्थंतरि = इसी बीच
इम = इस प्रकार
इहु = यह
ईसरसरि = काम पीड़ित स्वरमें; ईसर = कामदेव

उ

उक्कंखिरिय = उत्कंठिता
उक्कंठ = उत्कंठा
उक्कर = उत्कर, समूह
उक्किंख = उत्कांक्षा, आकांक्षा
[उ]ग्गउ = उद्गम
उग्गिलंत = उगलता हुआ
उच्चरहिं = उच्चारण करते हैं
उच्छल = छलकता हुआ
[उ] छित्त = उत्क्षित
उज्जगउ = जागरण
उज्जल = उज्ज्वल
उज्जाण = उद्यान
उट्ठंत = उठते हुए
उट्ठिय = उठी
उड्डीणउ = उड़ते हुए
उणंदीयइ = उनींदी,
उत्तट्ठिया = उत्त्रस्ता
उत्तंग = ऊँचा
उत्तरायण
उत्तावलय = उतावला
उद्धसिय = धँसे हुए
उन्नय = उन्नत

उन्नमियय } उन्नमित, उनये हुए
उन्नवियय }

उन्हय = उष्ण

उन्हत्त = उष्णत्व

उप्पत्ति = उत्पत्ति

उव्विंब्बिर = फीका

[उ] ब्भव = उद्भव

उमुक्क = उन्मुक्त

उरुन्न } अधिक रोए, रुँआसे
उरुन्नय }

-उल = कुल

उल्लिहइ = लिखती है, कुरेदती है

उल्हावयरु = विध्मापक, धौंककर प्रज्वलित करनेवाला

उवभुंजहि = भोग करते हैं

उवर = उदर

[उ] वरि = ऊपर

-उव्व = पूर्व

उव्विन्न = उद्‌विग्न

उवम = उपमा

उवेउ = उद्वेग

उससंतिया = उसाँसें लेती हुई

उसास = उच्छ्वास

**ए**

एय = यह

एग = एक

एम } इस प्रकार
एरिस }

एह } यह
एहु }

**ओ**

ओयरइहि = उपवरक, ओबरी (अवधी और भोजपुरी)

ओस = ओस

ओससिउ = (१) ओससिक्त, (२) उच्छ्वसित

ओसारिय = उत्सारित, हटाए गए

**क**

कंटअ = कंटक, काँटा

कंठ

कंखिरि = आकांक्षावाली, इच्छा करती हुई

कंत

कंति = कांति

कंदप्प = कंदर्प, कामदेव

कंदुट्ट = नीलकमल

क = कौन, कोई

कुवि = कोई भी

किंपि = कुछ भी

किवि = कुछ, कुछ भी

कावि } कोई, कोई भी
कापि }

कइयलग्गि = कबसे

कओल = कपोल

कयवर = कृतिकर, मायावी, नट

कज्ज = कार्य

कट्ठ = कष्ट

कठिण = कठिन

कडयडवि = कड़कड़ शब्द करके

कडक्ख = कटाक्ष

कड्ढिय = काढ़ा, निकाल लिया

कण = कन, कण

कणय = कनक, स्वर्ण

कपूर

कम = क्रम, पद

कम्म = कर्म

कर = करना
कर = हाथ
कर = किरण
करयल = करतल
करप्पियइ = करपत्र (आरा) से चीरा जाता है।
करल = पगडंडी ? कुर्वर, काला
करवत्त = करपत्र, आरा
करि = हाथी
कलयंठि = कलकंठी, कोकिल
कलिज्जहि = सुंदर लगते हैं
कली = कलिका
कल्लोल = तरंग
कवण = कौन
कवाल = कपाल
कवालिय = कापालिक
कवित्त = कवित्व
कसिण = कृष्ण,
कहणह = कहने के लिये
कहणु = कहने के लिये
कह = कहा, कथा
कहव = किसी प्रकार
कहि = कहीं
काँइ = क्यों, क्या
काय } काया, शरीर
काइ }
काम = कामदेव
कामिणि = कामिनी
कामिय = कामी
कारंड = मण्डल, नीड़
कारुन्न = कारुण्य
काल = समय



कालंगुलि = कनिष्ठिका उँगुलि
कावालिय = कापालिक
कावालिणि = कापालिनी
काहल = वाद्य
किं = क्या, क्यों
किंकिणि =
किम् = क्यों, क्या, कैसे
किरि = किल, निश्चयात्मक अव्यय
किसण = कृष्ण, काला
किसलय =
किहु = कुछ
कीर = तोता
कंडवाल = मण्डल
कुंडलिय = कुंडलित, मण्डलाकृत
कुंकुम =
कुंज = क्रौंच
कुंजर = हाथी
कुंदचउत्थि = कुंदचतुर्थी
कुकवित्त = कुकवित्व
कुट्ट = प्रहार
कुडिल = कुटिल
कुण = शब्द करना, कूत्रना
कुप्पास = कूर्पासक, चोली
कुरंगि = हिरनी
कुवइ = कोप करती है।
कुसुमसर = कुसुमशर, कामदेव
कुहर = गर्त, गड्ढा
केलीहर = केलिगृह
कोयंड = कोदंड, धनुष
कोइल = कोकिल
कोऊहल = कौतूहल
कोलिय = कौलिक, तंतुवाय, कोरी

कोसिल्ल = उपहार, (देशी ना० मा०)

## ख

खंभाइत्त = खंभात, स्तम्भतीर्थ
खज्जोय = खद्योत, जुगनू
खट्टंग = खट्वांग, चारपाई का पैर, कापालिक की एक धारणीय वस्तु
खण = क्षण
खयहि = क्षीण होती है
खर = प्रखर, तीव्र
खल = (१) दुष्ट, (२) स्खलन, (३) खली
खाम = क्षाम, दुर्बल
खामोयरिय = क्षामोदरी, दुर्बल पतली कटिवाली
खार = क्षार
खिज्ज = खीजना
खिन्नि = खिन्ना
खिल्लंतय = क्रीड़ा करते हुए
खिय = क्षीण करना
खित्त = क्षिप्त
खिसिय = खिस पड़ा, गिर पड़ा
खुवइ = दूर करती है
खेअ = खेद

## ग

गंठि = गाँठ
गंड = गंडस्थल
गंधक्करसि = गंधोत्कर्ष
गंधमोअ = गंध आमोद
गंधवहि = गंध वहन करनेवाला, सुगंधित
गय = गत, गति
गयण = गगन
गग्गिर = गद्गद्
गज्ज = गर्जना
गण = गिनना
गम = गमन
गरिट्ठ = गरिष्ठ, श्रेष्ठ
गरुअय = गुरु, भारयुक्त, बड़ा
गलत्थिय = गले में स्थित
गल = गलना
गहिवि = पकड़कर
गहिल्लिय = ग्रथिला, गहेलरी
गाढ़य = गाढ़ा
गाह = गाथा
गिज्जइ = गाया जाता है
गिंभ = ग्रीष्म
गिम्ह = ग्रीष्म
गिर = गिरा, वाणी
गीय = गीत
गुरु = बड़ा
गुहिर = गंभीर
गोयंगण = गोपांगनायें, (२) गौओं का समूह
गोआसण = गवासन, गोशाला
गोवर = गोपुर
गोस = प्रभात

## घ

घडिय = घटित, बना हुआ
घण = घन, सघन, मेघ
घणसार = कपूर
घरणिय = घरनी, स्त्री
घल्लिय = डाली हुई, क्षिप्ता
घुट्टिवि = घोंटकर, पीकर

घुरहुरइ = घोर गर्जन करता है, घुरघुराता है।

घुसिण = घुसृण, केसर-कुंकुम

**च**

चंपएल = चंपकतैल

चंब्राय = चमड़े का जूता ?

च = और

चइवि = त्यागकर, छोड़कर

चउक्कय = चतुष्क, चौक

चउग्गणी = चौगुनी

चउदिसि = चारों दिशाओं में

चउवेइ = चौबे, चतुर्वेदी

चक्कावट्ट = चक्रावर्त, चक्र की तरह गोल आकार का

चच्च = चर्चित करना

चच्चरि = चर्चरी

चड् = चढ़ना

चमक्कय = चमत्कृत

चमक्करि = चमत्कृत कर देनेवाली

चलंति = चलती हुई

चलिय = चली

चलण = चरण

चलत्थ = अश्वशाला ?

चल्ल = (१) कटिवस्त्र, (२) चंचल

चवण = चर्वण, दशनखंडन

चाइहिं=त्यागियों द्वारा

चावइ = चातकी

चिक्कण = स्निग्ध, चिकना

चित्त = चित्त, चित्र, विचित्र

चिंतिय = चिंतित, विचारा

चिरग्गउ = चिरगत, जिसे गए बहुत दिन हो गए हों

चुंबणु = चुंबन

छड्ड = छोड़ना

छण = क्षण

छन्नउ = छन्न, प्रच्छन्न, ढका हुआ

छम्मयल = क्ष्मा, पृथ्वीतल

छय = क्षत

छायंती = ढकती हुई

छायउ = ढँका

छार = क्षार, राख, कोयला

छावड = चपेटा, थप्पड़

छित्त = क्षिप्त

छिद्द = छिद्र, अवसर

छिहंतु = छूते हुए, स्पर्श करते हुए

छुद्ध = क्षुब्ध, क्षिप्त

छेअरिहि = विदग्धों द्वारा

**ज**

जं = जब तक, जो, यदि

जंघि = स्त्री

जंप = कहना, बकना

ज = यदि

जइ = यदि

जइवि = यद्यपि

जइयकालि = जिस काल से, जिस समय से

जग्गंत = जागते हुए

जज्जरिय = जर्जरित

जडिअ = जटित, जड़ा हुआ

जण = उत्पन्न करना, जनना, व्यक्ति

जणण = जनक, उत्पन्न करनेवाला

जणु = जानो

जत्थ = यत्र, जहाँ

जम = यम

जम्म = जन्म
जल = जलना, ज्वाला, नीर
जा = जाना
जाईहल = जातीफल, जायफर
जागंतिय = जागती हुई
जाण = जानना, ज्ञान
जाम = जब तक
जामिणि = यामिनी
जालंधरि = कदली
जि = एव, जो
जिण = जीतना
जिणण = जीतनेवाला
जिण्ण = जीर्ण
जिम = जैसे, ज्यों
जिह = जिसको, जिसमें, जो
जीय = जीव, प्राण
जीव = जीवित रहना, जीना
जीह = जीभ
जुय = युग
जुयल = युगल, दो
जुत = युक्त, उचित
जुन्न = जीर्ण
जुन्ह = ज्योत्स्ना, जुन्हाई
जुवाण = जवान
जेम = जैसे, जैसा
जोय = देखना
जोयण = योजन
जोइक्ख = ज्योतिष्क, दीपक, तारा

**झ**

झंखड = झंक्खर, आँधी
झंप = ढँकना
झंखर = शुष्क तरु
झड़ि = झड़ी वर्षा की
झत्ति = झटिति, फौरन्
झर = झरना
झल = मृगतृष्णा, झलकना, ज्वाला
झलक्क = झलकना, ज्वलित
झसुर = पान, नागवल्ली
झाल = ज्वाला
झिज्झ = क्षीण होना
झीण = क्षीण
झुण = ध्वनि करना
झुणि = ध्वनि
झूर = बिसूरना, सूखना, क्लेश पाना
झुल्ल = झूलना

**ठ**

ठा = ठहरना, स्थिर होना
ठाइ = स्थान

**ड**

डज्झ = दहना, जलना
डसन = दंशन, दाँत

**ढ**

ढंखर = शुष्क वनस्पति
ढुक्कय = पहुँचा, ढुका

**ण, न**

ण = न
णं = न, मानो
णहु = नहीं
णयण = नयन
णयर = नगर
णक्कंत = (१) नाक तक, (२) रात्रितक
णच्च = नृत्य करना, नाचना
णज्जइ = ऐसा मालूम होता है मानों
णट्टणिय = नटिनी, नर्तकी

णड = नट
णट्ठ = नष्ट
णत्थि = नहीं है
णंदीयइ = निद्रा आती है
नलचरिय = नलचरित
नव = नवीन
णवजुव्वणी = नवयौवना
णह = (१) नख, (२) नभ
णहवल्लिय = नभवल्ली, बिजली
णाइ = मानों
णाय = नाग
णायर = नागर, नागरिक
णाम = नाम
णारि = नारी
णाव = नौका, नौ
णाविय = नहीं आया
णाह = नाथ
णाहि = नाभि
णिअ = निज
णिअत्तय = निवृत्त
णिओइय = नियोजित
णियय = नियत
णिय = देखना
णियंसण = शिरोवस्त्र
णिग्गय = निर्गत, निकला हुआ
णिग्गम = निर्गम, निकलना
निग्घिण = निर्घृण, निर्दय
णिच्च = नित्य
णिट्ठुर = निष्ठुर
णित्तु = नित्य
णित्त = नेत्र, रेशमी वस्त्र
णिद्दय = निर्दय
णिद्दयर = निर्दयतर
णिद्दोस = निर्दोष
णिद = निद्रा
णिन्नासण = नाशक
निन्नेह = निस्नेह, कठोर
णिबद्धय = निबद्ध
णिब्भय = निर्भर
निभंति = निर्भ्रान्त-भ्रमहीन
णिमिस = निमेष
णिमिसिद्धु = आधा निमेष
णिम्मल = निर्मल
णिम्मविय = निर्मित
णिरक्खर = निरक्षर
णिरंतरिय = निरन्तर, बिना अंतर के, सघन
निरवक्खि = निरपेक्ष
णिरु = निश्चित, नितांत
निलय = निवास
णिवड = निबिड़, निपट
णिवडब्भर = निपट उभरे हुए
निवडंत = गिरते हुए
निवह = प्रवाह
णिवेहिय = निविष्ट
णिवसियय = प्रवसित
निस = निशि, रात
णिसायर = निशाचर
णिसुण = सुनना
णिस्साहार = निस्साधार, बेसहारा
णिहइ = निहारती है, देखती है।
णिहि = निधि
णिहुय = निभृत, भरपूर, एकान्त भाव से

नीरहर = बादल
नीसरइ = निकलता है, निकले
नीसास = निःश्वास
णेय = (१) नहीं (२) आरोपित
णेह = स्नेह
णेवर = नूपुर

त

तं = तब, उसको, वह
तंडव = तांडव
तंतु = तब तो, या तत
त-, तइय, तउ } = तब
तक्खर = तस्कर
तग्ग = सोचना, विचारना, (२) तागा तागना
तग्गमि = उसके जाने पर
तज्ज = तरजना
तड = तट
तडयड = तड़तड़ शब्द
तडक्क = तडतड़ करके
तडिनय = तड़ से
तण = तन, शरीर
तणि = सम्बन्धवाचक अव्यय उ० मइ-तणि = मेरी
तत्त = तप्त
तत्तक्खण = तत्क्षण उसी क्षण
तरणि = सूर्य
तरंगिणि = नदी
तवणतित्थ = तपनतीर्थ, सूर्यतीर्थ
तव = तपना
तवण = तपन, सूर्य
तह = वहाँ, तथा

ता = तब,
ताकं = ताकना, सोचना
ताकं = तब क्या
ताडंक = ताटंक, कान का आभूषण
तामिच्छ = कज्जल
ताराहिवइ = चन्द्रमा, ताराधिपति
तारायण = तारागण
ताल = तालाब, ताली
ताव = तब तक, उसी समय
तिउर = त्रिपुर
तिक्ख = तीक्ष्ण
तिडइ = तिड़कती है, टूटती है
तिण = तृण
तिप्पंति = तृप्त होते हैं
तिम = वैसे, त्यों
तिरच्छ = तिरछा
तिलय = तिलक
तिलक्कवि = तिलक लगाकर
तिवल = त्रिवली
तिव्व = तीव्र
तिहुयण = त्रिभुवन
तीय = तीसरा
तुट्टइ = टूटती है
तुट्टी = टूटी
तुंग = ऊँचा
तुंबर = तम्बूरा, देवताओं की सभा का गायक
तुरक्क = तीक्ष्ण
तुरंगम = अश्व
तुरिय = शीघ्र, त्वरित
तुल्लय = तुल्य

तुसार = तुषार
तुहिण = तुहिन
तुहु = तुम
तूर = तूरा, तूर्य
तेय = तेज
तेम = उसी प्रकार
तो = तब
तोड = तोड़ना

**थ**

थक्किय = स्थित
थड्ढ = स्तब्ध
थण = स्तन
थणवट्ठ = स्तनपट्ट
थरहरिय = काँपी, थरथराई
थिय = स्थित
थिर = स्थिर
थूल = स्थूल
थोर = स्थूल, मोटे

**द**

दंसिउ = डँसा, दंशित
दइय = दयित, प्रिय
दयवर = द्विजवर
दक्खिण = दक्षिण
दड्ढ = दग्ध
दद्दुर = दादुर, मेढक
दप्प = दर्प
दर = थोड़ा, स्तोक
दरसिज्जइ = दिखलाई पड़ता है।
दरसिय = दिखलाई पड़ा, देखा
दलियइ = दला जाता है
दव = दावाग्नि
दविण = द्रव्य
दसण = दशन, दाँत
दहइ = जलाता है।
दह = ह्रद, सरोवर
दा = देना
दारय = दारक, स्त्री
दियह = दिवस
दिणपहु = सूर्य, दिनप्रभु
दिणबिंब = सूर्य
दिणसेस = दिनशेष, अस्त
दिट्ठ = दीखा
दीउन्ह = दीर्घोष्ण
दीयइ = दी जाती है, विदीर्ण होती है (दीर्यते)
दीव = दीप, द्वीप
दीवयर = दीपकर, प्रकाशक
दीवालिय = दीपावली
दीस = दीखना
दीह = दीर्घ
दुक्कर = दुष्कर
दुक्खित्त = दुःखार्त्ता
दुक्खिन्निया = दुःखाकीर्णा
दुग्ग = दुर्ग, दुर्गम
दुग्गच्चिय = दुर्गति में, बुरे दिनों में
दुच्चिय = दोनों (अवस्थाओं) में
दुत्तर = दुस्तर
दुद्धर = दुर्धर
दूअ = दूत

**ध**

धण = धन, गोकुल, (२) धन्या (स्त्री)
धणु = धनुष
धन्नय = धन्य, धन्या
धम्मिल्ल = जूड़ा

धयरट्ठ = धृतराष्ट्र, हंस
धर = पकड़ना, धरना, रखना
धर = धरा
धरति = धरती
धवल = श्वेत
धवलहर = धवलगृह, धौरहरा
धार = धारा
धिट्ठ = ढीठ
धीर = धैर्य रखना
धीरवइ = धैर्य दिलाता है
धूइण = धुँये से
धुय = ध्रुव, निश्चय
धुक्खंतिय = धुकधुकाती हुई
धुत = धूर्त
धूइज्जइ = धूप से सुगंधित किया जाता है, धूपित किया जाता है।
धूम = धुँआ
धूव = धूप

## प

पंडिय = पंडित
पंडित्त = पांडित्य
पतंग = पतंग (कीट)
पंकिय = पंकित
पंखुडिय = पंखुडित, जिसकी पँखुड़ियाँ फैल गई हैं
पंगुरण = वस्त्र
पंचम = पंचम स्वर
पंथिय = पंथी, पथिक
पउरिसु = पौरुष
पमण = बोलना, कहना
पमाण = प्रमाण
पमुक्किय = प्रमुक्त
पयोहर = पयोधर
परएस = परदेश
परव्वसी = पराये वश में, परवशा
परिखंडन = पूर्ण खंडन, पूरी तरह टूट जाना
परिखिल्लरीहिं = खेलती हुई, हिलाती हुई स्त्रियों के द्वारा
पक्खित्तिय = प्रक्षिप्ता, फिंकी हुई
पच्चक्ख = प्रत्यक्ष
पच्चल्ल = चिनगारी
पच्चूस = प्रत्यूष
पच्छुलाणिय = पछताई, पछतानी
पज्जलंत = जलती हुई
पड = गिरना
पटह=पट (वाद्य)
पडुत्त / पडिउत्त = प्रयुक्त, प्रवृत्त
पडुंज / पडिउंजि = भेजकर
पडिबिंबय=प्रतिबिंब
पडिभिन्न=प्रतिभिन्न, क्षत
पडिल्लिय=और तेज, परले
परिगमिअय = बिल्कुल चला, गया परिसमाप्त
परिग्गह=परिग्रह
परिघोलिर=घूर्णित हुई, हिलाती हुई
परितवइ = परिताप उत्पन्न करता है
परिभमंति=घूमती हैं।
परिभमण=परिभ्रमण
परिवरिउ=परिकृत
परिबसइ=बैठती है, वास करती है।
परिवाडि = परिपाटी

परिहरवि=छोड़कर
परिहव=पराभव
परिहसु=परिहास
परिहिंसियहिं=दुःख देते हैं, कष्ट देते हैं।
परुप्पर=परस्पर
पल=मांस
पलट्ट=पलटना, लौटना
पलास=वृक्ष-विशेष, (२)मांसभोजी राक्षस
पलित्त=प्रज्वलित
पलित्थिहि=पर्यस्त
पलुट / पलुट्ट = लोटना, पलटना, लौटना
पलोइय=प्रलोकित, दिखलाई पड़ा
पल्लंघ=पलँग
पवन्न=प्राप्त
पवर=प्रवर, श्रेष्ठ
पवस=प्रवास करना
पवह=बहना
पवाल=प्रवाल
पवास=प्रवास
पवाह=प्रवाह
पवित्थरण=विस्तार करनेवाला या करने के लिए
पविस = प्रवेश करना
पसंग=प्रसंग
पसर=फैलना
पसिज्ज=पसीजो, द्रवीभूत हो
पसिद्धय=प्रसिद्ध
पसुप्पइ=सोया जाता है।
पह=पथ
पहय=प्रहत, आहत
पहंजण=प्रभंजन
पहराविय=जिस पर प्रहार किया गया है।
पहल्लिर=हिलते हुए
पहु=प्रभु, स्वामी
पहुत्त = पहुँचकर
पाइ=पापी
पइय=प्राकृत
पाउस=पावस
पायार=प्राकार
पाली=पालनेवाली, धात्री
पाव=पाप
पावयणमण=पाने के लिये मनवाली, (पथिक के पास) पहुँचने की इच्छावाली
पावास=प्रवास
पावासुय=प्रवासी
पास=पाश
पासाहण=प्रसाधन
पिक्ख=देखना
पिज्जइ=पिया जाता है
पिम्म=प्रेम
पिंग=पीत
पीण=पीन, पुष्ट
पीसियइ=पीसा जाता है।
पुक्खर=(१) पोखरा, (२) पुष्कर मेघ
पुण पुणवि=फिर-फिरकर, बार-बार
पुणन्नवय=पुनर्णव ?
पुनरुत्त=बार बार
पुंछिय=पोंछा
पुन्निय=पूर्ण हुई
पुप्फ=पुष्प
पुरउ=सामने

पुव्व=पूर्व
पूरिय=पूरी
पेसिय=प्रेषित, भेजा हुआ
पेसिज्जइ=देखा जाता है

फ

फंस=पोंछना
फणिंद=फणीन्द्र, सर्प
फरस=परुष, कठोर
फलसेवि=फल का सेवन करके या करनेवाले
फलहार=फलों का भार
फिर = फिरना, घूमना
फुट्टय = फूटा हुआ
फुड } स्फुट, स्पष्ट, सत्य
फुर
फुलिंग = स्फुलिंग
फुल्ल = फूल
फोफल = पूगीफल

ब, व

बंक = वक्र, टेढ़ा
बंध = प्रबंध, काव्यबंध
वंस = बाँस, वंश
बग = बगुला
बह्मजुय = ब्रह्मा का युग
बलइ = जलता है
बहिरयेति = बहरा कर देते हैं
बहुरूपि = बहुरुपिया
बालय = बालक
बाह } = बाहु
बाहडि
बाहिरि = बाहर
बिम्बाहरि = बिंबाधरी
बिरुड = भिड़, बर्र
बुद्धय = जगा हुआ, प्रबुद्ध
बुह = बुध, विद्वान्
बुहयण = बुधजन
बुहत्तण = बुधत्व, पांडित्य
बे = दो
बोल = (१) बिताना, (२) डुबोना, बोरना
बोलावियउ = बोलाई (भाषा) गई
व = इव
वयण = वचन, वदन, मुख
वयणिज्ज = वचनीय
वक्खर = उपस्कर, बखरी,
बखाणियइ = बखाना जाता है
वच्च = जाना
बज्ज = वज्र
वज्जंतय = बजते हुए
वज्जिय = वर्जित, रहित
वज्जर = कहना
वट्ट = { स्थित होना, रहना, भोजपुरी बाटै
वट्टिय = { रास्ता, वर्त्मन् , बाट व्याप्त, आच्छादित, घायल
वड्ढ = बढ़ना
वणिज्जइ = व्यापार करता है
वण्ण = वर्ण, रंग, अक्षर
बद्दल = बादल
वरत्थणि = वरप्रार्थिनी कुमारियाँ
वरसरि = सुन्दर नदियाँ
वरक्किय = पटी, बुर्का (?)
वरसंतिय = बरसाती हुई
वरिस = वर्षा

वल = जलना, लौटना
वलय = मण्डल, वर्तुल
बलाहय = बलाहक, बादल
वलियडय = वलय, चूड़ियाँ
वल्लह = प्रिय
वव्वीहय = पपीहा, चातक
वम्मह = मन्मथ, कामदेव
वस = वश
वहइ = ले जाता है, बहता है—
वहिय = बधित
वाइ = वायु
वाउलिय = बावली
वायंतय = बजते हुए
वासिय = वासित
वाह = प्रवाह
वि = अपि
विअक्खण = विचक्षण
विअड = विकट
विअडबंध = विकट बंध (छंद)
विअड्ढ = विदग्ध
विअड्डुल = नपुंसक
विअस = बिकसना, खिलना
विआस = विकास
विउय = वियोगी
विउद्धी = जगी, विबुद्धा
विउणय = दुगना
विएस = विदेश
विओय = वियोग
विओइरिय = वियोगिनी
वियंभिय = (१) विजृम्भित, (२) वह जिसने जँभाई ली है। (बढ़नेके अर्थ में)
विग्घिण = विघ्नकारक
विचर = घूमना, विचरना
विचित = विचित्र
विच्छाइय = बिछाया
विज = विद्या, जानकर
विज्जंभ = जँभाई लेना
विज्झंति = बिंधते है।
बिडंब = कष्ट देना, विडम्बना करना
विणय = विनय
विणग्गय = निकला हुआ, विनिर्गत
विणोअ = विनोद, क्रीड़ा
वित्त = वृत्त, छंद
विद्दरवि = विदीर्ण होकर
विदुम = विद्रुम
विद्धी = विद्धा
विन्नि = दो
विप्फुरंत = विस्फुरित करते हुए
विबुह = विबुध, विद्वान्
विंभिड = विस्मित
विंभविय = आश्चर्यान्वित, विस्मित किए गए हुए
विंभल = विह्वल
विरत्त = विरक्त
विरहग्गि = विरहाग्नि
विरहायण = विरहायण
विरामे = समाप्ति पर
विलग्गिवि = अलग होकर
विलत्तय = विलिप्त
विलवेति = विलपती हुई, विलाप करती हुई
विलसियय = विलास किया
विलुल = गिरना, भूमि पर लोटना

विवरीय = विपरीत, उल्टी
विवहि = विविध
विस = (१) विष, (२) कमलनाल
विसम = विषम
विसंठुल = विसंस्थुल, ऊबड़-खाबड़ व्याकुल
विहल = विह्वल
विहलंघल = विह्वलांगी
विहसंती = हँसती हुई
विहाणिय = बिहान, प्रभात (हुआ)
वीसरइ = बिसर जाय.
वुल्लीण = बीता
वेय = वेद
वेयण = वेदना
वेसि = वेश में
वेसा = वेश्या
वेसावाडय = वेश्या वाट, वह बाजार जिसमें वेश्यायें रहती हैं।
वोमयल = व्योमतल
बोल = बिताकर
बोलंत = बोलती हुई

भ

भंग = भग्न, व्यथा
भंज = टूटना
भत्ति = भक्ति
भम = भरमना
भम = भ्रम
भमुह = भौं
भर = भरना
भर = भार
भरह = भरतमुनि द्वारा नियमों के अनुसार गाते या नाचते हुए
भाइयइ = भाता है।
भाय = भाव
भाउल = प्रभाकुल
भारह = महाभारत
भालयल = भालतल
भास = कहना, व्याख्या करना
भिट्ट = भेंटना, प्राप्त करना
भिस = विस, कमलनाल
भीड = भीड़
भुअंग = भुजंग
भुवणुप्पर = भुवन (घर) के ऊपर
भेय = भेद
भेसिय = त्रस्त ?

म

मंगलु = मंगल
मंजरि = मंजरी
मंडल = घेरा, प्रदेश
मंडिय = मंडित
मंथर = धीमा
मइ = मति
मइरद्धय = मकरध्वज, समुद्र, कामदेव
मय = मद
मयउ = मृगव्यु, शिकारी
मयणु = मदन, शहद का मोम
मयण अग्गि = मदनाग्नि
मयणमणह = काम में लगे हुए मन वालों के लिये।
मयणवट्ट = मदनवर्त्म, कुचस्थल
मयरद्धय = कामदेव
मयूह = मयूख, किरण
मग्ग = मार्ग
मज्झ = मध्य, कटि
मज्झयार = मध्यम कोटि वाले

मण = मन
मणमत्थ = मन्मथ
मणहर = मनोहर
मणुजंमि = मनुष्य-जन्म (लोक) में
मन्नाय } मनाकर
मन्नाएवि }
मरणाअहिउ = मृत्यु से भी अधिक
मल्हिरय = लीलायित, लीलायुक्त
महमहइ = महकता है सुगंधि फैलाता है
महाविस = अत्यन्त जल से या महा-विषधरों से
महियल = पृथ्वीतल
महिल = महिला
महिलव = उत्सव ?
(गय) महिलव = गतमहोत्सवा
महीरुह = वृक्ष
महुयर = मधुकर
महुमास = मधुमास
महुरयर = मधुरतर
मा = अँटना, समाना, अमाना
माहप्प = माहात्म्य
मिअणाहि = मृगनाभि
मियच्छि = मृगाक्षी
मियनयण = मृगनयना
मिल्ह = छोड़ना, त्याग करना
मुंध = मुग्धा
मुइय = मृत
मुक्ख = मूर्ख
मुच्छ = मूर्छित होना
मुण = मन में विचारना, जानना
मुत्तिय = मौक्तिक
मुद्ध = मुग्धा
मुरय = मुरज वाद्य
मूल = मूलधन
मूलत्थाण = मुलतान
मूँदडउ = मुँदरी
मेह = मेघ
मेहल = मेखला
मोड = मोड़ना

य

य = और (च), जो
-यण = गण, जन
-यर = कर (करनेवाला)
-यल = } दल
तल

र

रंग = अनुराग, आनंद
रंगियइ = रँग लिया जाए
रंजियय = रंजित
रइ = रति
रइय = रचित
रउद्द = रौद्र
रय = (१) रत, (२) रव (शब्द)
रयण = रत्न
रयणि = रजनी
रयहर = रतिगृह
रच्छ = गली, रथ्या
रड = रटना, शब्द करना
रणरणय = (दुःख) अनुभव हुआ
रत्त = रक्त
रत्थि = रथ्या, गली
रन्न = अरण्य, वन, स्थल
रम = रमना
रमण = नितंब

रमणि = रमणी
रवन्नव = रमणीय
रविंद = अरविंद
रस = (मधुर) शब्द करना, बोलना
रसणा = रशना, करधनी
रसिय = रसिक
रह = रहना, शोभित होना
रहंग = रथांग, चक्रवाक
रहस = रभस, उत्तेजना
रहसच्छल = अति शीघ्रतापूर्वक, जल्दबाजी में
रहिय = रहित
राअ = राग, अनुराग
राईव = राजीव
रायमराल = राजमराल
राय = राग
रास = नृत्यविशेष
राह = राहु
रिउ = (१) रिपु, (२) ऋतु
रिउणाह = ऋतुनाथ वसंत
रिक्ख = तारे, ऋक्ष
रिल्ल = रेला, प्रवाह
रिसिय = ऋषि
रूअ = रूप
रुणझुण = रुनझुन शब्द
रुन्नु = रोई
रुन्नय = रोदन
रुव = रोना
रेह = शोभित होना, राजना
रेह = रेखा

ल

लंबिय = लम्बी
लइ = लय, भाव
लय = लता
लक्खण = लक्षण
लच्छि = लक्ष्मी
लज्ज = लजाना
लद्ध = प्राप्त
ललियहीण = लालित्यहीन
लव = लेना, लाभ करना (?)
लह = लेना
लहलह = लहलहाना
लाय = लगाना
लाह = लाभ
लिह = लिखना, उरेहना
लिह= चाटना
लीलंतिय = लीला करती हुई
लुद्ध = लुब्ध, लोभी
लुल = लिप्त
लुल = भूमि पर लोटना
ले = लेना, ग्रहण करना
लेव = लेपन करना, लेपना
लेह = लेख
लोउ = लोग, लोक
लोयण = लोचन
लोह = लोभ
ल्हसिय = जिसका ह्रास हो गया है

स

सं = सम्यक्, भली भाँति
संकास = निकट, कास (वनस्पति) सहित
संख = शंख
संखेव = संक्षेप
संगहवि = पकड़कर

संचडिय = आरूढ़
संचरिय = संचलित
संजाणिवि = जानकर
संजणिय = संजनित
संजीवयर = जीवन देनेवाला, संजीवक
संझसिय = उत्क्षिप्ता, पागल
संठविय = संस्थापित
संताउ = संताप
सतोसिहइ = संतोष देगा
संपुन्न = सम्पूर्ण
सपुन्निय = भाग्यवती
संभरंत = स्मरण करती हुई
संभरिय = स्मरण किया
संभाणिय = सम्मानित
संमीसयइ = मिलाया जाता है।
संवच्छर = संवत्सर
संवर = (१) स्मरण करना, (२) रोकना
संसग्ग = संसर्ग
संस = साँसना, कष्ट देना
संसित = संसिक्त, भीगा
संसोसिय = बिल्कुल सोखी हुई, संशोषित
सइत्तिहि = सहित
सइवत्ती = शतपत्रिका, कमलपत्र
सउ = साथ, से, सों
सउणि = शकुनि, पक्षी
सउन्न = सम्पूर्ण
सकसाय = कषाययुक्त
सकुलिय = शष्कुलिका, कान के परदे
सक्क = सकना
सगग्गिर = गद्‌गद वाणी से
सच्चु = सत्य
सच्चविय = सत्य की भाँति,
मानो सच ही हो, सत्यापित (?)

सच्छ = स्वच्छ
सज्जिय = सजी, सज्जित
सज्झर =
सणेह = स्नेह
सत्थ = साथ, समूह
सत्थर =
सत्थरण } शय्या
सद्द = शब्द
सन्नद्धय = सन्नद्ध
सन्निह = निकट, संनिधि
सप्पुरिस = सत्पुरुष
सबर = शबर
सब्भय = सभय
सम = समान, साथ
समत्थ = समर्थ, योग्य
समत्थिम = सामर्थ्य
समरंत = स्मरण करती हुई
समरिय = सुमिरा, स्मरण किया
समा = समाना, अँटना
समाहि = समाधि
समुट्ठिय = उठी, समुत्थित
सय = शत, सौ
सयण = शयन
सयल = सकल, सब
सयवत्त = शतपत्र, कमलपत्र
सर = शर, सरोवर, स्वर, शरद्
सर = सरकना, चलना, स्मरण करना
सरय = शरद, सरस
सरयासरि = शरदश्री
सरलाइवि = सरल करके
सरिच्छ
सरिस } = सदृश, समान

सरिस = साथ
सरोसय = रोषयुक्त
सलज्जिर = लज्जावती
सलाइय = सलाई, शलाका
सलिलब्भव = सलिलोद्भव, कमल
सवण=(१) कान, (श्रवण), (२) चूना ( स्रवण )
सवसेय=वशीकृत, अपने वश में
सव्वि=सब
सवित्थर=सविस्तार
सविलक्ख=सविलक्षा, बिलखती हुई
सव्व=सर्व, सब
सव्ववार=सदैव, हमेशा
सस=श्वास लेना
सीस=चन्द्रमा
ससिवयणि=चन्द्रवदनी
ससिहर=चन्द्रमा, शशधर
सह=सहना
सहिय=(१) सखी, (२) सहा
सहार=सहकार, आम
सहीय=सखी
सा=वह ( स्त्री )
साइय=स्वामी का
सामलिम=कृष्णत्व, साँवलापन
सामिहि=स्वामी द्वारा
सारिच्छ=सदृश
सालूर=मेंढक
साव=सब
सास=श्वास
साह=साधना, कहना
साहार=सहारा
साह=शाखा

सिय=श्वेत
सियल=शीतल
सिक्खइ=सीखे, सीखता है
सिंगत्थि=सींगों के लिये
सिंगार=श्रृंगार
सिज्ज = शय्या
सिज्झ = साधना
सिंच = सींचना
सिणेह = स्नेह
सित्तय = सिक्त
सिंधुब्भव = सिंधूद्भव, चन्द्रमा
सिव = सब, से
सिवण = स्वप्न
सिसिर = शिशिर
सिसिरत्थ = शीतार्थ, ठंढक के लिये
सिहण = स्तन
सिहंडि = शिखंडी, मयूर
सिहर = शिखर
सिहरि = शिखरी, पर्वत
सीउ = शीत
सीयल = शीतल
सीयलंत = शीतल करते हुए
सीमंतिणिय = सीमंतिनी, स्त्रियाँ
सीसोवरि = शिर के ऊपर
सीहंड = श्रीखण्ड चन्दन
सु=वह
सुइ = शुचि, श्रुति
सुय = सुना हुआ, श्रुत
सुयण = (१) स्वजन, (२) स्वप्न
सुमरंत = स्मरण करतेहुए
सुण = सुनना
सुथिर = सुस्थिर

सुन्न = शून्य
सुन्नार = सुनार
सुम्मइ = सुना जाता है
सुरय = सुरत
सुरत्तय = सुरक्तक वृक्ष
सुरलोय = सुरलोक
सुरहि = सुरभि
सुललिय = सुललित
सुवियक्खण = सुविचक्षण, अति चतुर
सुविण = स्वप्न
सुसंत = सूखते हुए
सुह=सुख या शुभ
सुहय=सुभग
सुहाइयइ=सुख दिया जाता है।
सूडिय=टूटे हुए, झड़े हुए
सेय=श्वेत
सेरंधि=सैरन्ध्री, दासी
सेव=सेवा करना
सेस=शेष
सोअ, सोय = शोक
सोरंड=क्रीड़ाभाजन
सोह=शोभित होना
सोह=शोभा
सोहालय=शोभायुक्त

ह

हउ=हूँ, मैं
हय=हत
हत्थ=हाथ
हर=हरना
–हर=घर
हरसिय=हर्षित
हराविअ=हार गई, खो दिया
हरियंदण=हरिचंदन
हरियाउल=हरिताकुल
हरिस=हृष्ट, सुखी
हरिसुय=कामदेव, हरिसुत
हव=जलाना
हाम=घाम, धूप
हार=भार
हारलय=हारलता
हारिज्जइ=हारा जाए
हियय=हृदय
हिडंत=घूमते हुए
हिव=अब
हीय=खोया हुआ, हृदय
हीर=हीरा
हुय=हुआ, हुई
हुयण=भुवन
हुयास, हुआसण = हुताशन, आग
हेम=शीत, हेमंत